सहजानंद शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

भाग-2

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

प्रथम व द्वितीय भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७४ मूल्य १५)

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

oooOOooo

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

प्रवचनसार प्रवचन द्वितीय भाग

एस सुरासुरमणुसिद्धं वंदिदं धोयाघाइकम्ममलं ।
पणमामि वढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।।मंगलाचरण ।।

शुद्धात्मस्वरूपका वर्णन—परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द देव द्वारा विरचित प्रवचनसार ग्रन्थकी पहली १४ गाथावोंमें मुख्यतासे शुद्धोपयोग, शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगफलका वर्णन किया था। शुद्धोपयोग समस्त मोहक्षोभसे रहित निर्विकार चैतन्यके परिणमनको कहते हैं और जो ऐसा शुद्धोपयोग रूपसे परिणम रहा है वह है हमारा व्यवहारमें आराध्य आदर्श उत्कृष्ट आत्मा। ऐसे शुद्धोपयोग रूपसे परिणमनेका फल शाश्वत अविचल सत्य सुख है। आत्माका मुख्य स्वभाव चैतन्य है, चैतन्यके परिणमन २ प्रकारसे हैं—१ सामान्य प्रतिभास अथवा अन्तर्मुख चित्प्रकाश, २ विशेष प्रतिभास अथवा बहिर्मुख चित्प्रकाश। कोई भी गुण दो पर्यायोंसे नहीं परिणमता। इसलिये जब परिणमन भेदपर दृष्टि दी जावे तो गुण भेदकी दृष्टि अवश्य हो जावेगी, सो अन्तर्मुख चित्प्रकाशकी शक्तिका नाम तो दर्शन समझिये और बहिर्मुख चित्प्रकाशकी शक्तिका नाम ज्ञान समझिये। इन दोनों को चूंकि चेतन कार्य दोनों का है इसलिये चैतन्यमें गर्भित किया है। वस्तुतः आत्मा अभेदस्वरूप एक अखंड सत् है उसके स्वभावका विचार करने पर उत्तर आता है चैतन्यस्वभाव और उसका परिणमन देखने पर मिलेगा परिणमन प्रतिसमयमें एक एक। अब उस अभेदस्वरूपी आत्माको समझानेका उपक्रम किया जावे तो आत्माके अनेक सामर्थ्य और अनेक परिणमन को बतानेका आवश्यक उपाय किया जाता है। इस उपायको व्यवहारनयसे पर्यायों और गुणोंको विविध प्रकारसे समझ कर पर्यायोंको पर्यायोंके स्रोत गुणोंमें अन्तर्लीन कर दें और भेदरूप गुणोंको एक अभेद-स्वभावमें लीन करदें और अभेदस्वभावको स्वभावी वस्तुमें लीन कर दें, पुनश्च ऐसा पथिक भव्यात्मा सर्व विकल्प श्रमसे दूर होकर मात्र चित्प्रतिभासमय रहकर परम आनन्दका भोक्ता होता है। प्रारंभसे लेकर अन्त तक ज्ञान स्वभाव की परिणतियाँ होती रहती हैं। इन्हीमें संसार, संसारमार्ग और मोक्षके विभाग हैं—ये सब परिणतियाँ मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त कीजिये—१ अशुभोपयोग, २ शुभोपयोग, ३ शुद्धोपयोग। वस्तुतः संसार मोक्षकी व्यवस्था श्रद्धा, चारित्रगुणसे है परन्तु ज्ञान बिना किसीका कुछ उपयोग संभव नहीं है, अतः श्रद्धा चारित्र जिसके अन्तर्गत है ऐसे ज्ञान स्वभावकी मुख्यतासे वर्णन होना पड़ता है। अशुभोपयोग तो इन्द्रिय विषयकषायके परिणाम हैं, वह अशुभराग व द्वेषका अविनाभावी है। शुभोपयोग

देव-भक्ति, शील, व्रत, दान, सेवा आदि धर्मानुरागके परिणाम हैं। किन्तु शुद्धोपयोग समस्त रागद्वेषसे रहित समतापूर्ण चैतन्यके विकासरूप शुद्ध परिणाम हैं। ऐसे निर्दोष शुद्धोपयोगको जिन्होंने प्राप्त किया है उन श्रेष्ठ आत्माओंके स्वरूपका वर्णन चौदहवीं गाथामें हो चुका है।

विशुद्ध आत्मस्वभावके लाभके अभिनन्दनका उपक्रम—अब शुद्धोपयोगके लाभके अनंतर होने वाले विशुद्ध आत्मस्वभावके लाभका अभिनन्दन करते हैं। अथ (अब) यह शब्द किसी उत्तम बातके कहनेसे पहले प्रयोगमें आता। जैसे दो भाई विवाद कर रहे हों तो कोई कहे देखो जैसा जो कुछ हुआ सो ठीक है "अब तो"। आप सोचिये इसके बाद क्या कहना अभीष्ट है, क्या यह कि अब तो सिर फुटौवल करो, नहीं। अब तो विरोध छोड़ो, संगठन करो, शाँति करो, क्षमा करो आदि। इसी प्रकार यहाँ शुद्धोपयोगसे विशुद्ध परमात्माके लाभका अभिनन्दन अर्थ शब्दसे सूचित कर प्रारम्भ करते हैं। अथवा किसी विशिष्ट श्रमसाध्य कार्य करते हुए बीचमें "अब तो" शब्दसे नया कदम प्रयत्न करनेको सावधान सोत्साह किया जाता है। जैसे अब यह करो बहुत श्रम बाद अब यह करो कर चुकनेके बाद अब यह करो आदि। इसी प्रकार अब शुद्धोपयोगके फलको देखो, उसके बाद अब शुद्धोपयोग में परिणत आत्माको देखो, अब शुद्धोपयोगसे विशुद्ध परमात्मा स्वभावके लाभका अभिनन्दन करते हैं। देखो भैया! यहाँ उस परमात्माकी प्राप्तिका अभिनन्दन है जिसके लाभका अभिनन्दन हो, स्वागत हो, प्रतीक्षा हो, उस वस्तुका तो अभिनन्दन कहने से भी अधिक ढंगसे गर्भित हो ही गया। इस प्रकारसे श्री अमृतचन्द्र सूरि जी श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यके इस गाथाके प्रारंभिक भावको स्पष्ट करते हैं। अब शुद्धोपयोगलाभान्तर भाविविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—अब शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके अनन्तर स्वयं होने वाले विशद्ध आत्मस्वभावके लाभका अभिनन्दन करते हैं।

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगविशुद्धिका फल—जो उपयोगसे विशुद्ध होकर या चार घातिया कर्मोंसे रहित हो जाता है वह समस्त ज्ञेयभूत पदार्थोंके पारको स्वयं पा जाता है। वह उपयोग कौनसा है जिसके द्वार विशुद्ध होता है वह चैतन्य परिणाम रूप उपयोग है शुद्धोपयोगरूप है, अनादि अनन्त अखंड निर्मल शुद्ध चैतन्यके लक्ष्य अनुभवसे जों यथाशक्ति विशुद्ध होकर बर्तता है। यथाशक्तिसे प्रयोजन स्थिरता एकाग्रता जिसकी जैसी है उस प्रकारसे। इस अखंड चैतन्यभाव का अवलोकन चौथे गुणस्थानमें हो जाता है परन्तु अविरति भाव होनेसे उसमें स्थिरता नहीं हो पाती। पंचम गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम होनेसे देश-संयम होता है, कुछ अविरति भाव समाप्त हो जाता है अतः कुछ स्थिरता होती है। छठे गुणस्थानमें प्रत्या-

ख्यानावरणकषायका भी क्षयोपशम होता है। वहाँ अविरतिभाव नहीं रहता, वहाँ कुछ ही विशेष स्थिरता होती। आगे प्रमादरहित गुणस्थानमें करणत्रयवर्तियोंमें सूक्ष्मसाम्परायमें उपशान्तमोह क्षीणमोहमें अधिक स्थिरता रहती है क्षपक श्रेणीमें उपशान्त मोहभाव नहीं होता किन्तु क्षीणमोह होता है। इस प्रकार यथाशक्तिविशुद्ध होकर मोक्षमार्गके सफल योगी शुद्धोपयोगकी चरम सीमा पर पहुंचते हैं। यह सब उस अखंड चैतन्यभावके लक्ष्यका फल है जो अनादिसे हम हो में है परन्तु उस ओर पर्यायबुद्धिके संस्कारसे रुचि उत्सुकता नहीं हुई थी। उस भावके समझने के लिये कुछ अध्यात्मोपयोगी नयोंका जानना आवश्यक है।

आध्यात्मिकनय विवरण—अध्यात्मदृष्टिसे नयोंको संक्षेपसे चार रूपमें रख लीजिये—१ परमशुद्धनिश्चयनय, २ शुद्धनिश्चयनय, ३ अशुद्धनिश्चयनय, ४ व्यवहारनय। यहाँ निश्चय नय और व्यवहारनयको अपने घरू शब्दोंमें ऐसा समझिये कि जो उस ही वस्तुमें दिखावे सो निश्चयनय और अन्य द्रव्यके सम्बन्धकी कथा करते हुए उस सम्बन्धमें जो कहा जावे सो व्यवहारनय। अब उन तीनों निश्चयनयोंमें यह अपने आप घटा लेना कि निश्चयनयका स्वरूप घट गया या नहीं। देखिये व्यवहारनयसे ऐसी बातोंका प्रतिपादन है कि—आत्माके क्षेत्रमें कर्मवर्गणाका भी सम्बन्ध है, कर्मके निमित्तसे रागादि होते हैं आदि। अशुद्ध निश्चयनय का विषय अशुद्ध सत्त्व है। जैसे—आत्मामें राग, रागी, अशुद्ध आत्मा आदि। शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनय पर्यायका अवलोकन करते हैं परन्तु शुद्धनिश्चयनय तो शुद्ध अवस्थाको और अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध अवस्थाको देखता है। शुद्धनिश्चयनय अखंड वस्तुकी श्रद्धा करके गुण गुणको भेदरूपसे भी देखता है। अशुद्धनिश्चयनयके उदाहरणमें यह बात प्रकट होती है कि राग आत्माके चरित्र गुणका विकार है। वह जीवका स्वतत्त्व है, जीवमें वह अशुद्धता जीवके गुणोंकी है। उसी वस्तुकी अशुद्धावस्था उसी वस्तुमें बताना अशुद्धनिश्चय है। शुद्धनिश्चयनयके उदाहरण ये हैं—जीवकी सिद्ध पर्याय, आत्माका अनन्तसुख तथा आत्माके ज्ञान दर्शन गुण आदि। यहाँ जीवकी शुद्धादस्था जीवकी कही गई तथा जीवके गुण जीवमें ही बताये गये। अब परमशुद्धनिश्चयनयको देखिये जिसके विषयकी दृष्टि लक्ष्य पर्यायकी निर्मलताका संपादक है। परमशुद्धनिश्चयनय वस्तुके अनादि अनंत सामान्य स्वभावको देखता है। वह पर्यायों व भेद विकल्पोंको गौण करके ही देख पाता है, धर्मोंको देखता है अभेद रूपसे। आत्माका अनादि अनंत सामान्य स्वभाव है चैतन्यभाव। यह निगोद अवस्थामें भी था और सब अवस्थावोंमें भी है, सिद्धपर्यायमें भी है। इसके नाम परमपारिणामिकभाव, कारणसमयसार, सामान्य स्वभाव आदि अनेक हैं। समयसारके लक्ष्यमें रत्नत्रय परिणाममें उत्तरोत्तर निर्मलता होती है और अन्तमें पूर्ण शुद्ध अर्थात् कार्यसमयसार रूप हो जाता है। कार्यसमयसार रूप होनेपर भी सामान्य स्वभाव या कारणसमयसार कहीं नष्ट नहीं हो जाता है, रहता

ही है, परन्तु सदृश बात होनेके कारण सामान्य स्वभावमें वह विशेष मिल जाता है। उसे अब कारणसमयसार यह संज्ञा इसलिये नहीं दी जाती कि वे परमात्मा कार्यसमयसार हो गये हैं, अब उनको कारण या लक्ष्यकी आवश्यकता नहीं। कारण शब्द सापेक्ष है अतः उनके लिये कारणसमयसार यह संज्ञा भले ही न रहो, परन्तु वह सामान्यस्वभाव है ही। उस भावका लक्ष्य परमसुख रूप है, अनंत सुखका कारण है।

अनुभवनीय अर्थ—इस तरह ज्ञायकके लक्ष्यके अनंतर जो पूर्ण निज अनुभव हुआ वह अर्थ अनुभवनीय है, द्रव्य गुण पर्यायका ज्ञान इसके लिये हैं। मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यके त्यागसे पवित्र बुद्धिसे अपनी पात्रता बनाकर इस ही निज शुद्ध चैतन्य सामान्य स्वभाव रूप भगवानकी आराधना करो। जगतमें कुछ सार व हित नहीं है। यह ही सार है, हित है। इसलिये उपयोगसे विशुद्ध होनेका प्रयत्न करो, आत्मा अन्य कर ही क्या सकता ? जो कर सकता है उन्हींमें सारतत्त्वको बताया है। उपयोग ३ प्रकारके होते हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। आत्मा भी इनके सम्बन्धसे ४ प्रकारके हैं—अशुभोपयोगी, शुभोपयोगी, शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगफल प्राप्त कर लेने वाले। इनमें अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यक्त्वी व सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, इनमें उत्तरोत्तर अशुभोपयोगकी मंदता है। शुभोपयोगी अविरतसम्यग्दृष्टि देशसंयत व प्रमत्तविरत इन तीन गुण स्थानोंमें है, इनमें भी शुभोपयोगकी तरतमता है। करणानुयोगकी अपेक्षासे जहाँसे शुक्लध्यान हो वहांसे शुद्धोपयोग मानना चाहिये। अध्यात्मदृष्टिमें प्रमादरहित अवस्था होनेके कारण सप्तम गुणस्थानमें शुद्धोपयोगका लाभ दीखता है। इस ग्रन्थके रचयिता शुभोपयोग व शुद्धोपयोगमें अन्तर्मुहूर्तमें परिवर्तन करते हुए थे तभी इनकी वाणीमें शुद्धोपयोगका यह सत्य संदेश निकला। जो चैतन्यपरिणामी इसी शुद्धोपयोगमें रहते हैं वे समस्त घातियाकर्मोंका नाश करके स्वयं सर्वज्ञ हो जाते हैं। उस परम शुद्ध तत्त्वका दृढ़, संक्रांतिरहित एक अन्तर्मुहूर्तको उपयोग हो तब घातीशक्ति टिक नहीं सकती, विशुद्ध आत्मस्वभावका लाभ अवश्यंभावी है।

एक काम—हमको काम एक ही करना है, अनेक काम नहीं करने। वह क्या ? निज चैतन्य भगवानकी उपासना करना या शुद्धात्माकी आराधना करना, लेकिन उसके साथ कोई भी विकार नहीं होना चाहिये। आराधना कहते किसे हैं ? भगवानकी आराधना निर्विकाररूपकी साधना करना है। जबकि भगवानकी आराधना की जाय तो आत्मामें कोई भी विकार नहीं होना चाहिये। बड़े बड़े ऋषि मुनि संसारमें होते हैं वे यही तो किया करते हैं। लौकिकोंको दीखता है कि वो अपने शरीरको कष्ट देते हैं। गृहस्थोंको भी उचित है कि लक्ष्य उसी शुद्ध तत्त्वका रखें, इस ही प्रयोजनके लिये सब कुछ कर इन्द्रियोंको अच्छे रास्ते पर लगावें। हम हमारी इन्द्रियोंसे ही हमारा बुरा भी कर सकते हैं व कल्याण भी कर सकते हैं।

यही शरीर है, हाथ है, इनसे दूसरोंका वैयावृत्य भी कर सकते हैं, अनेक उपकार कर सकते हैं, इसीसे मोहीजन विषयसेवन करते हैं। इसमें प्रथम बात तो यह है कि यह सब दोष इंन्द्रियोंका नहीं, भीतरी कषाय है। कषाय तीव्र न रहे तो बुरा काम न करें। इसी तरह यह रसना देखो इससे गुणियोंके गुणगान भी कर सकते, इससे मूर्ख लोग गालियाँ देते। नाक तो कोई खास कामकी चीज नहीं। बेकार ही इसको मुँहके आगे लगा दिया है। लेकिन इससे बिगाड़ कितना ? अगर किसीको कह दिया जाय कि तेरा तो नाक कट गया तो उसको कितना गुस्सा आता है और वह तुमसे लड़नेको तैयार हो जाता है। तो इस नाकसे मनुष्य का बिगाड़ भी हो जाता है। इसी तरह आँख मनुष्यको लगी है। हम चाहें तो कइयोंका भला कर सकते हैं और यही आँख बुरा भी कर सकती है। इसी तरह जीभ है। इससे भी हम कइयोंका भला कर सकते हैं और बुरा भी कर सकते हैं। ये ही कान हैं जिनके द्वारा अध्यात्मवाणी व तत्त्वज्ञानकी बातें सुन करके अपने हितमें लग सकते हैं और इन्हीसे मोही रागभरी विकथायें रागनियाँ सुनकर आत्माके अहितमें लग जाते हैं। इन सब बातोंमें भैया हम सबको अपनी बोलीपर अधिक ध्यान देना चाहिये। बोली ही व्यवहारमें मनुष्यका सर्वस्व है।

वाणीका सदुपयोग न होनेसे हानि—जीभसे याने वाणीसे हम कई तरहके दुर्लभ काम भी बड़ी आसानीसे कर सकते हैं। इस जीभसे कभी ऐसी वाणी नहीं निकालनी चाहिये जिससे किसी मनुष्यको दुःख हो। जीभसे हमेशा दूसरोंके गुणोंका वर्णन करना चाहिये। कभी जीभसे ऐसी वाणी न बोलो जिससे दूसरोंका और खुदका अहित हो। खराब वाणीसे कई समय दूसरे मनुष्योंका नाश हो जाता है। एक लकड़हारा और एक शेर था। शेरके कांटा लगा, इसलिये उसने अपना पंजा लकड़हारेके सामने रख दिया। लकड़हारा समझ गया कि शेरके कांटा लगा है और उसने शेरके पंजेमें से कांटा निकाल दिया। शेर उसका कृतज्ञ हो गया और उससे कहा कि तुम जो बोझ लादकर ले जाते हो अब उस बोझके लिये मेरी पीठ तैयार है। दूसरे रोजसे उसकी पीठपर लकड़ी लाने लगा। वह खुद २५ सेर लाता था तो शेरपर दूसरे रोज १ मन लादी, तीसरे रोज २ मन लादी, चौथे रोज३ मन लादी। इस तरह उसका लालच बढ़ता गया। १५ दिन बाद वह धनवान बन गया। किसी पड़ौसीने उसे धनवान बननेका कारण पूछा तो उसने कहा कि एक ऐसा गधा हाथ लगा है जो मेरा बोझ लाद लाता है। शेर यह बात सुन रहा था। जब दूसरे दिन वह उसपर लकड़ियाँ लादने लगा तो शेरने उससे कहा कि तुम अपनी कुल्हाड़ीसे मेरी गर्दन काट दो। अगर नहीं काटोगे तो मैं तुमको मार डालूंगा। लकड़हारेने सोचा कि नहीं मारूंगा तो मैं मारा जाऊँगा। इसलिये उसने जोरसे कुल्हाड़ीकी धारसे गर्दन काट दी, मगर वह शेर मरता-मरता बोला कि मैं

तुम्हारी कुल्हाड़ीकी धार सहन कर सकता हूं किन्तु तुम्हारी वाणी या वचन जो कि तुमने मुझे गधा कहा मैं सहन नहीं कर सका। इसलिये वाणी कभी खराब नहीं निकालनी चाहिये। इस वाणीसे हमको दूसरोंके लिये अच्छे शब्द निकालने चाहियें। यह वाणी अच्छे कामोंके लिये प्रयोगमें लानी चाहिये। इस तरह हमको हमारी सब इन्द्रियाँ अपने वशमें रखनी चाहियें।

अगर हम मन और इन्द्रियोंको वशमें रखेंगे तो हमारा मोह सब दूर हो जायेगा। मोहकी गाँठसे मनुष्यका छूटना बड़ा ही मुश्किल है। स्त्री पुरुषका मोह, पिता पुत्रका मोह, भाई भाईका मोह यह सब मोह मनुष्यको मोक्ष-मार्गमें से हटाकर खराब रास्ते ले जाता है। मनुष्य पाच-२ पीढ़ियों तक अपने पोतों, पड़पोतों, सड़पोतोंमें लिपटा रहता है। संसारी जाल में बंधा रहता है। ऐसे मनुष्यका मोह कैसे छूट सकता है? बल्कि हमारे यहाँ जब कि मनुष्य के पड़पोते हो जाते हैं और फिर वह मरता है तो उसकी खुशियां मनाते हैं और समझाते हैं कि यह तो स्वर्ग जायगा। बल्कि जब वो मरता है तो उसकी चितापर सोनेकी सीढ़ियां बनाकर रख देते हैं कि यह तो स्वर्गमें चढ़ जायगा। मगर यह मालूम नहीं कि ये सीढ़ियां ऊपर चढ़ाती हैं तो नीचे भी उतारती हैं। जो मनुष्य सारी जिन्दगी भर मोहके जालमें फँसा रहा उसकी कैसे आशा की जाय कि वह मोक्ष प्राप्त करेगा? यहां तो उत्सव भी प्रायः मोहमें फंसनेकी खुशीके हैं। देखो प्रायः जितने भी बाजे बजते हैं ये सब मोहके आगमनके बाजे बजते हैं। सगाई हुई तो बाजे, वे किस बातके बाजे? अब इसके मोहमें फंसने की बात पक्की करदी। विवाह हो तो बाजे वे किस बातके? अब इसके मोहमें फंसनेका साधन जुटा दिया गया। अगर किसीके लड़का हुआ तो उसकी खुशीमें बाजे बजेंगे लेकिन यह ख्याल नहीं कि मोहरूपी इस दुष्ट शत्रुके चंगुलमें फंसानेके लिये और कोई संसारमें आ गया। इसलिये ये जितने भी बाजे बजते हैं सब मोहके आगमनके बजते हैं।

मोहग्रन्थिका परिणाम—मनुष्य धनसे मोह करता है। धन कमानेके लिये कई तरह के प्रयत्न करता है। कई तरह की जालसाजी करता है। करोड़ों रुपये इकट्ठा करता है। खूब धन इस संसारमें जमा करता है लेकिन मरनेके बाद सब धन यहांका यहाँ रह जाता है और वह इस छोटे से मनुष्य कालमें अपने आगे साथ चलनेके लिये कुछ भी नहीं कर पाता है। क्योंकि जो धन उसने कमाया है वह मरने पर उसका साथ छोड़ देता है और मोहरूपी पापकी गांठ उसके लिये आगे चली जाती है। मनुष्य अपने धन, जायदाद आदिके पीछे पागल सा हो जाता है और मोहमें फंस जाता है। अगर वह मोह छोड़कर परमात्मामें अपना ध्यान लगाये तो यहां तो उसकी थोड़ी-सी जायदाद है, मगर भगवानके ध्यानमें वह तीनों लोकोंका स्थायी अधिपति हो सकता है। तीन लोक ३४३ घन राजू है जब कि एक राजूका प्रमाण इतना है जिसमें असंख्याते द्वीप समुद्र हैं बल्कि ये भी एक राजूसे कम ही हैं। ऐसे तीनों

लोकोंमें ३४३ घन राजू हैं। जिसमें मनुष्य १० या १२ कोसकी जगहके लिये मोहमें फंस जाता है और अपना आगेका जीवन नष्ट कर देता है। यह मनुष्य भगवानके सामने बैठकर जाप करता है तो भी मोह उसकी गोदमें बैठा रहता है। जैसे कि एक मनुष्य माला जप रहा है। तो गोदमें अपने बच्चोंको बैठा रखा है और हाथमें माला जप रहा है। इस प्रकार मनुष्य मोहको तो भगवानके सामने भी नहीं छोड़ता है। यदि मनुष्य मोहकी गांठ अपने मनमेंसे खत्म करदे तो उसके अपने आप ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय ये तीनों खत्म हो जायेंगे और वह सच्चे स्वरूपसे युक्त अनन्तसुखी हो जायगा। नहीं तो मोहकी गांठ तो पीड़ा ही देवेगी।

मोहका शल्य—जिस तरह कि पुष्पडाल मुनि तो हो गये, लेकिन फिर भी उनके मनमें मोहने जगह रखी। उनके मनमें यह ख्याल रहा कि मैं मेरी स्त्री (जो कि कानी थी) को कहकर नहीं आया। वह बेचारी कैसे रहती होगी ? कैसे काम करती होगी ? इस तरहका मोह मुनि होनेपर भी उनके मनमें रहा। जब वारिषेण मुनिने यह हाल देखा तो सोचा कि इनके मनमें से मोह नहीं छूटा है। ये अभी मोहरूपी जालमें बंधे हैं। साधु हो गये हैं मगर ये मोहके संसारमें भटके हुये हैं। यह भाव देख करके वारिषेण मुनिको दुःख हुआ और वह उनका मोह भाव छुड़ानेके लिये प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अपनी माताको कहला भेजा कि मैं आ रहा हूं। तुम मेरी ३२ रानियोंको सजाकर अच्छे-अच्छे वस्त्र, आभूषण पहनाकर तैयार रखना। मां बहुत दुविधामें पड़ गई कि बेटा तो मोहको छोड़कर मुनि हो गया था अब उसे इस मोहने कैसे पकड़ लिया ? लेकिन माताने फिर सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता है उसने खराब भावना रखकर रानियोंको नहीं सजवाया है। वह मोहमें अब नहीं फंस सकता है और उसने रानियोंको खूब अच्छी तरह सजाया। उसने उसके लिये दो सिंहासन लगवा दिये। एक तो सोनेका और दूसरा काठका। जब दोनों मुनि आये तो खुद वारिषेण मुनि तो काठके सिंहासन पर बैठ गये और पुष्पडाल मुनिको सोनेके सिंहासन पर बैठाया। मुनियोंको स्वयं सोनेके सिंहासन पर बैठनेसे राग होता है मगर कोई बैठाये तो पापके भागी नहीं होते। इतने पर जब पुष्पडाल मुनिने ३२ रानियोंको देखा तो उनको ताज्जुब हुआ कि वारिषेण मुनिके ३२ रानियां हैं और वे हैं भी बहुत सुन्दर, फिर भी इन्हें जरा भी मोह नहीं और मैं अपनी कानी स्त्रीपर इतना मोह रखता हूं। तो उनको बहुत शर्म आई और उनका उस समयसे मोहकी तरफसे ध्यान हट गया। मोहको खत्म किये बिना हम भगवान की सच्चे स्वरूपमें आराधना नहीं कर सकते हैं। सुखार्थीको किसी भी रूपमें किसी भी चीज का मोह नहीं होना चाहिये।

निर्मोहताका यत्न—अब तो भैया ! ऐसा करें जैसे और लोग पेन्शनर रिटायर वृद्ध

होनेपर तीर्थक्षेत्रमें भजन भक्तिके लिये चले जाते हैं वैसे अपनेको भी अधिक अवस्था होनेपर सर्वथा मोह छोड़कर सत्संग या उत्तम क्षेत्रों पर भगवदाराधनामें जीवन लगाना चाहिये। शेर, सज्जन पुरुष और हाथी इनको अपनी जगहका मोह नहीं होता, ये अपनी जगह छोड़ देते हैं और कौवा, मोही और हिरण ये अपनी जगह कभी नहीं छोड़ते हैं। ये अपनी जगहसे मोह बहुत रखते हैं। अपनी जगह ही मरेंगे। जैसे कौवा हमेशा अपने ही गांवमें रहता है। कभी अपने गांवको छोड़ कर दूसरे गांवमें नहीं जायेगा। ये लोग भी मोहमें बँधे रहते हैं। उत्तम पुरुष वे ही है जो अपने घरमें नहीं मरे। अपने घरकी लकड़ी अपने न लगवाये अर्थात् मोहके वातावरणमें न मरे। किसी दूसरी जगह जाकर मरे और किसी साधर्मीकी लकड़ियां लगवाये अर्थात् सहधर्मियोंके वातावरणमें समाधि मरण कर अपना मोह बिल्कुल छोड़ देवें। जहां मनुष्य वृद्ध अवस्थामें पहुंचा कि उसको घरबार छोड़ देने चाहिएँ और जंगलमें या सत्संगमें जाकर भगवानका जप करना चाहिये और अपने मोहसे छुटकारा पा लेना चाहिये।

शुद्धोपयोगसे शुद्धप्रसिद्धि—सबसे पहले आत्माको मोहसे छुटकारा पाना चाहिये, इसके बाद धीरे धीरे अन्य सब खराबियां दूर हो जाती हैं। मोहसे मुक्त होनेका मूल उपाय विशुद्ध चैतन्य स्वभावका ऐसा ही मैं हूं—यह विश्वास गर्भित लक्ष्य होना है, इस ही से विशुद्धता पर्याय निर्मलता स्वयं प्रकट होती है तब यह पर्याय कर्मगत संवर निर्जरा पर्यायका निमित्त होता है, इस प्रकार आत्माकी शुद्ध चैतन्य व्यक्ति अथवा भेद रूपसे ज्ञान, दर्शन व शक्तिका घात करने वाले घातित्रयका अभाव हो जाता है। सम्यक्त्व व सुखका घात करने वाले दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयका पहिले ही अभाव हो जाता है। यहां इस शुद्धात्मा की शक्ति अप्रतीघात प्रवृद्ध हो जाती है, सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। यही विशुद्धात्मस्वभाव का लाभ है। विशुद्ध ज्ञान होने पर यह इतना ही जाने, ऐसी सीमाका कोई कारण नहीं है, अतः सर्वज्ञेयके ग्रहण (जानना) रूप निज ज्ञान व्यक्तिको रहता है क्योंकि आत्मा तो ज्ञान स्वभाव है, ज्ञानका जानना स्वभाव है—कार्य है, जानन अर्थविषयक होता है सो अर्थ—ज्ञेय जितना है उतना ही ज्ञान कहलाता है। इस कारण शुद्ध वस्तुके श्रद्धा लक्ष्य भावना अनुभवन परिणमनके प्रसादसे यह विशुद्ध आत्मा सर्वज्ञेयोंको (उपचारसे) निज सर्वज्ञेयाकारोंमें रहने वाले ज्ञानस्वभाव वाले अपने आपको पा लेता है। ऐसे शुद्धात्मस्वभावका लाभ, जिसमें कि अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतशक्तिका अनंत सुविलास है शुद्धोपयोगसे प्रसिद्ध होता है।

अब कहते हैं कि ऐसा शुद्धोपयोगजन्य शुद्धात्मस्वभावका लाभ किसी भिन्न किसी कारककी अपेक्षा नहीं रखता है, अर्थात् विकास अपनेमें अपने द्वारा अपने लिये अपनेसे अपने

आप प्रकट होता है अर्थात् वह बिल्कुल निज आत्माधीन है, ऐसी स्वाधीनताको द्योतते हैं प्रकाश करते हैं जगमगाते हैं। यह जगमगाहट स्वयंको पाने पर ही होता है। तब यही सिद्ध हुआ कि आचार्य महात्मा स्वयं अधिक्रान्त होते हैं और व्यवहारसे जगत्को प्रकट करते हैं, निज परम ज्ञान व सुख रंच भी परके आधीन नहीं है ऐसी द्योतना करते हैं—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

इस प्रकार प्राप्त किया है स्वभाव जिसने, सर्वका ज्ञाता सर्वलोक (त्रिलोक) के अधिपति असुरेन्द्र चक्रवर्ती सुरेन्द्रोंके द्वारा सादर भक्ति सहित पूजित परमनिर्मल शुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त आत्मा स्वयं होता है, इसीलिये यह भगवान स्वयंभू है ऐसा वीतराग उपदेष्टावोंने निर्देश किया है।

प्रदेश व ज्ञानकी दृष्टिसे आत्मविवेचन—निश्चयसे यह ही आत्मा शुद्धस्वभावकी भावनाके प्रभावसे शुद्ध अनन्तशक्ति चैतन्यस्वभावके पूर्ण विकास वाला होता है। इस आत्मामें समझने योग्य २ मुख्य उपाय हैं—१–प्रदेश, २–ज्ञान अथवा चैतन्य। इनमें समस्त संसारियों, संज्ञियोंकी दृष्टि वस्तुनिर्णयके समय प्रादेशिकी होती है। चैतन्यभाव की दृष्टिसे सर्व निर्णय करना बिरले समाधि प्राप्त महात्माका कार्य रह गया है। प्रदेश दृष्टि–स्थूल दृष्टि है जिससे विस्तारका अनुमान रहता है। चैतन्य दृष्टि सूक्ष्मदृष्टि है जिसमें इस ज्ञेय तत्त्वकी देशकाल की सीमा नहीं होती अर्थात् देशकालसे परे चैतन्यभाव होता है। आत्माका वर्णन जब प्रदेश सापेक्ष होता है तब वह जगद्व्यापी नहीं रहता और चैतन्यस्वरूपका दर्शन रहता है, वहाँ निर्विकल्प स्थिति होती है और वह चैतन्यस्वरूप सामान्यविशेषात्मक होनेसे सामान्यशक्ति अर्थात् दर्शनके द्वारा सर्वदृष्टा तथा विशेषशक्ति अर्थात् ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञाता रहता है, अतः वह चैतन्यात्मक परमात्मा सर्वव्यापी है। फिर भी न व्यापी है, न अव्यापी है ऐसा सर्वव्यापी है। उस ही चैतन्य सामान्यका विशेष अर्थात् प्रकाश यह सर्वपरिचित है। सूक्ष्मदृष्टि द्वारा ज्ञेय सर्वव्यापी चैतन्य भगवान्का यह प्रकाश है, इस वर्णनपरम्परासे वर्णन तो मुख्य रह गया और सूक्ष्यदृष्टिके स्थानको प्रदेशमुखी स्थूलदृष्टिने ग्रहण किया, अतः कितने ही अध्यात्मप्रयत्नशील साधुवोंने, विद्वानोंने इसे इस स्वरूपमें समझ लिया कि लोकमें व्यापी एक निर्विकार परमेश्वर है जिसकी छाया अन्तःकरणोंपर पड़नेसे और अन्तःकरणका जीवात्मासे संबंध होनेसे उस जीवको सुख दुःखका भ्रम हो गया। सुख दुःख तो अन्तःकरणको होते हैं।

मनका विश्लेषण—यहाँ तत्त्व समझनेके लिये विकल्प कीजिये कि क्या जीव और अन्तःकरण क्या ये २ पदार्थ हैं या वर्तमानमें एकरूप हैं? यदि ये २ पदार्थ हैं तब अन्तःकरण ज्ञानमय है या जड़ी? यदि जड़ है तो उसमें सुख दुःखका वेदन नहीं हो सकता, यदि ज्ञानमय

है तो उसके सुखदुःखका वेदन उसमें ही रहा, यदि इस प्रक्रियाको देखकर जीवने भ्रमवश सुख दुःख किया तो वह सुख दुःखका परिणमन जीवका जीवमें रहा और ऐसी अवस्थामें दोनों पृथक् स्वरूपास्तित्वमय हुए अर्थात् दोनों चेतन द्रव्य हो गये और फिर उनके स्वयं ज्ञानमय होने से पृथक् परमेशकी छायाकी आवश्यकता क्या रही ? यदि वे स्वयं अचेतन हैं तो चेतन की छायासे भी क्या चेतनका काम निकल सकता ? नहीं। इस प्रकार इस सुख दुःखकी अवस्थामें भी यह वही आत्मा है जो इस अवस्थाके त्यागपूर्वक शुद्ध अवस्था प्रकट करके स्वयं परमात्मा होता है। आत्मा तो ध्रुव पदार्थ है, फिर भी प्रति समय अपनी अवस्था रखता है। क्योंकि पर्याय (अवस्था) के बिना द्रव्य नहीं रहता। ऐसा अनंत ज्ञानशक्तिक यह आत्मा निमित्तनैमित्तिक भावकी प्राकृतिक व्यवस्थाके कारण कर्मोपाधिवश समागत रागद्वेषादि रूप अज्ञानपर्यायमें रहता है। रागद्वेषादिका संचेतन बिना मन वाले जीवोंके संज्ञा शब्दसे कहा गया है और मन वाले जीवोंको मन शब्दसे कहा है जो मूर्तिक द्रव्यमनके आश्रयसे जन्य होता है। इस तरह समल आत्माकी एक अवस्थाका नाम मन है।

मनकी विश्रान्ति—इस अवस्थाका त्याग निज शुद्ध परमात्माके लक्ष्यके प्रसादसे होता है, सो यह ही आत्मा जब स्वपरभेद विज्ञानके उपायसे निज ब्रह्मका सहजस्वरूपास्तित्व समझ लेता है और उसे अभेदशैलीसे भाता है तब उस शुद्ध चैतन्यकी भावनाके प्रभावसे अर्थात् इस विशुद्ध निर्मल पर्यायके निमित्तको पाने से मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय ये चारों घातियां कर्म अस्तमित हो जाते हैं। यह सारा जगत् जिसमें कोई द्रव्य स्वभावपरिणत हो या कोई द्रव्य विभावपरिणत हो, सर्व किसी न किसी बाह्य पदार्थके सद्भाव या अभावके निमित्तको पाकर अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्थासे परिणम रहा है। यहां जो परस्पर उनका सम्बन्ध सोचता उनकी संयोगाधीन दृष्टि है जो संसारपरिभ्रमणका कारण है और जो स्वचतुष्टय परिणतिसे ही सर्व परिणमते हैं। इस निश्चयके कारण किसी भी द्रव्यकी परिणतिसे ही उस ही की परिणति होती हुई निरखते हैं वे स्वरूपास्तित्वदृष्टि वाले हैं। स्वरूपास्तित्वका सब दर्शन आस्तिक्य भाव है।

स्वभावोपलम्भकता—इस प्रकार निज अखण्ड शुद्ध परमात्माके भावनसे घातियाकर्मों के संपर्कसे रहित होने वाला जीव स्वयं निज शुद्ध अनन्तशक्तिक चित्स्वभावको समुपलब्ध कर लेता है—पा लेता है। अहो यह चैतन्य स्वभाव स्वयं स्वयंमें है, इसलिये समुपलब्ध शब्द दिया है अर्थात् लब्धका भाव है प्राप्त किया, उप का भाव है समीपमें अथवा अपने में और सम्का भाव है सम्यक् प्रकार स्वाधीनता निर्विपादेन समपरिणाम भावेन आदि। इस तरह यह पूर्ण अखण्ड निर्मल चैतन्यस्वभावको स्वपरिणतिसे प्राप्त करता है, वहाँ उस शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञायक स्वभावसे स्वतन्त्रतया परिणमता है इसलिये कर्तृत्वका अधिकार आत्माने

ऐसा स्वतन्त्र पाया है सूत्र भी यही कहता है स्वतन्त्रः कर्ता। शुद्ध ज्ञायक स्वभावसे परिणमता हुआ आत्मा बिना अन्यकी परिणति लिये निरपेक्ष होकर परिणमता है। यह तो शुद्ध आत्मा की बात है। अशुद्ध अर्थ भी बिना अन्यकी परिणति लिये निरपेक्ष होकर परिणमता है। कोई भी द्रव्य अपनी परिणति करनेके लिये किसी निमित्त आदिकी अपेक्षा प्रतीक्षा नहीं करता है कि मुझे ऐसा परिणमना है सो इसके अनुकूल कोई निमित्त मिल जावे। जो भी बाह्य अर्थ का सद्भावरूप निमित्त हो या अभावरूप निमित्त हो या केवल काल द्रव्य निमित्त हो, निमित्ताभाव तो कभी रहता ही नहीं सो जैसा निमित्त हो उसको निमित्त मात्र पाकर वस्तु अपने परिणमन स्वभावके कारण अपनी चतुष्टय परिणतिसे ही परिणमता है। यहां विशुद्ध आत्मा परिणम रहा है वह अपने शुद्ध चित्स्वभावसे स्वतन्त्रतया परिणम रहा है, इसलिये विशुद्ध आत्मस्वभाव लाभका अन्य कोई अर्थ कर्ताकारक नहीं है। प्रत्येक पदार्थोंमें भी जो कार्य होते हैं वह उसकी ही परिणतिसे होते हैं। बाह्यसे अन्यका कोई परिणमन नहीं होता। चित्स्वभावका स्वभाव विकास होना धर्म है यही शांतिका स्रोत है। यह निर्विकल्प स्व के लक्ष्यसे आविर्भूत होता है। कोई कहे कि मुझे धर्म करना है अतः ये दस हजार रुपये मैं किसी जगह लगाना चाहता हूं। उस दस हजारके लगानेसे धर्म हो जायगा यह नहीं है। रुपया तो जड़ पौद्गलिक है उसकी किसी परिणतिसे उसका ही परिणमन उसकी ग्रहणत्याग अवस्था (विशिष्टदेशावस्थितता) होने से तुम्हारा धर्म नहीं प्रकट होगा किन्तु धन परवस्तु है, परका लक्ष्य छूटनेसे निज निर्विकल्प परमानंदमें जो अवस्थिति है वह धर्म है। धनका मोह छूटनेपर भी जो यह विकल्प रहता है कि इसे किसी अच्छे स्थानमें लगा दूं--यह दया या भक्तिसे भरा शुभ राग है जिसकी वेदना मेटनेका यह भी प्रतीकार है। वस्तुस्वरूप ठीक समझकर जो चेष्टा होती वह व्यवहार धर्म है। अन्यथा दस हजार रुपया देकर अपना नाम या कीर्तिका चाह करनेका लोभ लगा लिया तब तो वह कषायका ही सिञ्चन करने वाला हुआ। धर्म चित्स्वभावकी निर्मल व्यक्ति ही है, वह ज्ञायक आत्माके स्वतंत्रतया प्रकट हुई है, अतः विशुद्धात्मस्वभाव लाभका यही आत्मा कर्ता है।

स्वभावोपलब्धिकी अभिन्नकारकता—यहां यह बतलाया जा रहा है कि शुद्ध उपयोग के लाभके अनन्तर जो शुद्ध आत्माका स्वभाव है, उसका लाभ कैसे होता है ? क्या करनेसे होता है, किसलिये होता है, किसमें होता है, कौन करता है, किसको किया जाता है ? इनका उत्तर देते हुए बता रहे व बतावेंगे कि मेरे स्वरूपका लाभ—मेरे स्वरूपकी प्राप्ति अन्य पदार्थसे नहीं होती, अन्य पदार्थके द्वारा नहीं होती, अन्य पदार्थरूप नहीं होती, अन्य पदार्थके लिये नहीं होती है। जगत्के सभी पदार्थ इसी तरह हैं, सभी अभिन्न षट्कारकमें परिणमते हैं। इस प्रकारका यह चरित्र-वर्णन जो इस बातका द्योतन करता है, प्रकाश करता है सो

क्या दुनियाको देखता है अथवा अपने आपको ही प्रकाश करता है ? यह लाभ अपने आपकी परिणतिसे होता है, अतः अपने आपमें प्रकाश करता है। यह लाभ अपने आपकी परिणतिसे होता है अतः अपने आप ही प्रकाश करता है। यह आध्यात्मिक संतोंके वर्णनके अन्तर्भाव हैं। इसी प्रकार आत्मा भी जब स्वयंको ज्ञानमय प्रतीत करता है और वैसे ही बनने को प्रयत्नशील होता है तब शुद्ध उपयोगके उपयोगसे, भावनासे स्वयं शुद्ध हो जाता है और वह आत्मा स्वयं ही स्वयंभू होता है। इस आत्माका नाम स्वयंभू है, अतः स्वयंमें इसमें विकास होता है।

अन्तस्तत्त्व—आत्मा ही स्वयं ज्ञान सुखका भण्डार है। भण्डार क्या ? तन्मय है। ज्ञान स्वयं ही स्वरूप है। वह अपने द्वारा अपनेमें ही परिणमित होता है। अन्य पदार्थ व लोगों पर जो हमारी दृष्टि रहती है यही हमारे सुखका घात करने वाली है। हे प्रभो ! जगत्के सर्व प्राणी स्वतन्त्र भगवान् हैं हम भी वही भगवान् हैं। ये भी—ये भी आप सब ही चैतन्य भगवान् हैं। परन्तु वह कहाँ है ? निजमें ही चैतन्य भगवान् है। जैसे दूधमें घी है पर विवेक करना है। इस बातको विचारना आवश्यक है। वह देव शक्तिमें—स्वभावमें है। जैसे दूधको बिलोकर उसमें से घी निकाला जाता है इसी प्रकार इसमें भी भेदविज्ञानके मन्थन से और पश्चात् अभेदमें पहुंचनेसे वह प्राप्त होगा। बाहरसे तो न घी दूधमें प्रतीत होता और न जीवमें परमात्मा ही। कहाँ मालूम पड़ता ? कहाँ निकलता ? वह तत्त्व स्वभावमें है। उसीपर लक्ष्यकर उसीमें लीन होकर देखें तो अनुभव होगा।

देखो भैया ! सब काम असार है, केवल यह समयसार ही सार है। यदि इसही शुद्ध वस्तु रूप समयसारकी चर्चा करेंगे, इसमें ध्यान रखेंगे, सर्वविकल्प छोड़कर उस निर्विकल्प परमअर्थ पर एकाग्र लक्ष्यरूप रहेंगे तब वह आत्मा शुद्ध लक्ष्यके प्रतापसे शुद्ध हो जायगा। किन्तु आजकल प्रायः लोकोंकी दृष्टि मंत्र तंत्रपर रहती। हाँ चाहे तो हमारी दृष्टि शुद्ध चैतन्य तत्त्वमें जम सकती है। विवेककी आवश्यकता है। लोकमोहमें ही जन्म गमा रहे हैं, मलमूत्र के शरीरपर बड़ी रुचि करते हैं, स्नान करते हैं, तो घण्टों लगा देते हैं, देख देखकर हर्षमें फूलते हैं, इस प्रकार केवल अपने ही विषयमें नहीं किन्तु दूसरोंके भी अधिष्ठित शरीरोंको देखकर खुश होते रहते हैं। वह रूप है क्या ? स्त्री बीमार हुई, पीलापन आ गया कुछ सफेदी हो गई, सुन्दरता झलकने लग गई ऐसा मान लिया। स्त्रीको पुरुषके विषयमें और पुरुषको स्त्रीके विषयमें ऐसा ही लगता है। आत्मशक्ति भूलकर मोही इस मल मूत्र भरे देह में ही आत्मदृष्टि लगाये रहते हैं।

निर्मल चित्तमें प्रभुका वास—भैया ! जिस चैतन्य भगवानकी कथा जो यह कही वह देव ऐसे मोही हृदयमें नहीं रहते। जिनके हृदय मोहसे कलुषित हैं ऐसे हृदयमें ज्ञानभावकी

प्रेरणा नहीं हो सकती है। एक मेहमानको बुलाते हैं तो घरकी कितनी सफाई व सजावट करते हैं कमरेका क्या शृङ्गार करते हैं और हम भगवानको बुलाना चाहते हैं अर्थात् हम अपने आपही ज्ञानस्वभावमय निज चैतन्य भगवानको अपने हृदयमें बैठाना चाहते हैं—अपने उपयोगमें लेना चाहते हैं उस अद्वैत एकस्वरूप निज चैतन्य भगवानको, तो वह अशुद्ध आसन पर विराजमान नहीं किये जा सकेंगे। वह मोही हृदयमें नहीं आवेंगे। भेदविज्ञानसे हृदयको मोहरहित करो भगवान तो स्वयं ही आ जाते हैं। यह हमारी भाषा है—भगवान् प्रतीक्षा कर रहा है मानो, क्योंकि यह ब्रह्म है—ब्रह्म वह है जो अपने गुणोंसे बढ़े। जो अपने ज्ञानको बढ़ाये वह ज्ञानके विकास रूपको पाता ही है। इसके लिये हमको आवश्यक है अपने चित्तको निर्मल बनानेकी। चित्त जैसे निर्मल बने वैसे ही वह भगवान आ जाता है।

स्वयंका स्वयं साधकतम—भैया! किसीकी तो चर्चा ही की जाती, यह तो मेरे स्वरूपमें सुखका भण्डार स्थित है। यह स्वयं ही अपनी साधकतमतासे अपने-अपने आपको सुखमय देखता ही है। देखो जैसे साँपने कुण्डली बनाई, अपने शरीरकी बनाई, अपने शरीरसे बनाई, अपने लिये बनाई, अपनेमें ही बनाई, अपने आप बनाई। किसी अन्य और वस्तुसे बनाई ही नहीं है। इसी तरह आत्मा स्वयंज्ञानसुखमय अपनेको बनाता है। वहाँ ऐसा नहीं है कि जैसे कोई लेखक लिखने बैठे तो स्याहीको लिखा, कुटीमें लिखा, कागज पर लिखा, हाथ से लिखा, किसी पुरुषके लिये लिखा आदि। यह तो भिन्न षट्कारकी बात है। आत्माका ज्ञान व सुख परसे प्रकट करने पर नहीं होता, बल्कि परसे प्रकट करनेकी दृष्टि ही ज्ञान और सुख का विकास नहीं होने देती। आत्मामें ज्ञान ज्ञप्ति क्रियासे होता है। ज्ञान जो होता है वह दूसरे पदार्थसे—शास्त्र, गुरु, उपदेशक, वचन, दिव्यध्वनि आदि किसीकी परिणतिसे नहीं होता है। निमित्तमात्रकी बात अन्य चर्चा है। इसका उत्पादक विकासक यह आत्मा स्वयं ही है। उत्पादक भी क्या? आत्मा अपनी पूर्व अल्पज्ञान परिणतिसे हटकर पूर्ण ज्ञानी होता है वह उसीका विकास है। अर्थात्—ज्ञान, ज्ञानके द्वारा, ज्ञानके लिये ज्ञानमें स्वयं प्रकट होता है। शुद्ध आत्माका यहाँ प्रकरण है, इसलिये शुद्धआत्माके विषयपर यह कहा जा रहा है। आत्मा की जितनी अवस्थाएँ हैं वे अवस्थाएँ स्वयं स्वरूपमें स्वरूपके लिये प्रकट होती है।

पतितपावनता—हे भगवान् तुम अनन्त सुखी हो बने रहो, अपने स्वरूपगृहमें बैठे रहो। तुम्हारे सुखके सम्प्रदान तो हम हैं नहीं, तुम्हारा सुख तो तुम्हारे ही लिये है, आपका सुख मेरे लिये नहीं हो सकता, पर आपका स्मरण ध्यान करनेकी पर्यायमें आया हुआ जो मेरा परिणाम है उस अवस्थामें स्वयं उत्पन्न होता है। जो उसमें सुख है वह सुख मेरे लिये है, आपका सुख मेरे लिये नहीं है, आपका विषय करके हुआ जो स्मरण ध्यान उसके प्रतापसे स्वयं पैदा हुआ जो मेरा सुख वह मेरे लिये हैं, वह उसमें ही पैदा हुआ है। इसका कर्ता यह ही है

आप कर्ता नहीं हैं। यह मेरा ही काम है आपका काम नहीं है। तुम तारणतरण हो आप पतितसे पावन पवित्र करने वाले हो, इसका अर्थ यह है महाराज। आपका ध्यान करनेसे हम पतित स्वयं अपने ज्ञानको संभाल लेनेसे पवित्र हो जाते हैं। पतितपावन तो हम हैं परन्तु हमारे पतितपावन बननेकी चेष्टामें जो आप आश्रय विषय ख्यालके लिये रहते हो इतने कारण से आपकी पतितपावन संज्ञा है। पतितपावन भगवान नहीं, पतितपावन यह आत्मा है। हमें पतितपावन बननेमें हमारे भगवान निमित्त हैं। उनका ध्यान करनेसे यह पतित आत्मा स्वयं पवित्र हो जाता है, अर्थात् अत्यन्त पतित भी आत्मा आपके स्वरूपके ध्यानमय निज परिणति के प्रतापसे पवित्र हो जाता है।

भावविशुद्धिसे उद्धार—बंगालका एक सच्चा किस्सा है। एक द्रोपदी थी, उसके ससुराल वालोंने उसकी उपेक्षा करदी, सो पिताके घर रहने लगी। पिताने एक बाग बावड़ी उसकी आजीविकाके लिये भेंट दे दी। वह दुर्भाग्यसे दुराचारिणी हो गई। बहुत दिनोंके बाद उसे अपने कल्याणका बड़ा ख्याल हुआ। पश्चात्ताप करने लगी। चित्तकी शुद्धि बढ़ी। तीर्थयात्राका निश्चय किया। पिताजीसे अपना विचार कहा। तीर्थयात्राकी तैयारी हुई। पिताके लिहाजके वशसे सब लोग पहुंचाने गये। तो मुंहपर रुमाल रखकर हँस रहे थे—बिल्ली चूहा खाकर हज्ज करने चली। इसके दुराचारके कारण तो बावड़ीमें कीड़े पड़ गये, आम कड़वे हो गये। यहांसे तीर्थका ढोंग करती तब द्रोपदी बोली कि मैं दुराचारिणी थी परन्तु मेरा अब चित्त अत्यन्त विरक्त है, अब मैं तीर्थ धाम जा रही हूं। वहां पर भगवानपर मंत्र बोलती हुई जलधारा चढ़ाऊंगी। जलधारा देते देते मेरी मृत्यु होगी और जावो देखो उस बावड़ीका पानी निर्मल है व आम मीठे हैं। वह तो गई, लोगोने बावड़ीका जल पिया तो बड़ा मिष्ट, आम मिष्ट। लोग तीर्थपर गये तो जो कहा था वही हुआ। आत्माका अचिन्त्य प्रभाव है। लोग सोचते मैं पापी हूं कैसे उद्धार होगा? अपने स्वरूपको देखो, स्वतंत्रता पहिचानो, उद्धार निश्चित है, नहीं तो ऐसा कौन बचा जिसने पाप नहीं किये हों, अनंतकाल तो इसीमें गया। पापका मूल मोह ही तो है। मोह पर्याय है यह भी एक अवस्था है जिसने अवस्था बनाई वह आत्मा ध्रुव है उससे ही भेदविज्ञानके बाद निजअभेदमें पहुंचकर धर्मपर्याय भी हो सकती है।

विषयसाधनोंसे अलाभ—जिसने उस निज त्रैकालिक चैतन्य भावको देखा वही आत्मा धर्म स्वरूप हुआ, दुनिया बहुत देखी, दुनिया बहुत छानी, परिवारमें रह कर बहुत मोह किया = आजका परिवार आजसे ही नहीं मिला, ऐसा परिवार भव भवमें मिला है कोई नया सुख नहीं है आप कोई नया रूप नहीं देख रहे आपके कोई वैभव नहीं है, बड़े-बड़े वैभव पाये होंगे यह तो न कोई चीज है, वैभव पाकर भी संतोष न हुआ अब थोड़ेसे वैभवसे इतनी ममता रखकर क्यों उस असारको अपनाये रहते हैं इसका परिणाम क्या? इसका परिणाम

बूढ़े हुए तो सोचते यह धर्म जवानीमें और बालकपनमें करनेका है, बुढ़ापेका नहीं। तीनों धर्म से त्याग दे सकते हैं और विवेक करें। तो बच्चों! सोचो तुम बच्चे नहीं हो। अनन्त कालकी तुम्हारी स्थिति हो गई, अनन्तकालके बड़े हो। यह तो देहकी अवस्था है तुम तो बचपनसे ही धर्ममें लग जावो, ज्ञान मात्र आत्माको पहिचानों। जवानो! सोचो यही तो संभलनेकी आयु है। यहीं न संभले तो फिर क्या संभलोगे? वृद्ध भाइयों! धर्म शरीरसे नहीं होता शरीर तो पर है। परसे धर्मभाव नहीं। धर्म अपना भाव है, अपने ही में धर्म धारण करना है। विवेकी महात्मा अशक्त शरीरमें रहकर भी आत्मानुभवमें ही लगे रहते हैं। बुढ़ापा है तो शरीर का ही तो है। आत्मा तो अपनेमें है। अब तो आपको वैराग्य होना ही चाहिये। सब देख लिया, राग किया, सब कुछ किया। सब कुछ करते हुए देख तो लिया है, क्या निकला? कुछ भी तो नहीं निकला।

धर्मकी समुपलब्धि—अपने आपकी निज ज्ञायक भावकी दृष्टि जो स्वाभाविक है उस स्वभावपर दृष्टी रखनेसे धर्म होता है, वह सरल सीधे रूपमें ही तो धर्म होता है। लोगोंको यह पता है कि आलसी पड़ा है पर धर्मकी ज्योति जगती रहती है। धर्म कठिन नहीं है, धर्म अत्यन्त सरल है। पैसा कमाना कठिन है धर्म कमाना कठिन नहीं है। पैसा परवस्तु है, परद्रव्य है कैसे आवे? दुर्लभ है, अपनी चीज कठिन नहीं, धर्म सुलभ है, धर्म सरल है, हमारे सामान्य स्वरूपकी दृष्टि हुई और धर्म पैदा हो गया। पर भाई! मोहभावके रहने पर तो कठिन ही नहीं असम्भव है। अपने दिलका किसे पता नहीं—किसके दिलमें क्या बसा? यदि परवस्तु ही लक्ष्य है तो यही मलिनता है। खुदके दिलका खुद निर्णय कर सकता कि मोह है अथवा नही। भैया! अब तो भेदविज्ञानके द्वारा अपने को सबसे भिन्न समझ करके आत्माके स्वरूपका निर्णय करके ज्ञानकी सत्य अवस्थाको स्वरूपमें देखते हुए सम्यग्दर्शनकी दृष्टिसे अखण्ड पूर्ण निर्मल अपनेको देखो, ज्ञान स्वयं स्वरूपके अनुरूप पैदा हो जायगा। यह जो आत्मा है जिसके शुद्धोपयोगकी भावनासे घातिनी वासना दूर हो गई है, ऐसे आत्माओंके बाह्य चमत्कार तो पैदा होते हैं परन्तु उनपर ज्ञानीकी दृष्टि नहीं। संसारमें वैभव चमत्कार बनाना जिनका लक्ष्य है वे इसी चक्रमें सुमति खो बैठते हैं। आत्मदृष्टिके बलसे कठिनसे कठिन जो आत्मसिद्धि है वह भी प्राप्त हो लेती है तो उस सन्मार्गके रहते हुए उस सिद्धिके लक्ष्यके प्रभावसे ६३ ऋद्धि पैदा हो जाती हैं, इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं। जब शुद्धोपयोगकी भावनासे केवलज्ञान ऋद्धि पैदा हो लेती है तब ६३ ऋद्धियाँ या अन्य चमत्कारोंका हो जाना क्या बात है, लेकिन जगतके चमत्कार पर ही मोही रीझ जाते हैं। किसी साधु, किसी गृहस्थी या किसी संन्यासीने यदि चमत्कारका काम ले लिया तंत्र मंत्र का

यह काम ले लिया तो भाई १० में से ६ बात तो ठीक निकल ही जातीं—साधारण लोगों की कही हुई भी आधी बातें तो ठीक निकल ही जाती हैं, अब इसमें जैसा जो इष्ट निकला तो लोगोंकी श्रद्धा बन गई। शुद्ध तत्त्वकी श्रद्धाके बिना, बाह्य व्यामोह नहीं छूट सकता। जिन्होंने शुद्धोपयोगकी भावनाके बलसे विभावोंको दूर किया उसके शुद्ध ज्ञानानन्द प्रगट होता है। शुद्ध चैतन्य भगवानकी सिद्धिमें यह ऋद्धियां स्वयं आईं परन्तु इस योगीके लिये यह ऋद्धियां कोई महत्वमय रूप नहीं, ऐसी ज्ञानीके चित्तमें दृढ़ श्रद्धा है वह तो ज्ञान भावसे ही ध्यान करता है, विशुद्ध लक्ष्य वालोंके स्वयं अनन्त शक्ति चित्स्वभाव समुपलब्ध हो जाते हैं।

धर्मकी स्वयंमें समुपलब्धि—समुपलब्ध शब्दमें ३ शब्द हैं सं-उप-लब्ध। यहीं समीप में मिले तो कहते हैं उपलब्ध, दूरसे मिल जाय तो लब्ध और फिर सम् शब्दसे स्वरूप रूपको अपने आप ही अपने आपमें पाया सो समुपलब्ध। जिसे निज स्वरूप मिला वह अनन्त सुखी है। स्वभाव प्रगट होता है अपने आपके लक्ष्यसे। जब नेक वह बाह्यसे देखता तब तक हमारा वैभव नहीं मिलता। जब हम वैभवको बाह्यमें न देखें तो हमारा वैभव स्वयं प्रगट होता है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम बाह्यका लक्ष्य छोड़कर विश्रान्ति लें तो सत्य सुख स्वयं प्रगट हो जायगा। स्वयंके ही ज्ञानकार्यसे स्वयंकी सिद्धि है। शुद्ध अनन्त चैतन्यस्वभावका प्रसाद यह है कि आत्मामें उसके प्रभावसे कर्म नहीं आने पाते और शुद्ध सुख प्रगट हो जाता है। यह तो परमात्माकी बात है। यहां भी देखो गुरु शिष्यको क्या ज्ञान देता है ? नहीं। शिष्य अपनी साधकतासे ज्ञान पाता है। यदि गुरु शिष्यको ज्ञान बाँटने लगे तो १०० शिष्योंको ज्ञान देनेके बाद तो गुरु खाली हो जायगा, पर होता यह है कि गुरु जैसे-जैसे ज्ञान बाँटता तैसे तैसे उनका ज्ञानका विकास बढ़ता जाता है, देखा जाता है उल्टा। गुरु तो शिष्यपर करुणा दृष्टि करके शिष्यके आश्रयसे अपने अनुरागके अनुरूप चेष्टासे अपनी चेष्टा करता है पर उसका निमित्त पाकर जिस शिष्यकी योग्यता है वह अपने ज्ञानसे ज्ञानी बन जाता है। इसी तरह कोई किसीको सुख नहीं देता, कोई किसीको दुःख नहीं देता, कोई किसीको मूरख नहीं बनाता, सब कुछ स्वयं बन जाता है। देखो भैया ! अभी किसी बच्चे को हम ऐसा कहें कि बड़ा मूरख है, दस आदमी कहें बड़ा मूरख है, तो ऐसे मूरखपन का असर आ जाता है। बच्चोंसे सभी कहते हैं बड़ा बुद्धिमान है तो निमित्त पाकर स्वयं उस बच्चेमें बुद्धिका विकास हो जाता है। कोई कहे इसे मूरख बनाया गया तो झूठ है, कोई कुछ नहीं बनाता। हाँ निमित्त जरूर कोई होता है। आपको तो ऐसा निमित्त बनना चाहिये कि दूसरेका उत्कर्ष हो। सबसे श्रेष्ठ तो समाधि है, न समाधि रह सके तो ऐसा व्यवहार हो जिससे दूसरोंका हित हो। निमित्त भी कोई बननेसे बनता नहीं है। हां शुभभावसे पुण्य अवश्य बंधेगा, पाप वासना

दूर होगी।

सर्वत्र स्वयंका प्रभाव—यदि किसीका गौरव बढ़ाया जावे तो वह महान् बन जायगा किन्तु बाहर निन्दा शब्दको सुनकर मूरख बन जायगा, यहाँ भी अपनी योग्यतासे सब कुछ बना। यदि आत्मा स्वभावदर्शी है, बलिष्ट है तो वह कभी क्षोभ नहीं करता। किसी आत्माको विरोधी आत्मासे मिलानेसे क्या असर होता है ? असर उसमें ही उसीसे होता है। इस प्रकार से यदि अपने एक अन्तरमें ज्ञायक भावकी भावना की, उसका अनुभव किया तो अनन्त सुख चैतन्यस्वभाव हमारा सुप्रकट होता है। हाँ ज्ञान खुद अपने आप हुआ और नाम निमित्तका होता है। आप ज्ञानस्वरूप स्वयंसे हुए या आपके बाप दादोंने कर दिया ? आपके ज्ञानका कोई क्या कर सकता है ? किसीसे मिल करके आप ज्ञानी नहीं हुए। मैं दूसरोंको समझाता हूं ऐसा भाव उन्मत्त चेष्टा है पर स्वयंकी समझसे स्वयंको समझ प्रगट होती है। होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ? जैसे सुख ज्ञानकी बात है वैसी दुःखकी बात है। कोई मुझे दुःख नहीं देता, स्वयं ही कषायी होकर दुःखी होता हूं।

ज्ञान और आनन्दका स्वयंसे स्वयंमें विकास—यह अनन्त चैतन्य स्वभाव इसमें स्वयं प्रगट होता है। इसको अपने आपको यदि सुखके मार्गमें रखनेकी भावना हो तो सच्चा निर्णय करके कदम उठाओ। केवल बात करनेमें ही तो कुछ नहीं होता। बच्चा अपनेको बच्चा न समझे, जवान अपनेको समझे, करनेके दिन है, वृद्ध सब अवस्थाके स्वरूपको जानकर मोहमें से निकले, इस अज्ञानसे कदम हटाकर अपने अनन्य स्वभावमें लगे। परका कोई कुछ नहीं करता, मात्र अपने विकल्प ही करता है। धर्म कहो, सुख कहो वह तो अपनी ही अवस्थामें स्वयं होता। वस्तुका सत्त्व इसी हेतु व्यवस्थित है कि किसीकी भी द्रव्यके गुण किसी अन्य द्रव्यमें उत्पन्न नहीं होते। इस निर्मल दृष्टिको बनानेमें ही हमारा नरभव सफल है। नहीं तो अभीका पता नहीं क्या होना। आयुक्षय कब हो जाय, आयुक्षय होने पर बस फिर अवसर गया। ज्ञानोपयोगी आत्मा जब वस्तुके ठीक ठीक स्वतंत्र स्वरूपको पा लेता है और उस अवस्था स्वरूपके बोधको पाकर अपने स्वरूपके महत्त्वको देखता है, परपदार्थका लक्ष्य छोड़ता है बाह्य पदार्थका उपयोग दूर हो जाता है, ऐसी हालतमें यह जीव स्वयं ज्ञानमय हो जाता है। यदि चाह है कि इसको जान, अमुकको जान, ऐसा जाननेकी भी चाह जब होती है तब तक जानना पूरा नहीं होता और जाननेकी चाह मिट जाती तब जानना ३ लोकका हो जाता है। जगतके जीव दोनों ही को चाहते—ज्ञान और आनंद। बड़े बड़े लोग जिन्होंने सब कुछ छोड़ भी दिया, उपकारमें लग गये तो भी उनके भी ज्ञानकी सनक है, विज्ञानको चाहते हैं। प्रथम तो वे भी आनंदको चाहते हैं। दूसरे कुछ जीव ऐसे भी है जिनकी ज्ञानकी ओर बुद्धि नहीं तो वे जिन्हें सुख कहते हैं उनको चाहते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका

ज्ञान और आनंद सब चाहते हैं और उत्तम मनुष्य ज्ञान और आनंद दोनों चाहते हैं, फिर भी अंतरंग अवस्थाके अनुभवमें कहें तब उसके ज्ञान और आनंद दोनोंकी चाह छूट जाती है। अनुभवके कालमें कोई प्रकारकी चाह नहीं होती, इस प्रकारके भावसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जिन्होंने शुद्ध तत्त्वकी और लक्ष्यकी भावना की, अपने भावकर्मोंका नाश किया है उसने अपने अन्दर चैतन्य शक्तिको पा लिया है तो वह चैतन्य शक्तिका स्वयं कर्ता है। इस कारणसे कर्ता भी यही आत्मा है, यहाँ शुद्धोपयोगकी बात स्वयं स्वरूपकी बात है, शुद्ध स्वरूपको पाने वाला कर्ता स्वयं स्वरूप है। इसी प्रकारसे कर्ताके द्वारा जो भाव अपने आपका अपनेमें अनुभव होता है वह भी स्वयं स्वरूप है, भाव कर्म भी यह आत्मास्वरूप है। शुद्ध आनंद शक्ति चित्तस्वभाव रूप मन स्वभावके लिये साधकतम यह ज्ञानभाव ही है। ज्ञानके स्वरूपको देखा प्रतीत होगा कि ज्ञानके निज स्वरूपसे ही परिणमन होता है।

ज्ञानानन्दस्वरूपकी आलम्ब्यता—ज्ञान पाता कौन है, ज्ञान किसलिये पाया जाता है ? जाननेके लिये। जाननेके सिवाय और कोई मतलब नहीं। ज्ञानके साथ सुख तो है अविनाभावी ही है अर्थात् उसमें सुखका स्वरूप आ ही जाता है। ज्ञानको अभेद विवक्षासे देखो सुख नया कोई काम नहीं। ऐसा जानना बना रहना यही सुख है यह स्वयं निर्विकार स्वरूप है, इसलिये यह जीव अपने इस आत्माको सुखमय ज्ञानका स्वयं कर्ता है और यह स्वयं कर्म है। इसी तरह न ज्ञान भाव किसीके द्वारा है। स्वयं अनंत ज्ञानके विपरिणमन स्वभावसे समाश्रियमाण कौन है ? अर्थात् वह किसके लिये हो रहा है ? वह उसके लिये ही है। किसके बलसे यह ज्ञान प्रगट होता है ? पर्यायके लक्ष्यसे कहो—तो पर्याय विकार है। विकारके लक्ष्य से स्वभाव कैसे प्रकट होगा ? यह निर्मल पर्याय त्रैकालिक ज्ञायक भावके लक्ष्यसे प्रगट होती और उसका सम्प्रदान भी आत्मा है। जहाँ स्वभाविक भी पर्याय है वहाँ भी वह स्वयंके द्रव्यसे आश्रित है, किसी अन्य द्रव्यके आश्रयमें कोई अन्य द्रव्य नहीं परिणमता, इसलिये पर्यायके लक्ष्यसे यह शुद्ध स्वभाव प्रकट नहीं होता। यह शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है भावस्वरूप आत्माके लक्ष्यसे।

आत्माकी स्वचतुष्टयरूपता—आत्मामें चार चीजें हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्य तो कहलाता है पिंड, क्षेत्र कहलाता है उसकी जगह, काल कहलाता है उसकी पर्याय, भाव कहलाता है उसके प्राणवत् स्वभाव। तो आत्मामें जो हम द्रव्यकी दृष्टिमें देखते हैं— वह यह है, आत्माको क्षेत्रकी दृष्टिसे देखें तो देह प्रमाण है। जब कालकी दृष्टिसे देखते हैं तो संसार अवस्थामें रागमय है, क्रोधमय है, अज्ञानमय है, इस प्रकारसे देखते हैं और शुद्ध अवस्थामें अनन्त ज्ञानमय, दर्शनमय है, अनन्त सुखमय है, शक्तिमय है। शुद्ध पर्यायमें शुद्ध देखा जाता है। भावकी दृष्टिसे भाव—आत्मा—चैतन्य प्रतीत होता है। जब हम चैतन्य भावकी दृष्टिसे

देखते हैं तो, चैतन्य पिंडरूप नहीं। इस दृष्टिमें संख्या नहीं, चैतन्य पिंड रूप नहीं। इस दृष्टि में संख्या ही नहीं। पिंड तो द्रव्य दृष्टिसे है। इसलिये चैतन्य भावकी दृष्टिमें पिंड नहीं। जब पिंड नहीं वहाँ एक दो तीन चारकी गिनती ही नहीं है। वहाँ अनन्तकी गिनती नहीं, वह चैतन्यभाव क्या है ? एक भी नहीं है, एक भी तो सापेक्ष है। वह चैतन्य चैतन्य है उस चैतन्य भावकी दृष्टिमें संख्या उड़ गई है। चैतन्यभावकी दृष्टिमें ऐसा नहीं है कि यह इतनी बात है, इतने आकाशको घेरे हुए है, इतना शरीरप्रमाण है। चैतन्यकी दृष्टिमें आत्मा देह प्रमाण नहीं है। देखो भैया ! जिस दृष्टिकी बात की जा रही है उसके स्वरूपको देखकर अर्थात् उस ही दृष्टिसे निर्भय होकर उसके वितर्कमें रहना चाहिये। तब पता पड़ेगा कि चैतन्यभावका स्वरूप कैसा है ? वह क्षेत्ररूप नहीं, मात्र चैतन्यभावकी दृष्टिमें—अनंतज्ञान नहीं अनन्त दर्शन नहीं। अशुद्ध तो अपने आप निषिद्ध हो जाता है। अनन्त सुख अनन्तशक्ति भी नहीं, शुद्ध तरंग भी नहीं उस एक भावमात्रकी दृष्टिमें।

अभेदभावदृष्टिमें व्यवहारातीतता—अखंडित चैतन्य भावकी दृष्टिमें इस शुद्ध पर्याय रूप हम नहीं, अशुद्ध भी नहीं, रागद्वेष भी नहीं, शुद्ध अवस्था भी नहीं, फिर कैसा है वह ? चैतन्यभाव जो द्रव्य क्षेत्र काल व गुण भेदकी कल्पनासे परे है किसी सीमा रूप नहीं। उसका लक्ष्य होने पर पर्यायमें कैसा परिणमन होता है, जिस लक्ष्यके होनेपर उसके उपयोगमें संख्या न रहे ? वहाँ लक्ष्यमें कुछ द्वैत ही न रहेगा और गुणके प्रतिरूप भी विकल्पमें नहीं रहते ऐसी अवस्थामें यह पर्याय भी कुछ कालके बाद लक्ष्यके अनुरूप हो जाता है, जिन्हें कहते हैं वह परमात्मा एक है। वह परमात्मा एक किस ही में है। वह परमात्मा चैतन्यभावकी दृष्टि में एक है जिस दृष्टिने पिंडको छोड़ रक्खा है। यह भाव दृष्टिसे वर्णन हो रहा है, वस्तुमें तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव चतुष्टयका यह स्वभाव गुम्फित है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको गौण करके मात्र चैतन्यभावकी दृष्टिको देखते हैं तो एक ही एक है। एक है यह विकल्प है, संख्याका मूल है, उसे एक भी नहीं कह सकते, केवल चैतन्यभाव है उस चैतन्यभावकी अपेक्षा चैतन्य भाव है। परन्तु ज्ञान तो भावको भी जानता; द्रव्य, क्षेत्र, कालकी अपेक्षाको भी जानता, हमें क्या-क्या कमसे कम मानना है ? प्रमाणसे जानना तत्त्वको। प्रमाणसे जाननेके बाद निश्चय का अवलम्बन करे, ऐसा दृढ़ अवलम्बन करे कि निश्चय पक्षसे भी छूट जाय तो फिर, प्रमाण निश्चय व्यवहार तीनोंका ही व्यवहार नहीं रहता, वह अवस्था शुद्ध स्वरूप रहता है।

नयातीत स्वरूप—यहाँ पर आवश्यक है, परम दृष्टि रखनेकी सर्व नयोंसे जानकर सबको ठीक ठोक प्रमाण दृष्टिसे सबके पूर्ण स्वरूप जाने, ऐसा ज्ञानी बनकर फिर व्यवहारका विरोध न करके, निश्चयका ऐसा अवलम्बन लिया जाय कि व्यवहारकी तो बात क्या निश्चय दृष्टि भी छूट जाय, व्यवहार छोड़नेकी चीज नहीं, निश्चय भी छोड़नेकी चीज नहीं। दोनों ही

छूट जानेकी चीज हैं और प्रमाण दृष्टि भी छूटनेको चीज है। प्रमाण नहीं छूटता, प्रमाण तो ज्ञानको कहते हैं। सर्वनय समूहकी दृष्टि छूट जाती है। परमपदमें पहुंचनेपर ये आत्मा किसी भी विकल्पको नहीं करते हैं। चाहे आत्मा रागी है ऐसा कहें या रागी नहीं ऐसा कहें वह सब पक्षपात है, इस निर्विकार आत्माके अनुभवमें आनेपर न व्यवहारनय उदित होता है और न निश्चय नय दोनों ही पक्ष हैं। जहां न नय है, न प्रमाणका विकल्प है और न निक्षेप है और की बात क्या, जिसके अनुभवमें आनेपर, अनुभव होनेकी दशामें और कुछ नहीं रहता तब देखो जैसा व्यवहार साधन है निश्चयकी दृष्टि साध्य है। इसी तरह निश्चय दृष्टि साधन है और अनुभव साध्य है। व्यवहारकी दृष्टि साधन है परन्तु व्यवहारकी दृष्टि कभी साध्य नहीं है। इसी तरह इस ओर भी देखें—निश्चयके विषयमें विचारें—निश्चय दृष्टि भी साधन है साध्य नहीं। अनुभवमें आनेकी बात उपादेय है, इस दृष्टिमें केवल व्यवहार ही हेय नहीं रहा किन्तु, निश्चयदृष्टि भी हेय हो गई। फिर भी व्यवहार छोड़नेकी चीज नहीं, न निश्चय छोड़नेकी। और दोनों ही छोड़नेकी चीज नहीं, ये सब छूट जानेकी चीज है। केवल अनुभव मात्र वह आत्मा है। जैसा कि कोई विद्यार्थी पढ़े और उसे बी० ए० पास करना है तो लगता है ऐसा कि एफ० ए० तो छोड़नेकी चीज है। छोड़ता नहीं, परन्तु पढ़ चुकनेपर वे भी सभी गौण होनेसे छूट जाते, मात्र अनुभव और काम रहता है। अशुद्ध उपयोग हेय है और शुद्धोपयोग हेय है। निश्चयसे स्वभाव उपादेय है ऐसा जब कहा जाता है वह व्यवहारमें ही लिप्त रहने वालेके ही लिये कहा जाता है। व्यवहार छूटनेके बाद निश्चय दृष्टिके दृढ़ अवलम्बनके ही द्वारा निश्चयका पक्ष भी छूट जाता है तब केवल अनुभव रहता है, इस दृष्टि वालेको जैसे व्यवहार दृष्टि तैसे निश्चय दृष्टि, यह भी संसार है यह दृष्टि भी जैसे छूट जाय वह अनुभवकी दशा है।

ॐ के आकारमें अध्यात्मसन्देश—देखो ओ३म् बनता है इस तरह ॐ इसमें जो ३ ऐसी गुड़ेरी हैं, यह व्यवहारका प्रतीक है। व्यवहार नयसे उलझन होती, ये नाना रूप है, व्यवहारके विषय बहुत हैं, यह भी ३ जैसा है। ३ का अर्थ बहुत है तो यह ३ का शब्द व्यवहार नय को सूचित करता है और उसके आगेमें डण्डाको छोड़कर शून्य है यह निश्चयनय का प्रतीक है, जिसमें न आदिका पता, न मध्यका पता, न अन्तका पता, इसमें ओर नहीं छोर नहीं, शून्य है। अब व्यवहार व निश्चयनयको जोड़ने वाला बीचका डंडा है यह प्रमाणका प्रतीक है। प्रमाण दोनों नयोंको सापेक्ष बताता है। यह डण्डा दोनोंको छुए हुए है। परन्तु वह ऊपर वाली अर्धचन्द्रकी कला, वह खाली अनुभवकी कला अब भी यह कह रही है, तुम चाहे जितना ही मिले रहो हम तुमसे बिना छुए ही है। व्यवहार निश्चयनय व प्रमाण तुम तीनोंसे हम ऊपर हैं, यह अनुभव कला है, और अनुभवकला कैसी है कि मेरे इस कलाके

बीच ही वह शून्य होगा, यह शून्य पूर्ण सुखी निर्दोष परमात्माका प्रतीक है। यह शुद्ध आत्मा ही शुद्ध देव है जिसमें कोई भी राग द्वेष आदि दोष नहीं हैं वह शुद्ध हो गया। वह क्रोध, काम आदि सर्व दोषोंसे रहित है इसलिये शून्य हो गया। ऐसी अनुभवकलाके अन्दर आत्मा प्राप्त होगा। शुद्धपर किया जाने वाला उपयोग रूप प्रयत्न भी हेय है।

उपादेयता—देखो अशुभोपयोग, शुभोपयोग हेय, शुद्धोपयोग न हेय न उपादेय किन्तु शुद्धोपयोगका फल उपादेय है। अहो उपादेय नहीं उपादान है, उपादेय कुछ भी नहीं है। उपादान क्या है, उपादान, अर्थात् ग्रहण वह शुद्ध ही है, तब हेय कुछ नहीं है, उपादेय कुछ नहीं है। ज्ञानका जैसा स्वरूप है उसका लक्ष्य रखो जो कोई हेय है वह छूट जायगा और जो उपादेय है वह मिल जायगा। कहीं कोई न हेय रहता, न उपादेय रहता, किन्तु शुद्ध दशामें यह उपादान रहता है। उपादेयके मायने ग्रहणके योग्य वह व्यवहार ग्रहणके योग्य नहीं रहता, ऐसा सुनकर जैसा निश्चयावलंबी व्यवहारको छोड़ देते हैं उसी तरह व्यवहारावलंबी निश्चयनयसे छूट जाते हैं। कहा क्या छूट जाता है ? इसका निर्णय ठीक करो, जो निश्वय नहीं जानते हैं वह व्यवहारको ही उपादेय कहते हैं। उन्हें व्यवहार हेय कहकर निश्चय नयके विषय पर प्रेरणा की है। निश्चितनयमें पहुंचनेपर निश्चयनय भी छूट जाता है। इसलिये भैया एक बार इस निज तत्त्वको देखो, देख लेने पर भ्रम नहीं रहता, उसका मार्ग ठीक आ जाता है। क्या कारण है ? अपने आप आ जाता है। हाँ रागके प्रयोगमें दृष्टि उसके निर्विकार विकल्परहित देवकी रहती है। समयसारमें लिखा है जीवके कर्म बद्ध है ऐसा माने वह भी पक्षपातमें पड़ता है और कर्म नहीं बंधे ऐसा माने वह भी पक्षपातमें पड़ता है। दोनों ही अनुभव दशाको नहीं आ पाते। यदि ऐसा विचारा है कि जीवके राग है तो भी पक्षपात रहा और राग नहीं तो भी पक्ष है। निश्चयका पक्ष छोड़ा तो व्यवहारपर पक्ष किया, व्यवहार पक्ष छोड़ा तो निश्चयपक्ष किया। दोनों पक्षपातोंसे रहित अवस्था अनुभव ही है। प्रमाणित ज्ञान होनेके बाद भी कोई दृष्टि बनी रहे कोई हानि नहीं, परन्तु जब अनुभव करो, तब सब प्रकारकी दृष्टिसे अतीत होकर शुद्धता अनुभव हो जाती है। यह शुद्ध स्वरूपकी स्वतन्त्रता है वह शुद्ध स्वरूप उससे पैदा उसने किया या किया क्या ? उसके द्वारा हुआ, उसमें हुआ उसकी ही एक अवस्थासे होकर दूसरी अवस्थामें आनेको हुआ, ऐसा स्वरूप अवस्थाकी स्वतंत्रतासे हो गया, इस प्रकारकी निश्चयनयकी दृष्टिका अवलम्बन होता है फिर निश्चयनयकी दृष्टि ही हट कर जब अनुभव दशामें गये और उसमें स्थिर रहे तो उसके शुद्ध स्वभावकी अवस्था स्वयमेव हो गई।

आश्रयका उत्तरोत्तर परिहार—भैया ! अब जरा अपनी ओर तो देखो सब अवस्थाओं में कहाँ क्या होता ? बच्चा पैदा हुआ अब उसको करनेकी चीज क्या है बड़ा हुआ तब मंदिर

चलो, दर्शन करो, पूजा करो और बड़ा हुआ ज्ञान हुआ। ज्ञान होनेपर दृष्टि परपदार्थको ओर रखी और समझा हितस्वरूप यह ही है। उस पदार्थके स्वरूपमें इतना अनुरागी हुआ कि व्यवहारसे गिरकर भी उसका व्यवहार बना रहा कि जैसा करता था कर भी रहा, परन्तु दृष्टिमें तत्त्व न पाया। जैसे वे व्यवहारको करते थे, उसमें उत्तम संशोधन नहीं हुआ। कुछ ज्ञान होनेपर निश्चयतत्त्वमें स्थिरता होने लगी, वहां भी व्यवहार चल रहा है परन्तु व्यवहार हमारा कारण ही है—यह भी अंतरंगमें कल्पनाश्रद्धा नहीं रही। तत्त्वके स्वाद होनेपर उसके चित्तमें विषयवासना नहीं रहती गृहस्थ अवस्थामें। ऊपर तो सवाल ही क्या ? इसलिये यह सब झंझट छोड़ देना। मैंने अपने स्वरूपको समझा अब घरके रहनेसे क्या प्रयोजन ? परिवार से क्या प्रयोजन ? कुछ भी मेरा आत्मलाभ इसमें नहीं है, इस झंझटसे आत्मामें स्थिर नहीं रह पाता, इस गृहस्थकी आगसे वह बचता है, उसको त्यागकर साधु हो जाते हैं वहां भी सूक्ष्म व्यवहार निमित्त आदिके चलते हैं। वह सब सूक्ष्म व्यवहार रह गया वहां भी ज्ञानी की दृष्टि नहीं है मात्र ज्ञायकभावपर दृष्टि है। इसलिये शुरूसे अन्त तक ज्ञानी होने वाला यही करता है। जब एक निश्चयनयकी दृष्टिका स्वावलम्बन लेता है तो वहां सुज्ञात किया हुआ वह चैतन्य-स्वभाव सम्यग्दर्शनका विषय है, निश्चयनयका विषय सम्यग्दर्शन नहीं, वह खंडित परम आत्मा है, तब देखो भव्य सम्यक्त्वानुभवमें निश्चयनयकी भी दृष्टि छोड़ देता है—जैसे व्यवहार नहीं छूटता व्यवहारनयकी दृष्टि छूटती है, इसी तरह निश्चयनयकी दृष्टि छूट जाती है। इस तरह व्यवहार दृष्टि भी छूटी निश्चयदृष्टि भी छूटी तब परमपदका अनुभव हुआ।

निजनिष्पन्नता—यह प्रकरण स्वयं सिद्धिका चल रहा है। वस्तु आत्मस्वभाव वाले स्वयं ही हैं उनमें जिनमें विकास हुआ है ? वह तत्त्व स्वयं हुआ है उसको करने वाला भी स्वयं, जो हुआ वह भी स्वयं, जिसके द्वारा हुआ वह भी स्वयं और जिसके लिये वह भी स्वयं, जिसमें हुआ वह भी स्वयं। वस्तुकी स्वतंत्रताका कहाँ तक दर्शन किया जाय ? यह शुद्ध आत्माकी बात है, लो लौकिक दृष्टान्तको भी देखो तो स्वयं ही स्वयंका मूल है, दर्पण है—दर्पण अपने स्वयंके प्रतिबिम्बके लिये किसी वस्तुकी प्रतीक्षा नहीं करता, जो सामने चीज आजाय वह चीज अपने चतुष्टयसे आई, दर्पण तो अपने ही चतुष्टयसे अमुकरूपमें परिणमित हो गया। इस वस्तु के प्रतिबिम्बरूपमें परिणमन किया यह दर्पण अपनेसे ही परिणमता है। कल्पना करो, यदि वह सामने चीज न हो तो दर्पणको यह घबड़ाहट नहीं कि अब कैसे परिणमन हो ? वस्तु है द्रव्य है उसका परिणमन करना स्वभाव है, परिणमता ही रहता है। अमुक सामने उपस्थित है तो अमुक रूप परिणम जाय और अमुक रूप है तो और रूप परिणम जाय कुछ न हो तो अपने आपमें ही स्वच्छ रूप परिणमता रहेगा। दर्पणका परिणमन कितना स्वतंत्र है दर्पणके स्वरूपमें लेकर देखो दर्पण की पर्याय अत्यन्त स्वतंत्र है। इसी तरहसे अशुद्ध अवस्थामें भी यह

आत्मा परिणमनमें अत्यन्त स्वतंत्र है। अनन्तकालसे भावकर्मसे मलीमस यह आत्मा अपने परिणामके व्रतके लिये चल रहा है, परिणमन इसका कभी समाप्त नहीं होगा। आये हुए कर्म कहीं अपने स्वरूपसे आत्माको लपेटकर रागी नहीं बनाते। कर्म उदयावस्थाको प्राप्त होता है। इसकी उपस्थितिमात्रसे यह आत्मा अपनी विभावपरिणतिसे परिणम कर खुद रागी बनता है यदि लोभमय अशुद्ध परिणमन है वह। इसी तरह क्रोधादि परिणमनोंमें भी ऐसी ही स्वतंत्रता समझनी चाहिये।

लोकेषणाके परिहारसे साम्यप्राप्तिका अनुरोध—यह सब परिणमन होता है अपने स्वरूपसे। एक वजनदार वस्तु ४ आदमी उठाते हैं, उन चारों आदमियोंमें जो शक्तिका परिणमन होता है उन चारोंका उनका उनमें ही होता है, हर एकका कार्य हर एकमें, हर एकके सम्बन्धमें भी उसीमें होता है। किसीका कार्य किसी वस्तुमें नहीं होता और न किसी वस्तुके द्वारा होता है। यह बात अशुद्ध अवस्थामें भी मौजूद है, तब जो शुद्ध अवस्थामें होने वाले केवली हैं, वे अपने स्वभावसे ही स्वभाववाले हैं व ज्ञानी भी। क्या वे सिद्ध लोकमें पहुंचे इसलिये शुद्ध हो गये, उनका स्वरूप क्या देव देवता पूजने आ गये इसलिये शुद्ध हो गया? या नये कोई गुरु आदिके कारण इनका स्वरूप शुद्ध हो गया अपने आप शुद्ध हो गया। यह चैतन्य भगवान जिसमें परिणमन भी हो रहा जिसमें अंतरंगभाव पर्यायमें आ रहा, इस तरंग का आधारभूत जो ध्रुव तत्त्व है वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है, इसका ही लक्ष्य किया जाय वही हमारा सब कुछ रह जाय तो इस आत्माको स्वयंभू और स्वतंत्र बननेमें फिर विलम्ब नहीं होगा।

सहजानन्द गीतामें एक साम्यका प्रकरण हो, उसमें अपनी पर्याय बुद्धि हटनेके लिये प्रथम ही प्रथम यशकी चाह पैदा न हो, इसलिये वर्णन है। कहा कि देखो भाई तू यह चाहता है कि मेरी कीर्ति दुनियामें बहुत फैल जाय परन्तु तुम्हें याद है यह दुनिया कितनी बड़ी है? ३४३ घनराजू है। तेरी बातके फैलाव कितनी दूरमें हो पाते हैं तू अंदाज कर, ३४३ घनराजूके सामने मानी हुई १०००० मीलकी यह दुनिया कितनी बड़ी चीज है, न कुछके बराबर चीज है। इतनेमें ही मोह रखकर तू अपना बिगाड़ क्यों करता है? तू यश चाहता है कि मेरा यश रहे, पर बस सदैवका काल कितना बड़ा है, अनन्तकाल बड़ा है जिसका कभी अन्त नहीं आ सकता। यदि तेरा यह अनंतकाल रह सकता है तो कर, परन्तु केवल कल्पना किया हुआ यश किसीका ५० वर्ष व १०० वर्ष भी कभी रह जाय, कोई गुण गाय, फिर तो नष्ट हो ही जाता है, सदैव रहने वाली चीज तो नहीं, तो फिर थोड़े समय को ऐसी न टिक सकने वाली चीजसे मोह करके अपने ज्ञान दर्शनको क्यों बिगाड़ते? लोग यह चाहते हैं कि सारे जीव मेरा यश गायें, ये सारे जीव कितने हैं अनन्तानन्त हैं, १०० ने यश गा दिया, एक

लाखने गा दिया तो उस समस्त अनन्त जीवोंके मुकाबिले यह संख्या कितनी है, थोड़ेसे लोकमें वह मोह रखकर ज्ञान दर्शन स्वरूपका ध्यान क्यो करता है और फिर जो यश यह है वह स्वयं अनित्य है और जिस घटनाको पाकर यह होता है वह घटना भी अनित्य है और यश की चाह भी अनित्य है तब यश की चाह क्या हुआ ? अनित्य अनित्यमें अनित्यको नित्य बनाना चाहता, यह पता नहीं उसका कितना समय शेष है ? जिन लोगोंमें यह चाह है वे भी अनित्य, जो चाह करता वह अनित्य है, जो चाह है वह भी अनित्य है। इस चाहकी तरफ वह घटना अनित्य है। अब देखो अनित्यमें अनित्य, अनित्यको नित्य बनानेका प्रयास करना चाहता है जो कि असम्भव है। इस तरहसे विरक्त होकर वस्तुके स्वरूपको अपनी श्रद्धामें उतारकर व्यवहारमें क्या पड़ रहा, उसका ज्ञाता रह।

निजके लक्ष्यसे स्वयंभुपदलाभ—हे भाई ! अपनी श्रद्धामें अनन्त वस्तु स्वरूपको ठीक समझकर निमित्तको गौण करके खुदको तो देख। अपने पथका अपने आपमें निर्णय करना विवेक है, परपदार्थका लक्ष्य ही हमारी परतंत्रता है, जो स्वयंभु हुए उन्होंने क्या किया—अपनी उपादान शक्तियोंके प्रबल होनेसे, अपने ही निज ज्ञानभावका आह्वान किया, अपने आपमें ही लीन होनेका प्रयत्न किया। बाह्य जो कुछ भी हैं, माता पिता पुत्र सम्पदा मकान आदि जिनके सम्पर्कमें गृहस्थ जिनसे मोह करके, धैर्यके ख्यालके लिये अवकाश नहीं पाता, ऐसे बाह्य पदार्थका लक्ष्य न रखकर केवल निजी ज्ञानभावका लक्ष्य रखें, चैतन्यभावका लक्ष्य रखें जिसमें यह भी पता नहीं पड़े कि क्या किस जगह है ? किस रूपमें है ? कहाँ है ? केवल चैतन्यभावके अनुभवमें उस शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रसादसें घातिया कर्मके नहीं होने से यह स्वयंभू पद पा लिया जाता है।

ज्ञानलाभका सम्प्रदान, अपदान और अधिकरण—कल यह बातचीत चल रही थी कि यह शुद्ध अनन्तशक्तिमान का ज्ञान किसके लिये है ? खुदके लिये। यदि कोई ज्ञानी बनता है तो फल क्या है ? जानना, जाननेका फल जानना है, जो जाननेका फल और कुछ चाहना है—यही संसार है, जाननेका फल जानना ही है यह तो मोक्षमार्ग है। जो जानने का फल, जाननेके अतिरिक्त अन्य कुछ चाहता है, बस इसके मायने मोहका मार्ग है, इसलिये शुद्ध आत्माका जो ज्ञान है उसका फल जानना ही है, सम्प्रदान–प्रयोजन ज्ञान ही है, आप ही अपादान कारक है। जब यह जीव शुद्ध अनन्त शक्तिमान ज्ञानके परिणमनमें था उस समयमें उस की क्या दशा हुई कि पहिले जो विकल्प ज्ञान था, पहिले जो अन्धेर ज्ञान था उस अन्धेर ज्ञान स्वभावका तो विनाश हुआ और सहजज्ञान स्वभाव रूपसे वह रहा, इस लिये अपादान बन गया। वृक्षसे पत्ता गिरता है, यह अपादान कारकका उदाहरण है। अपादान उसे कहते हैं जो किसीका विनाश या वियोग हुआ और कोई चीज ध्रुव रही तो ध्रुव रहने वाली चीज अपा-

दान कहलाती है। पत्तेका नाश हुआ, वृक्ष ध्रुव रहा, उसी जगह खड़ा रहा, इसलिये अपादान कौन कहलाया ? वृक्ष कहलाया। वृक्षसे पत्ता गिरता है, वृक्षसे यह अपादान कारक है तब पंचमी विभक्ति है। इसी तरहसे जब ज्ञान शुद्ध होनेको हुआ तो सहज ज्ञानस्वभावसे प्रकट हुआ। चीज हुई क्या ? सिद्ध अवस्थामें उस आत्माके सहज ज्ञानस्वभावमें से पहिले जो विकल्प ज्ञान स्वभावकी तरंग निकल रही थी वह अंधेर ज्ञान स्वभावकी तरंग भाग गई विनष्ट हो गई, विलीन हो गई। तब सहजज्ञान ध्रुवका ध्रुव रह गया, इसलिये शुद्ध आत्म-स्वभाव होनेसे आत्मा ही उपादान है। इसी तरह अधिकरण कारकको कहते हैं। जब शुद्ध अनंत सूक्ष्म ज्ञान अपना सहज स्वरूपका, परिणमन कर रहा है उस समयमें उस ज्ञानका आधारभूत क्या है ? आपने उत्तर पा लिया होगा, उस ज्ञानका आधारभूत वही ज्ञान है इस लिये शुद्धज्ञानका अधिकरण (आधार) अन्यत्र कहीं नहीं, आत्मा है।

षट्कारकताकी पद्धति—सारांश यह है कि आत्माने आत्माको आत्माके लिये आत्मा के द्वारा, आत्मासे आत्मामें पा लिया। व्यवहारमें तो भिन्नषट्कारकका प्रयोग होता है। जैसे एक कुम्हारने दंड चक्र आदिके द्वारा मिट्टीके लोंदेसे मनुष्यके उपयोगके लिये अपनी कुटीमें घड़े को बनाया। कुम्हारने यह तो कर्ता हुआ, घड़ेको यह कर्म हुआ। दंड चक्रके द्वारा बनाया वह करण हुआ। लोगोंके उपयोगके लिये यह सम्प्रदान हुआ और मिट्टीके लौंधेसे बनाया, यह अपादान भी भिन्न हुआ और अपनी कुटीमें बनाया तो उसके कामके जैसे कारक जुदा-जुदा हैं वैसे अपने धर्म कर्मकी अवस्थामें कारक जुदा जुदा नहीं होते। यह आत्मा ही धर्ममय आत्माको धर्ममय रहनेके लिये धर्मस्वभावसे ही, धर्ममय आत्मामें ही पा लेता है। यहां अभिन्नषट्कारक कहनेका प्रयोजन यह है कि अपने धर्मभावको पैदा करने के लिये परपदार्थ को मत ढूंढो, वह अपने आपही आपमें मिल जायेगा, इसका प्रयोजन यही है। जिनके अपने धर्मका अपने आपमें श्रद्धान् नहीं, उनके केवल बाह्य बुद्धि ही रहती है। चलो तीर्थमें धर्म ढूढेंगे मंदिरमें धर्म लेंगे, गुरुसे धर्मका मार्ग मिलेगा, पुस्तकसे धर्मका ज्ञान मिलेगा, बाह्य पदार्थमें भीतरके उपयोगमें न रहकर उपयोग रखता है। मोही क्या करते हैं, बाह्य ही का लक्ष्य रखते हैं, भीतर रीता रह जाता है सो धर्मस्वभाव पैदा नहीं होता, परन्तु धर्मके इस रहस्यको जानने वाले उसी तीर्थमें अपने स्वरूपमें बैठकर अपने स्वरूपमें अपने धर्मका विकास कर लेते हैं और देवमूर्तिके समक्ष बैठकर अपने आपमें इस निज धर्मको पैदा कर लेते हैं। मंदिरमें बैठ कर गुरुके समक्ष बैठकर अपने धर्मकी परिणतिसे अपनेमें धर्ममय आत्माको पा लेते हैं। दर्पण में जो पदार्थका प्रतिबिम्ब हुआ वह दर्पणमें अपने आपसे हुआ या बाह्य पदार्थकी कोई परि-णति मिला-जुलाकर हुआ दर्पणका रूप दर्पणके रूपका प्रतिबिम्ब है। यह स्वयंकी चीज चल रही है।

निज कारणका अवलम्बन—जैसे कल कहा था कि शुद्धोपयोग न हेय, न उपादेय, शुद्ध स्वरूप उपादेय भी, किन्तु शुद्धस्वरूप उपादेय भी नहीं, शुद्धस्वरूप उपादान रह जाता है वह तो उपचार व्यवहार अशुद्ध निश्चय, शुद्ध निश्चय प्रमाण और इन सबसे अतीत परम पद है। इतनी भूमिकाओंको आश्रय करके वस्तुको स्वरूपका निर्णय करना। जिस जगह जाकर जिसका निर्णय करें उसी जगहका निर्णय कर उस जगहकी उसकी बात देखो—स्वयंभु आत्माके स्वरूपका वर्णन चल रहा है। इस आत्माकी स्वतंत्रताको देखो, इस स्वतंत्रताको लेकर खूब विचार करो—आत्मामें जो कारण निकाला, जिसने अनंतानंत पर्यायोंको उत्पन्न करके भी अपनी ध्रुवता नहीं छोड़ी, उसही स्वभावसे स्वतंत्रतया, अन्यकी परिणति न लेकर पर्याय उत्पन्न होती है। भगवान सर्वज्ञदेवके यह केवलज्ञान स्वभावको कारणतया ग्रहण करके स्वयं ऐसा ज्ञान हो गया। हमारा भी खुद उस ज्ञानसे ही परिणाम हो गया है। इस जगतमें भी उस विभाव अवस्थाके स्वयं स्वरूपको देखकर निर्णय करें तो उस अवस्थाका परिणमन भी उस वस्तुमें ही हुआ, परवस्तुसे हुआ नहीं।

समवशरणमें भी स्वके आलम्बनसे उद्धार—समवशरणमें भी बैठा हुआ भव्य जीवमें सम्यग्दर्शन हुआ वह भगवानका नहीं क्या, भगवान सम्यग्दर्शनको निकालकर भव्यजीवमें कर देते हैं ऐसी बात है ? देखो वस्तुके स्वरूपकी स्वतंत्रताका विचार है, होता क्या है, वह भव्य जीव अपना ही प्रयत्न करता है। वहाँ दिव्य ध्वनि सुनता व उसका विचार करता है। उस ध्वनिको सुनकर या गणधरके उपदेशको सुनकर अपने आप उन बातोंकी कोशिश करता है, भगवान का उपदेश था—जब तक तुम हमारा भी लक्ष्य रखोगे, सम्यक्दर्शनका अनुभवन पा सकोगे। बतलाया कि जब तक तुम सूक्ष्म भी विकल्प रखोगे तब तक सम्यक्त्वकी अनुभूति न होगी। सर्व कुछ निर्णयके बाद और इसके निर्णयके बाद वह समस्त लक्ष्यसे दूर हो जाता है उसके तब सम्यक्त्वकी अनुभूति होती है। उसमें समवशरण या भगवानकी पर्याय व गणधरदेवकी पर्याय आदि कोई आश्रय नहीं, उसके उस परिणामका आश्रय भगवान भी नहीं, उसके उस परिणामका आश्रय गणधर देव भी नहीं, उसका और कोई भी आश्रय नहीं होता है। इससे आपको मालूम हुआ होगा कि प्रत्येक द्रव्यकी कितनी स्वतंत्रता है परन्तु इस स्वरूप को न जानकर जगतमें मोही जीव यह कल्पना करता है कि मैंने इसको बनाया, मैंने इसको पाला, मैंने इसको बड़ा किया और यही कारण है कि यह मनुष्य इस कुमतिमें रहकर जीवन की अंतिम सांस तक भी दुःख ही दुःख पाता है।

प्रभुकी आज्ञाके पालनकी भक्ति—हम भगवानकी पूजा तो करते हैं, भगवानकी भक्ति करते हैं पर भगवानकी एक बात माननेके लिये कदम नहीं उठाते। भगवानकी असली भक्ति उनकी आज्ञा माननेमें है। उनकी यह आज्ञा है कि जैसा वस्तुका स्वयं रूप है वैसी ही श्रद्धा

करो, कोई पदार्थ किसी पदार्थके आश्रित नहीं है। आत्मामें राग भाव होता है पर आत्माका वह राग भाव कर्मके परिणाममें नहीं होता है। कर्मके परिणाममें कर्मका परिणमन ही है, हां अशुद्ध उपादानके समक्ष कर्मका उदय निमित्तमात्र है जिससे तब वह रागभाव तुरन्त ही अशुद्धोपादानके आश्रयमें विकास पाता है। परन्तु यह जगतकी खासियत है कि वस्तुके अशुद्ध पर्यायका विकास होता है उस कालमें बाह्यमें कोई अन्य वस्तु उपस्थित होती है जिसका निमित्त पाकर उस उपादानमें रागादिकी परिणति आत्माकी सर्वपरिणति आत्माके क्षेत्र काल भावसे ही होती है। यह वस्तुस्वरूपका वर्णन है। फिर एक दृष्टान्त लो, दर्पणमें यदि नीली चीजका प्रतिबिम्ब हुआ तो यह बतलाओ कि दर्पणके अतिरिक्त किसी अन्यकी परिणतिसे है? दर्पणके जो रूप रस गन्ध स्पर्श हैं उनमें से रूप गुणका परिणाम वह नील है, दर्पणका परिणाम यह नील है। बाह्य वस्तुको निमित्तमात्र पाकर अर्थात् बाह्य वस्तुसे कुछ न मागकर यह दर्पण अपने ही आप परिणम गया अर्थात् बाह्यवस्तुका निमित्त पाकर बाह्यसे कोई चीज न मांगकर यह दर्पण अपने गुणसे अपने आपमें उसरूप परिणम गया। आप कहोगे इस जगह से यहाँ निमित्त हटाकर रख दिया तो अब कैसे परिणमन करेगा? भाई! परिणमनके लिये कोई प्रतीक्षा नहीं करता। जब जैसा योग हो वैसा परिणम जाता है, वह वैसा अपने स्वरूप से अपने आपही इस प्रकारसे निमित्तमात्रको पाकर उस अवस्थामें अपने आप अपने में षट्-कारकोंको लेकर परिणमन होता है, बाह्यवस्तुका कोई अंश किसी अन्य पदार्थमें नहीं जाता, यह वस्तुकी स्वतंत्रता है।

उदाहरणपूर्वक स्वयंभुताका विवरण—यह शुद्ध आत्मस्वभावका प्रकरण चल रहा है। शुद्ध अनंत शक्तिमय ज्ञानके परिणामके स्वभावका आधार स्वयं ही ज्ञानमय आत्मा है इस लिये यही आधार हुआ—स्वयं ही षट्कारक रूपसे उत्पन्न होता हुआ उत्पत्तिकी अपेक्षासे द्रव्यकर्म भावकर्म इस प्रकारसे दो प्रकारके जो घातिया कर्म हैं उनको दूर करके स्वयं ही आविर्भूत होनेसे वह भाव स्वयंभू कहलाता है। इस आत्मस्वभावको टंकोत्कीर्णकी उपमा दी है। एक बहुत बड़ा पत्थर है, पत्थरमें एक बालिस्तकी प्रतिमा निकलती है तब वह कारीगर को कहता है। कारीगरने देखा जैसा कि यह चित्रमें है या अमुक मूर्ति है, इसी तरहकी मूर्ति बनाता है। उसने उस मूर्तिको देखा जो पहिलेसे बनी हुई थी, उसमें मूर्तिको देखकर उस कारीगरके हृदयमें उस मूर्तिका पूरा रूप आ गया, अब उस मूर्तिको छोड़ दिया, वह आकार हृदयमें ज्ञानमें आ गया उसे यह श्रद्धा हुई कि मुझे यह बनाना है तो उसको उस दो हाथके लम्बे चौड़े पत्थरके बीचमें वह प्रतिमा दिख रही है जैसा कि उसे बनाना है। उस पत्थरके बीचमें वह प्रतिमा देख रहा है। यदि न देखे तो वह प्रतिमाको बना नहीं सकता, सारा पत्थर ही बिगाड़ देगा। टांकीको यहाँ वहाँ अट्टसट्ट क्यों नहीं लगाता, वहाँका ही पत्थर क्यों निकाल

रहा है ? उसके बीचमें मूर्ति दिख रही है, इसके आवरक पत्थर ही वह टांकीसे उकेरता है। क्या करता है ? मूर्ति बनाता है ? नहीं बनाता है, पत्थर निकालता है। काम को देखो क्या कर रहा है ? कारीगरके कामको देखो। कारीगर मूर्ति बना रहा है, नहीं बना रहा है, क्या कर रहा है, पत्थर निकाल रहा। बहुत पत्थर निकाल दिये, मूर्ति निकल आई। मूर्ति बनाई नहीं उस रूपमें देखकर और पत्थरके जो आवारक थे टाँकीसे दूर कर दिये। उस आकारमें मूर्ति बन गई, अब उस पर जो आवरण है उस सूक्ष्म आवरणको निकाले जा रहा है। क्या कर रहा है ? मूर्ति बना रहा है। नहीं बना रहा है। वह मूर्ति बनी है तब ही से जबसे उस कारीगरने पत्थरको देखा कि इसमें यह बनाना है। जब इसका पत्थर बड़ा था तब भी मूर्ति थी, जब सूक्ष्म पत्थर निकला तब भी मूर्ति है, मूर्ति कहाँ बनाई ? मूर्तिके आवरणको निकाला वह मूर्ति स्वयं प्रकट हो गई। परन्तु एक बात देखी वह कारीगर पत्थरको निकालता था, पर उसका लक्ष्य रहता था मूर्ति पर। कैसी क्रिया की है, इसी तरह जिसमें यह कार्य परमात्मा होवेगा उस स्वभावके प्रकट करनेको इस कारीगरको सम्यग्दृष्टि कारीगरको उस शब्द परमात्मा गुरुकी आज्ञा हुई—तुम बनाओ। मुझ कारीगरको विश्वास हो गया कि हमको यह बनाना है ऐसी बात प्रमाण करके अशुद्ध पर्यायमें भी सम्यग्दृष्टि कारीगर उस शुद्ध ज्ञायकभावको जिसे कि बनाना है देखता रहता है कि यह बनाना है अब करता क्या है। यह देखो। इस दृष्टान्तमें यहाँ इतना फर्क है कि कारीगरको कार्य करनेके लिये टांकी और हथोड़ेकी आवश्यकता हुई परन्तु सम्यग्दृष्टिको काम करने के लिये किसी बाह्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती है। इस ज्ञायकपदार्थका लक्ष्य ही टांकी है, यह लक्ष्य ही चोट है, तब ही सुदृष्टि द्वारा ज्ञायक भाव दृष्टिसे की गई ज्ञायकभावके हथोड़ेके ज्ञायकभावकी चोट मिलती है। हमारा काम लक्ष्यका है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तो पत्थर थे वह हटते जाते हैं तब कभी वह ठीक पाता है, कुछ टांकीका जोर और हुआ। जब बारहवें गुणस्थानमें पहुंचा तब और विशिष्ट हुआ जब तेरहवें गुणस्थानमें पहुंचा और अच्छा हुआ और १३—१४ वें के ऊपर शुद्ध अवस्थामें जैसे मूर्ति बनानेके बाद पालिस होनेकी कमी रह जाय तो पालिससे अत्यन्त स्वच्छ होता है, इसी तरह उस अयोगके पालिस होनेके बाद वह परमात्मा शुद्धस्वरूप में हो गया। इस प्रकारसे यह सम्यग्दृष्टि उन घातिया कर्मोंको दूर करके स्वयं स्वभावसे शुद्ध प्रकट होता है इसलिये स्वयंभू कहलाता है।

स्वभावप्राप्तिमें व्यग्रताका अनवकाश—निश्चयनयकी ओर देखो तो आत्माका वह शुद्धभाव उसके साथ अन्य सद्भाव या अभावरूप किसी भी सम्बन्ध होनेसे नहीं होता। आत्मा जो कुछ करता है अपने आप अपने द्वारा कर्ता है। बहुत करे, अच्छा करे, कुछ अन्य न करे, जो करता है आत्मा अपने आप अपने द्वारा, अपने लिये अपने में अपने से करता है तब फिर

शुद्ध आत्माकी बात अत्यन्त स्वतन्त्र है। उसमें उस निमित्त मात्रकी ऐसी आवश्यकता नहीं पड़ी इसलिये कहते हैं कि ज्ञायक भाव रूप शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्राप्तिके लिये अन्य अन्य सामग्रियोंकी खोजनेकी व्यग्रता करके क्यों परतंत्र हो रहे हो ? अपने आपमें अपने आपको देखो और स्वयंभु हो जावो। मोही कहते हैं कि धर्म बड़ा कठिन है। धर्म अपनेमें है कैसे कठिन है ? हम स्वयं स्वभावसे धर्म हैं। धर्म पाये बिना सुखी नहीं हो सकते। यहाँ जो व्यवहार की दृष्टिसे देखो तो सब कुछ है परन्तु भाई अपना लक्ष्य भी बनाओ कि हमको तो उस मंजिलमें चलना है, ऐसी अवस्थाकी दृष्टि बनाना है। जगत्को अजायबघरकी तरह देखो जैसा उसके देखने वाला उसकी चीजें देखता है पर देखो यह आज्ञा है कि उठाओ मत, छुओ मत। यदि वह किसी चीजको उठाता है तो चपरासी उसे अफसरके पास ले जाता और उसे वहाँ दण्ड मिलता। इस जगतके यह पदार्थ हैं इनको भी मत मानो कि यह हमारे हैं, मेरे ही स्वरूप हैं, ये ऐसा मत मानो। देखो कहीं भी कैसे ही पड़े होओ, परन्तु अपनी श्रद्धाको ऐसा अविचल रखो कि अपने आपमें धर्मको प्राप्त करलो।

शुद्धभावकी स्वयंभुता—कल यह प्रकरण चल रहा था स्वयंभु होता कैसे है, इस बात को सिद्ध किया गया था कि आत्माके जो परमपद होता है वह बाहरकी किसी अवस्थासे कुछ पाकरके पद नहीं होता, किन्तु व्यवहारका अंतरंग कारण ही इस कार्य रूपमें परिणम जाता है। कल देखा था टांकीसे उकेर कर। क्या है वह ? व्यवहार ही तो हुआ, परन्तु जो प्रगट हुआ वह स्वयं हुआ। इस दृष्टिसे कब, कहाँ, क्या परिणाम है ? इसको सोचे बिना पार नहीं पड़ेगा। यह सबसे पहले बतलाया था कि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है वह स्वरूप शुद्ध दशामें भी नहीं छूटता। शुद्ध दशामें भी जो शुद्ध द्रव्य है उसका जो परिणाम है वह कहलाता है व्यवहार और उन पर्यायोंका आधारभूत सामान्यस्वभावी है, एक है वह कहलाता है द्रव्य। कल यह चल रहा था कि स्वयंभु अपने आप अपने में अपने द्वारा अपने ही के लिये होता है, यह बात अपनी तरफसे नहीं कही गई, यह भ० कुन्दकुन्दाचार्यने कही है, स्वयंभु वस्तु क्या करता है, स्वयं होना, स्वयंसे होना, स्वयंमें होना, स्वयंके लिये होना, स्वयंभुमें स्वयं शब्द अव्यय है इसमें सब कारकोंकी विभक्तियाँ लगती हैं।

विवक्षानुसार शुद्धभावमें भवाभवस्थितिरूपता—स्वयं होने वालेका जो परिणाम है अर्थात् सिद्ध आत्माके स्वभावका जो लाभ है वह लाभ कैसा है, अविनाशी है, जिसका कभी नाश नहीं हो सकता, ऐसा होकर भी व आत्मलाभ उत्पादव्यय वाला है, नाश न होकर उत्पादव्यय वाला है, ऐसा वह स्वरूपका लाभ है, इस प्रकारकी आलोचना करते हैं—तर्कित करते हैं, कहते हैं—विशेष विचार करते हैं। जैसे कोई विरोधकी बात रख दी जाय तो वहां आलोचना करते हैं ऐसा कहा जाता है। विरोधकी बात तो रख ही दी कि शुद्ध आत्माके

स्वभावका लाभ अविनाशी है और उत्पादव्यय वाला भी है, यह बात सुनकर आलोचना न की जाय तो क्या खाली बैठे रहें, उनकी इस बातकी आलोचना करते हैं पर शुद्ध स्वभावको ऐसी बात नहीं कह रहे। यहाँ तो शुद्ध आत्मस्वभावका लाभ अविनाशी और उत्पाद व्यय वाला भी है, यह कह रहे हैं।

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

विवक्षानुसार शुद्धभावमें भवाभवस्थितिरूपता—जो भव है अर्थात् जो उत्पाद है वह भंगविहीन है, नाशरहित है। सिद्धोंके जो पद हुआ, क्या पद हुआ? शुद्धभाव वह नाशरहित है, शुद्धभावका नाश नहीं होगा और जो चीज उनके मिट गई वह उत्पादरहित है उनसे क्या मिट गया, १ संसार पर्याय—अशुद्ध अवस्था अब वह पद नहीं होगा। और दोनों अवस्थाओंमें रहने वाला यह आत्मा भावरूपमें चला जाता है। आप ऐसा सोचोगे कि यह जो बात कही गई वह तो कुछ नहीं जंचती, इस तरह तो उत्पादव्यय शुद्धमें अब कहाँ घट रहा, हाँ जिस समय शुद्धपर्यायमें पहुंच रहा था उस समय तो ये उत्पाद व्यय ठीक है परन्तु अब जो शुद्ध है उनकी शुद्धिमें क्या उत्पाद व्यय होता है, ऐसा उत्पादव्यय तो नहीं होगा। संसार तो जब मिटा था वह समय तो बहुत पहिला था, समय समयकी बात तो नहीं आई। भैया! यहाँ देखो, अभी सिद्ध भगवानके उत्पाद व्ययका वर्णन नहीं करते, सिद्ध भगवानको जिस चीजका लाभ है उस लाभमें जो मिट्टी है वह उत्पादरहित है। जो हुआ है वह व्ययरहित है। लाभमें उत्पाद व्यय घटाया जा रहा है। शुद्ध आत्मस्वभावका जो लाभ है वह ऐसा है जो हुआ वह मिट नहीं सकता, जो मिट गया है वह हो नहीं सकता और उन दोनों वस्तुओंके बीच स्थायी तत्त्व द्रव्य रूप ही है। वस्तुके द्रव्यस्वरूपको जब छुए तब उस समयमें यह संकोच नहीं करना चाहिये कि और प्रकारकी बात मिटा दी, अमुक स्वरूप भी मिट रहा, अमुक चीज मिट रही, पर्यायमात्र मिटा दी अब रहा क्या? प्रमाण दृष्टिसे आप सबको थाप लें, निश्चय भी है व्यवहार भी हैं सब कुछ है। सबके स्वरूप निश्चित करनेके बाद एक निश्चय दृष्टि करें। मुख्यता करके वस्तुके स्वरूपमें देखा जा रहा है और यहाँ सामान्य ध्रुव मिल रहा है।

दृष्टिकी आज्ञाका पालन—आज्ञाकारी सैनिक होते हैं उनसे सेनापति यह कहता है कि अमुक करो। तो कुछ भी हो जब तक हुक्म बंदका न हो तब तक उसीको एक चित्त होकर करता रहता है। एक जगहका जिक्र है कि सेनापतिने कोई आज्ञा दी। सेनापतिकी आज्ञा सुनकर सबने काम शुरू कर दिया। इसमें खुदका बिगाड़ होनेका था। उस समयमें कुछ बुद्धिमान सैनिकोंने इस कार्यको रोक दिया तो सेनापतिने आदेश दिया कि इस कार्यको रोक

दिया भला तो किया, किन्तु जो सेनापतिकी आज्ञा है जो हुक्म दिया वह करो। तुमको किस की आज्ञाने रोका। प्रभुकी आज्ञा है कि जब निश्चय दृष्टिका विचार करो तो निश्चय दृष्टिको ही देखकर सारी बातको सोचो। जब व्यवहारदृष्टिका हुकम मिला, व्यवहारदृष्टिसे इस पदार्थमें होकर उस प्रकारका निर्णय करो याने दूसरे पर दृष्टि डालकर निर्णय करो—और सही क्या है ? ऐसा निर्णय करनेको जब बैठो तब निश्चय व्यवहार दोनोंका स्वरूप ठीक करके निर्णय करो तो सही यह चीज है, प्रमाण दृष्टि वस्तुके निरपेक्ष वस्तु स्वभावको और सापेक्षको भी स्वीकार करता है। सम्यक्दृष्टिकी निरपेक्ष स्वभावमें रुचि होती है। सम्यग्दर्शन क्या है--निज आत्मस्वभावमें रुचि जिसके होने पर हो वह है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायका ऐसा वर्णन करते हैं परन्तु पर्यायमें निज बुद्धि नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीवसे व्यवहार नहीं छूटता, पूजा आदि सब होती हैं, पर व्यवहार ही हमारी पहिली मंजिल है ऐसा उसका लक्ष्य या ऐसी उसकी श्रद्धा नहीं होती। वास्तवमें सम्यग्ज्ञान इतना निखारने वाला है, इतना सुलझाने वाला है कि जिसके अंदर असत्यकी स्थापना नहीं हो सकती और सत्य नहीं मिट सकता। श्रद्धा भूतार्थस्वरूपकी होना चाहिये, गुणोंके अभेद रूपसे रहने वाला आत्माका लक्ष्य होना चाहिये।

लक्ष्यानुसार व्यवहार—ऐसे आत्मद्रव्यकी श्रद्धा करने वालेके व्यवहार आता है। परंतु जिसे व्यवहार आ गया यदि उस लक्ष्यमें लग जायेगा कि यह व्यवहार ही सर्वस्व है यहीं रुक जायेगा तो आगे चलनेका कदम समाप्त हो जायेगा। इसलिये किस दृष्टिमें हो वह है व्यवहार, जिसका लक्ष्य हो वह है निश्चय। लक्ष्य बिना सब बेकार और व्यवहार बिना तो जीव रहता ही नहीं है। शुद्ध लक्ष्य बिना तो रह जाय परन्तु स्थिति बिना रह नहीं पाता। निश्चय दृष्टिसे शून्य निश्चयकी दृष्टिसे दूर रहने वाले तो रह जायें, पर व्यवहारसे रहित हम नहीं रह सकते। अब विवेक क्या करना है, निश्चयका विषय है—चैतन्य स्वभाव उसका ही लक्ष्य रहनेका पुरुषार्थ करना है, यदि पद पाना है। जो इस वस्तुपर लक्ष्य पाता है उसको बाह्य व्यवहारमें यदि थोड़ा बहुत—हीनाधिक हो जाय तो भी सफल हो जाया करता है। जैसे किसीको अपने मित्रपर यह विश्वास है कि यह मेरे हितका लक्ष्य रखता है, उस मनुष्य से यदि कभी कितना कोई कार्य ऐसा हो जाय कि उसकी बातसे उसे कष्ट भी पाना पड़े तो उसको वह बुरा नहीं मानता और दुःखी भी नहीं होता, क्योंकि उसे तो यही श्रद्धा है कि यह तो मेरा हितैषी है, इसका लक्ष्य मेरा हित करनेका ही है। कदाचित कहीं कुछ कह आये भूल से कह दिया है तो इसका उस पर भीतरसे कोई बुरा प्रभाव नहीं होता, इसी तरहसे ठीक लक्ष्य यदि आ जाय, ठीक वस्तु आ जाय तो फिर कभी वह अंतरंगमें आकुलताकारक नहीं होता। इसलिये ठीक लक्ष्य–उद्देश्य अनंत विशुद्ध होना चाहिये और जिसका लक्ष्य ठीक होगा

उसका व्यवहार—तरंग–पर्याय भी ठीक बनेगा, क्रिया भी ठीक बनेगी, व्यवहार भी ठीक होगा। प्रभुने हमको भी ज्ञायकभावकी प्राप्तिका हुकम दिया है कि तुम निरंजन निज ज्ञायक स्वभावका लक्ष्य करते हुए ऐसा निर्विकार बननेका प्रयत्न करो। जो शाश्वत कल्याण चाहने वाला है सदैव उसको अखंड स्वभावका लक्ष्य रखना होगा, ऐसा लक्ष्य रखते हुए जो जो काम बनते हैं वे सभी व्यवहार धर्म हैं।

आशयभेदसे आन्तरिक अन्तर—आपको एक मनोरंजक कहानीमें श्रद्धाकी बात बतलायें—देहातमें कोई जाट था। एक मुखिया था, एक पंडितजी कहींसे आ रहे थे, इन्होंने बगल में पत्रा पोथी ले रखा था। मुखियाने उन्हें देखा और बोला पंडित जी कहाँ जा रहे हो ? उन्होंने कहा—राम चरित्तर पढ़ने जा रहा हूं। उसने कहा—राम चरित्तर कैसा ? रामचरित्र जिसमें रामका चरित्र बतलाया है। राम पैदा हुए, बड़े हुए, सीताका स्वयंवर हुआ, वह किसी कारणसे जंगलमें गये, सीताको रावण ने हरा, राम रावणको हराकर सीताको लाये यह सब उसमें आता है ऐसा रामचरित्र मैं पढ़ने जाता हूं। जाट बोला, बहुत अच्छा महाराज ! इससे क्या होता है ? मुखियासे पंडित जी बोले उससे बड़ा पुण्य बंधता है। मुखियाने अपने घरमें पढ़नेको कहा। पंडितजीने कहा इतवारको आऊंगा। उस उत्सवके लिए हमें क्या करना होगा ? पंडित जी ने कहा—आंगनमें थोड़ी सी जगह लिपा लेना, अक्षत गंध, धूप आदि सब रख देना व कलशमें एक रुपया रख देना। मुखियाने कहा बहुत ठीक। आठवें दिन इतवारको सब गाँव वालोंको बुलाया कि रामचरित्त होगा। सब गाँव वाले भोले थे, मुखिया भी भोला था, बड़ी श्रद्धासे भरा था, हमारे पुण्य बनेगा ! रामचरित्र सुनने सब लोग आ गये। पंडितजी बैठ गये। उस रामचरित्रके पढ़नेके बीचमें मंत्र आते थे। इस बातको जानकर पंडित बोला, मुखिया भाई जो हम कहें वैसा तुम कहना, जो करें वैसा तुम करना (जब हम मंत्र शब्द कहें तो तुम भी शब्द कहना हम जो स्वाहा करें वही तुम भी करना) इसी तरह पूजा होती है। मुखियाने कहा बहुत ठीक महाराज—मैं बैसा ही करूंगा। तो एक बार बहुत बड़ा पद आया तो पंडितजी ने सोचा पहिले जल चमचोंमें लेकर रखूं तो बहुत देर तकके लिये रखना होगा इस लिये इसको कह दें कि जल ले, मैं जब मंत्र समाप्त कर लूँगा तब चम्मच उठाकर जल छोड़ दूंगा। इस विचारसे पंडित जी कहते हैं "जल ले"। मुखिया भी कहता है "जल ले"। खुद जब जल नहीं लेता है तो मुखिया भी नहीं लेता। पंडित जी बोले "लेता क्यों नहीं बे" मुखिया बुला "लेता क्यों नहीं बे"। शुद्ध भाव श्रद्धासे रामचन्द्र चरित्रका पाठ मुखिया करवा रहा था। वह भी श्रद्धासे ही ऐसा बोला। "लेता क्यों नही बे" क्योंकि उसने सोचा कि कहीं थोड़ासा भी कम बढ़ बोल जाऊंगा तो रामचरित्रका पाठ बिगड़ जायगा। अब पंडितजीको गुस्सा आया।। उन्होंने उस मुखियाजीके मारनेको हाथ उठाया "मैं तमाचा मारूंगा"

सुखिया भी बोला "तमाचा मारूंगा"। पंडितजी ने तो तमाचे मार दिये। मुखियाने भी उसी प्रकार पंडित जी के तमाचे मारे कि कहीं रामचरित्रका पाठ न बिगड़ जाय। सब श्रोता लोग व गाँव वाले भोले थे, उन्होंने भी सोचा कि वास्तवमें राम और रावणका जो युद्ध हुआ था उसमें इसी प्रकारसे युद्ध हुआ होगा। अतः चुपचाप बैठ बैठ श्रद्धासे देखते हुए पुण्य कमा रहे थे। इस प्रकार मुक्केबाजीमें वे दोनों २० हाथ दूर पहुंच गये। मुखियाकी जो मुखियानी थी वह इस दृश्यको देखकर रो रही थी। लोगोंने पूछा तेरे घरमें तो रामचरित्रका पाठ हो रहा है और तू रो रही है। मुखियानी इस मारपीटके दृश्यको देखकर नहीं रो रही थी। उसने कहा कि मुझे इस बातका दुःख है कि वर्षोंमें मेरे घरमें रामचरित्रका पाठ हुआ और मैंने जमीन पूरी नहीं लीपी। यदि मुझे यह पता होता कि इतनी दूर तक पाठ चलेगा तो मैं पूरी जमीन लीपती। इससे यह पता पड़ा कि उसको यह डर था कि रामचरित्रका पाठ बिना लिपी जमीन पर बिगड़ गया। यहां अन्य विकल्पोंपर दृष्टि न देकर सिर्फ भावकी बात देखो, श्रद्धाकी बात देखो। सारे लोग पुण्य लूट रहे, मुखिया पुण्य लूट रहा है और मुखियानी भी। यह तो किसी एक दृष्टिका ही दृष्टान्त मात्र है। कैसा कार्य होकर फिर भी श्रद्धा चल रही है। कहीं ऐसी बातें अपनेमें न घटा लेना (हंसी)। सारांश इतना लेना कि बाह्यकी कुछ कमी भी हो तो भी श्रद्धा आगे ठीक करा देगी।

श्रद्धामें स्वच्छताका कर्तव्य—श्रद्धाका विषय इतना साफ और अकंप होना चाहिये कि उसमें अपना स्वरूप, सिद्ध प्रभुकी तरह स्वभावमें जंचे। यदि कोई पूछे कि तुमको क्या बनना है तो एक लक्ष्य श्रद्धाका आ जाय कि जैसा कि सिद्धका स्वरूप है मुझको तो यह स्वरूप बनना है, उसको और कोई भी बात लक्ष्यमें न आ पावे। वह कैसा स्वरूप है उस सिद्ध भगवानका शुद्ध पर्याय पद जो हुआ उसका नाश नहीं होगा, अशुद्धपर्याय नष्ट हुई उसका उत्पाद नहीं होगा और शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायोंमें वह एक आत्मा रूपमें रह रहा, ऐसा शुद्ध आत्मा इस स्वभावके परिणमन मात्रसे उत्पाद व्यय वाला द्रव्य बतलाया। इस आत्मा के शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्ध आत्मस्वभावमें जो भाव आता है, उत्पाद होता है वह उस रूपमें तब नहीं हो सकता, यदि वह भाव सर्वथा विनाश रहित है। इसी कारण जो अशुद्ध भावका विनाश हुआ है वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी लिये ऐसा वह सहजशुद्ध भाव कभी नष्ट नहीं हो सकता, वह अविनाशी है। उस कथाको सुनकर किसीके मनमें कोई अन्य विचार नहीं उठना चाहिये। हमारा आशय तब तो यह था कि श्रद्धा निर्मल होनेसे यदि व्यवहारमें कुछ न्यूनाधिक बात भी हो जाय, पर जिसका लक्ष्य निर्मल होता है वह अपने लक्ष्यका फल अच्छा ही पाता है। इस समय हमारा जितना पद है, हमारी जितनी अवस्था है वह चैनसे रहित है। बिना धर्मके जिन्दगी व्यतीत होती है। विवाह हुआ, बच्चे हुए, अन्तमें जिन्दगी

खतम हो ही जाती है, मरना पड़ता है। जो दिन चले गये सुखके वह स्वप्नकी तरह लगते हैं, वह ५०—४० वर्ष सुखके स्वप्नकी तरह मालूम पड़ते हैं, अथवा जिसकी जितनी आयु है उसकी पहिली अवस्थाकी बात स्वप्नकी तरह मालूम होती है। हाय, वह समय निकल गया मालूम नहीं पड़ा। देखो भैया ! जो समय बीत गया उसको तो पछताता परन्तु जो समय यह जा रहा है यह भी स्वप्नकी तरह चला जायगा ऐसा ख्याल कर शुद्ध कर्तव्यमें नहीं लगता। जैसा भूतकाल की बातको स्वप्नकी तरह हो गया ऐसा ख्याल करता वैसा वर्तमान कालकी बातमें यह भी स्वप्नकी तरह होने वाला ही है ध्यानमें नहीं लाता। इस पर्यायमें हमको कोई अभूतपूर्व कार्य करना चाहिये। विचारो जैसे मेरी इतनी जिन्दगी व्यतीत हुई उसी तरह आने वाली जिन्दी क्षणमात्रमें व्यतीत हो जायगी, इसलिये सावधान हो।

जीवनसाधना—धर्म साधना जीवनकी साधना है। हमें सावधान रहकर अपने पर करुणा करना है। अपनेमें वह बात रहे, परसे लक्ष्य हटाकर ज्ञानभावमें ही मेरी रुचि हो, जगतके किसी पदार्थमें मेरी रुचि न हो। वास्तवमें ज्ञानी कुछ करना नहीं चाहता, परन्तु इसका तो जगतके और ऐसे जितने कार्य किये जाते हैं उन सबका प्रयोजन इतना ही है कि मैं साधु नहीं हो सकता था, इसलिए घरमें रहना पड़ा। अब जो समागम है उनका मोह करना अपना ही घात है ऐसी श्रद्धा है, फिर भी गृहस्थधर्मको निभानेकी बात तो करनी ही पड़ रही। गृहस्थधर्म मोक्षका उद्देश्य रखकर धर्म, अर्थ, काम, इन तीनकी समान साधनामें है। उत्तम विवेक जो धर्म अर्थ काम इन तीनका सेवन कहलाया। जो त्रिवर्गका समान साधन करता है वह कहलाता है गृहस्थ धर्म। धनका भी ख्याल रहा, कामकर लोगोके पालनका भी ख्याल रहा, परन्तु धर्म न करे तो कुछ भी नहीं चलता और धर्म करे पोषण करे और धन न कमावे तो कुछ भी नहीं चलता और धनका ही पोषण ही रखा और धर्म नहीं कमाया तो कुछ नहीं। यदि वह धर्ममें ही रहता और धन तथा पोषणसे बिल्कुल बचता है उस अवस्थामें नहीं रहता तो ठीक है उसको उचित है कि वह साधु हो जाय। जब मुझे किसीसे प्रयोजन नहीं, मुनि जैसी वृत्तिमें अपने सम्बन्धको करे तो गृहस्थ धर्म नहीं हो सकता। यदि कोई पुरुष धर्मका पोषण करे, धन भी कमावे, पोषणकी बात न करे तो अपना अनुभव बतलायेंगे कि गृहस्थ प्रशंसनीय नहीं हो सकता। धर्म ही करे, पोषण ही करे—धन न कमावे तो गृहस्थो निभ नहीं सकती। गृहस्थ अवस्थामें तो जो तीन वर्ग बतलाये, इन तीनोंका समान सेवन होना चाहिये, हमारा आशय स्वभावसे च्युत होकर जड़में लगानेका नहीं। यह चीज प्रवृत्तिकी चल रही है। कोई गृहस्थो यह चाहता है कि धनसे क्या प्रयोजन, वह तो समयपर जो हो सो हो, कुछ भी धन न कमावे, तो अन्तमें जाकर, घरमें धन है तब तक तो खाता है फिर आप भी खाली। हां यह बात जरूर है कि ५ मिनट ही बैठ जाय तो पुण्योदयसे हजार

आ जायें।

अन्तधर्मवृत्ति—मन्दिर देवदर्शन आदि भी आवश्यक वृत्ति गृहस्थकी होती है। यह बाह्य धर्मकी बात है। अन्तरंग की तो ऐसी बात है कहीं भी होय धर्म होता है। आप सोचो जिसे धर्म होना है वह कहीं भी जा रहा है धर्म होता है, धर्म तो अन्तरंगका ऐसा परिणाम है। कहो मुनि महाराज शौच को भी जाते हैं यदि निर्मलता हुई वहीं अपने अप्रमत्त धर्मको पा लेते हैं। जिसके निरपेक्ष ज्ञायकभावकी दृष्टि होती है जैसी दृष्टि गई वहीं धर्म हो गया। कहीं मन्दिरमें ध्यान लगाया और वहाँ भी धर्मभाव न हो और मन्दिरसे निकलकर किसी जगह चला गया, उसका वहाँ अच्छा भाव बन जाय तो धर्म होगा। गृहस्थके अंतरंगमें अच्छी चीज है तो इसके माने यह नहीं हैं कि व्यवहार धर्मका लोप कर दें। यदि कोई पुरुष जीवन भर व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मके यत्नसे दूर रहा हो और अन्तमें साधिपूर्वक सद्गति हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी इस प्रकार जीवनमें स्वच्छन्द रहें अन्तमें सद्गति हो ही जायगी। यदि किसी अन्धे पुरुषको मार्गमें ठोकर लगे और उस ठेवाको निकलवाने से धन मिल जाये तो क्या और मनुष्य भी अन्धे बनें, गड्ढेको खोदें, ठोकर खायें। क्या इस तरह उन्हें धन मिल जायगा ? धनोपार्जनका उपाय तो व्यापारादि है। इसी तरह धर्मके कार्य-व्यवहार धर्ममें रहकर भी यद्यपि यह बात अविनाभावी नहीं है कि मैं व्यवहार करूं तो निश्चय धर्म प्रगट होता ही हो व किसीके निसर्गसे ही हो जावे तो इसका अर्थ यह नहीं कि यत्न छोड़ दें। निश्चय धर्म प्रगट करनेके समय उसके व्यवहार कार्य ऐसे होते हैं यह तो ठीक है, जैसा निश्चय है उसके अनुसार व्यवहार धर्म है यह भाव तो रह सकता है परन्तु प्राक् पदवी में सत्संग देवदर्शन सभी यत्न रहना चाहिये।

गृहस्थीमें निश्चयकी दृष्टि होते हुए भी देव पूजन आदि की जाती, परन्तु शुद्धपर निश्चय दृष्टि रहते हुए उसका व्यवहार रहता है। निश्चयदृष्टिके रहते हुए तो वही वस्तु उपयोगमें बनी रहती है, जो यहाँ व्यवहार हुआ उस पर ज्ञानीके उपादेय बुद्धि नहीं है कि वही व्यवहार बना रहे। इसलिये किसी प्रकरणमें व्यवहार छूटा जा रहा, कहीं ऐसा भय नहीं करना। उसमें ऐसा संकोच नहीं होना चाहिये कि व्यवहार निश्चयदृष्टिमें देख जैसे छूटा जा रहा है। निश्चय दृष्टिका लक्ष्य करते हुए पर्यायमें अपने आप क्या पड़ रहा है, वह व्यवहार ही तो चल रहा है, उसमें उपादेयकी दृष्टि नहीं।

संभवनाशस्थितिमयताका समर्थन—देखो—स्थिति, नाश, उत्पादके बिना रहना सिद्ध भगवानको भी निषिद्ध है, वहाँ भी निश्चय व्यवहार है वह भी द्रव्यपर्यायात्मक है। आजका प्रकरण ऐसा लगेगा कि कलका प्रकरण लोग सुनते थे उसमें कुछ प्रकरण तो और बात सुनाता था, यहां और है। उस प्रकरणमें निश्चयदृष्टिकी मुख्यतासे वर्णन था—निश्चयदृष्टिके

वर्णनमें सुनकर उसका ही श्रद्धामें, उपयोगमें स्वरूप देखना होता है। आज वह प्राप्ति स्वयंभु हुई है तो क्या व्यवहारनयका कुछ काम ही नहीं हुआ था ? और अपने आप ऐसा स्वयंभु हो गया क्या ? वहां व्यवहार—पर्याय कुछ नहीं है ? उसका उत्तर इस गाथामें है। एक ही आचार्यने निश्चयदृष्टिसे वर्णन करते हुए उत्पादव्ययरूप व्यवहारमें जो तरंग उठतीं जो सर्वमुखी वर्णन है उसको शब्दोंमें इस तरह कहा है। देखो यहाँ शिष्यमें अब भी धैर्य है कि निश्चयके वर्णनको सुन करके व्यवहारके वर्णनमें निश्चयका संकोच नहीं होता है, व्यवहार का भी विरोध नहीं करता, व्यवहारके प्रकरणमें निश्चयका विरोध नहीं करता, किसी प्रकरणमें वस्तुस्वरूप यथार्थ सुनकर जैसा है तैसा बनकर निर्णयका प्रयत्न करता है।

ऋजुसूत्रनयका विषय—देखो—जब निश्चयका वर्णन चलता है तो वह व्यवहारके उच्छेदका भय नहीं करता। ऋजुसूत्रनयके वर्णनमें आचार्य कहते हैं कि इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें हम यह नहीं कह सकते कि कौवा काला है, क्यों नहीं कहते कि जितना कौवा है उतना काला नहीं है, जितना काला है उतना मात्र कौवा नहीं। इस लिये हम ऋजुसूत्रनय की दृष्टिमें यह नहीं कह सकते कि कौवा काला है। रुई जल रही है हम यह नहीं कह सकते क्योंकि जो रुई है वह जल नहीं रही है और जो जल रही है वह रुई नहीं है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टिमें हम यह नहीं कह सकते कि रुई जल रही है, शिष्य प्रश्न करता है कि महाराज यहाँ तो व्यवहार ही उड़ा जा रहा है तो आचार्य उत्तर देते हैं कि व्यवहारके उच्छेदका भय मत कर, उच्छेद होता है तो होने दो। तू तो इस नयके प्रकरणमें इस नयका विषय समझ ले, तो प्रयोजन क्या होगा ? हमारा प्रयोजन इस सम्बन्धमें यह है कि ऋजुसूत्रनयका सूक्ष्म विषय है यह करणानुयोग की बात बतलाई।

दृष्टिकी आज्ञाका दृष्टिमें पालन—इसका प्रकृतसे यह मतलब है कि जब निश्चयदृष्टिसे वस्तुस्वरूपका ध्यान करने बैठे हो तो कोई चिन्ता न करके वस्तुके निरपेक्ष स्वभावको देखो, यह तुम्हारा द्रव्य व्यवहार तो तुम्हारा बनाये रहेगा। वस्तुका ठीक स्वरूप तो जानो, इसका इसमें निजका स्वरूप कैसा है परकी अपेक्षा रहित उसका स्वरूप कैसा ? इसलिये भाई निःसंकोच होकर भ्रमरहित होकर जिस समयमें जिस दृष्टिको लेकर देखो हम तो उतना ही कहते हैं जिस समयमें यहाँ व्यवहारका वर्णन करें तो निश्चयपर पक्ष करने वाले अपने आपको मान लें कि हम तो व्यवहार वाले ही हैं। इसी तरह जब निश्चयदृष्टिका वर्णन हो तो वहाँपर व्यवहारका पक्ष रखने वाले अपनेको निश्चय वाला माने। निश्चयदृष्टिमें सुनने वाले बनें, निश्चयदृष्टिको लेकर ही देखें कि द्रव्यका क्या स्वरूप है ? इसी प्रकारसे निश्चयके निरपेक्ष स्वरूपमें देखो जिससे ठीक ठीक स्वल्प जिस दृष्टिमें किया जाय उससे वस्तुको पूरा जान सको, फिर निश्चयके विषयपर लक्ष्य बनाकर अपनी पर्यायको निर्मूल बनाओ।

तीर्थंकरप्रकृतिके बंधका निमित्त--निश्चय निरंश निर्विकल्प की ओर संकेत करता है, परन्तु वस्तु कभी दशारहित नहीं होती। उत्तम अवस्थामें भी रत्नत्रयकी प्रवृत्ति व्यवहार है तो उसका मूल द्रव्य निश्चय है। उससे पहिले यदि रत्नत्रयका विपरीत परिणमन व्यवहार है तो वहाँ भी उसका मूल वह द्रव्य निश्चय है। आत्माके साथ-साथ बंध व्यवहारका निमित्त रत्नत्रय स्वभाव नहीं, किन्तु मोहनीयता कही है। कर्मकी १४८ प्रकृतियोंमें श्रेष्ठ प्रकृति तीर्थंकर प्रकृति है उसका भी बंध यद्यपि सम्यग्दर्शनके होने पर होता है तथापि उसका निमित्त शुभराग ही है आत्मस्वभाव नहीं। तभी तो बंधके १६ कारण भावनावोंमें शुभविकल्प आया है। देखो दर्शनके होनेपर जो प्राणियोंके उद्धार होनेका विशुद्ध भाव हो वह दर्शनविशुद्धि है वह भाव तीर्थंकर प्रकृतिके बंधका कारण होता है। सम्यग्दर्शनके होने पर भी जगत्के जीवों के प्रति इनका मोह छूटे ऐसी भावना हो सकती है, वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शनसे पहिले वह जीव मोक्षमार्गी ही नहीं कहलाता। जिन्हें सम्यक्दर्शन प्राप्त हुआ, जिन्हें परद्रव्यसे भिन्न सहज ज्ञानातरक एक निज शुद्ध आत्माकी रुचि हुई उनके ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो सकता है क्योंकि अनुभूत पुरुष ही उस विषयक सत्य अभिप्रायको कर सकता है।सम्यक्दर्शन मोक्षक साधन है वह किसी कर्मका बंध नहीं करता और इस ही प्रकार न सम्यग्ज्ञान ही बंध करता और न सम्यक् चरित्र। परन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर "संसारके प्राणियोंका कैसे मोह छूटे" ऐसा जो अनुराग होता है, संसारके जीवोंको मोहसे दुखित देखकर जिनके मीठी विह्वलता पैदा होती है जो तत्त्वसे विभाव है ऐसे उस भावको निमित्तमात्र पाकर कामर्णावर्गणायें तीर्थंकर प्रकृतिको प्राप्त हो जाती है।

दर्शनविशुद्धिका भाव—यहाँ दर्शनविशुद्धिका यह अर्थ नहीं है कि मात्र सम्यग्दर्शनकी निर्मलता, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे बंध नहीं होता। सम्यग्दर्शनके होने पर जो विशिष्ट शुभपरिणाम हो रहा है उस निमित्तसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। यदि सम्यग्दर्शनकी निर्मलता कर्मके बंध करनेके लिये हो तो फिर और क्या ही ऐसा रहा या होगा जो कर्मसे छुड़ा देगा। इस लिये यही स्वभावदृष्टिसे निर्णय करना कि सम्यग्दर्शन तो कर्मसे छुड़ाने वाली हमारी चीज है, उसके होते हुए जो विशुद्धभाव होते हैं उससे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता। सम्यग्दृष्टिके यह भाव या श्रद्धान नहीं होता कि मैं संसारके जीवोंको मोहबंधनसे छुड़ाकर मोक्षमें पहुंचा दूँगा, क्योंकि यह भाव कर्तृत्व बुद्धि और आस्रवभावको लिये हुए है ऐसा मिथ्यात्व अंधकार सम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता। ज्ञानीके मिथ्यात्वका प्रतिषेध आम्नाय युक्ति स्वानुभव में प्रसिद्ध है। कर्तव्य बुद्धि ही संसारका मूल है, फिर जिसे "संसारके जीवोंको छुड़ा दूंगा, संसारसे पार कर दूंगा" यदि ऐसी श्रद्धा हुई तो वहां सम्यग्दर्शन ही संभव नहीं है। वहां तीर्थंकर प्रकृतिका बंधन होगा। इस तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किसी सम्यक्त्वमें होता है, परन्तु

होता है केवली श्रुतकेवलीके निकटमें। तब आप वह सोच लेंगे कि जिनके क्षायिक सम्यग्दर्शन है ऐसे जीवके भी इस तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता। क्षायिक सम्यग्दर्शनमें भारी निर्मलता है। वहां भी विशिष्ट शुभ विशुद्ध परिणाम हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। जगत्के जीवोंको दुखी देखकर "इनका मोह छूट जाय देखो तो चैतन्यस्वभाव यही है--इस पर ये दृष्टि नहीं दे पाते सो यह दुर्बलता नष्ट होवे" इस धर्मानुरागसे उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता। तीर्थंकर प्रकृति बंध वाले नियमसे थोड़े ही कालमें अर्थात् अधिकसे अधिक तीन भवमें संसारसे पार हो जाते हैं। यह प्रकृतिकी महिमा नहीं किन्तु आत्मस्वभावकी महिमा है।

सम्यग्दर्शनके अङ्ग—निर्मल सम्यग्दर्शन २५ दोषोंसे रहित कहा गया है, उन दोषोंमें शंका कांक्षा आदि ८ दोष निःशंकित आदि आठ अंगोंके अभावसे ही होते हैं। इस ही कारण जैसे शरीरके ८ अंग होते हैं उन अंगोंका समूह ही सम्यग्दर्शन है उस ही प्रकार निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना—ये आठ अंग हैं। इनका समुदायात्मक एक भाव सम्यग्दर्शन है। वे ८ अंग जो निश्चयदृष्टिका स्वरूप रखते हैं उसका समूह ही सम्यग्दर्शन है। निश्चयके ८ अंगोंके होने पर व्यवहारके ८ अंग जिस पदमें रहते स्वयमेव आजाते हैं, निर्विकल्प अवस्थामें व्यवहारके ८ अंग नहीं होते हैं और न किसी दृष्टिके अंगोंका भेद विकल्प ही है, तथापि निश्चयदृष्टिसे किसी अंगका स्वरूप देखने पर वह एक ही सम्यक्त्व परिणाम उपयोगमें रह जाता है।

निःशङ्कित अङ्ग—पहिले अंगका नाम निःशंकित है। जिस ज्ञानीने अपने आपमें ऐसा निर्णय कर लिया—मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं, अपना चैतन्यस्वभाव अविचल है, मेरेमें काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कोई विचार नहीं है, मैं एक स्वयं अखण्डित द्रव्य हूं, मेरा कोईसा भी परिणमन परपदार्थके परिणमनसे नहीं होता, ऐसे वस्तुके स्वरूपको जिसने पा लिया वह अपने विषयमें इतना निःशंक रहता कि जिसके विषयमें समयसारमें लिखा है कि यदि ऐसा उपद्रव भी आजाय जिससे तीन लोकके प्राणी अपने मार्गको छोड़कर हट जायें परन्तु स्वरूपमें श्रद्धा वाले आत्मा अपने अन्तरंगके धर्म परिणामसे कभी नहीं हट सकते। इसका कारण यह है कि उस ज्ञानमें अपनी दुनिया चैतन्य जितनी मानी हुई है उसका घात परसे नहीं है। अपना परलोक इतना ही माना, जिसके कारणसे दुनियाकी परिणतिसे ज्ञानी कभी विचलित नहीं होता। उसको दृढ़ विश्वास है कि यह चैतन्यपरिणाम ही यहां मेरा लोक है, इससे बाहर लोकोंको अर्थोंको अपने लिये नहीं समझता, क्योंकि सारे पदार्थ उससे भिन्न हैं। उनसे जब मेरा सुधार बिगाड़ नहीं होता तो मेरी दुनिया वह कहाँ जायगी? मेरी दुनियां तो वह है कि जिसकी प्रसन्नतासे मेरा भला है और जिसकी अप्रसन्नतासे मेरा बुरा है। लोक भी लोक ऐसा ही कहा करते हैं कि मेरे मित्र बंधु तो यह हैं, क्योंकि यदियह

नाराज हो जावेंगे तब मेरा जीवन कठिन है और इनके प्रसन्न बने रहनेसे मेरा जीवन सुकर है। तब अपनेमें भी यह विचार करो—मेरी दुनिया, मेरे भाई, मेरे पिता पुत्र आदि सब यही चैतन्य है जिसकी निर्मलतासे हम सुखी होते हैं और जिसके नाराज होनेसे मलीन होनेसे हम दुखी हो जाते हैं। जिस ज्ञानमें ऐसी श्रद्धा है वह बाह्य पदार्थकी परिणतिसे विचलित नहीं होता। ऐसी तीक्ष्ण आत्मस्वरूपदृष्टि अन्तरात्मा बनाये हुए है कि जगतमें किसी भी पदार्थका कुछ कहीं कोई परिणाम हो, उसके परिणमनसे अपने आपमें क्षोभ पैदा नहीं होने देता, निःशंकित अंगका यह फल है। सोचो तो भैया ! तीन लोक इतना बड़ा है, किसी थोड़ी जगह रहने वाले कुछ कहें, करें, सोचें तो मेरे आत्मस्वरूपका क्या बिगाड़ कर दिया ? जगत्में अनंत जीव हैं, किन्हीं जीवोंकी परिणति मेरे अभीष्टके प्रतिकूल हो गई तो उसने मात्रसे उस प्राणीसे मेरा क्या बिगाड़ हो गया अथवा कितने दिन उसका मेरा साथ है ? अंतमें तो मरनेके बाद तो सबसे बिदा हो जाते, मैं भी अकेला ही परभवको जाता हूं। मैं अपने भावकी निर्मलता रखे रहूं तो मेरे लिये सुख होगा और भावकी मलिनता करूं तो मेरे लिये मेरेसे ही दुःख होगा उस वस्तु स्वरूपकी श्रद्धा करने वाले ज्ञानी निःशंकित होते हैं।

आगममें निःशङ्कता—स्वरूपकी जिन शास्त्रोंमें चर्चा है उन शास्त्रोंमें उसकी दृढ़ श्रद्धा होती है और अपनी ही बात इन शास्त्रोंमें मिल गई तो इन शास्त्रोंके कहने वाले पर उस ज्ञानीको कितनी दृढ़ श्रद्धा हो गई। यह बात सर्वज्ञ ने कही है। इससे श्रद्धा उसके माननेकी अपेक्षा यहीं उठे हुये ज्ञानके प्रयोगसे शास्त्रकी श्रद्धा और सर्वज्ञा व सर्वज्ञकी नहत्ता मानने वाली की श्रद्धा पुष्टि लिये होती है और सर्वज्ञने कहा इसलिये वह सत्य हैं। इतनी मात्र बाह्य श्रद्धा है तो यह श्रद्धा तो उड़ सकती है। जो बात हमको अपने आपमें मिली है उसकी श्रद्धा अति दृढ़ है। इस बातका कितना निर्विवाद प्रतिपादन उससे हो सकता है जैसा इसको कहने वाले जितने निर्मल हैं। यहांसे उठने वाली श्रद्धा यहाँके लिये बड़ी अमिट हो जाती है। ज्ञानकी कितनी बड़ी बात है वह ज्ञानबल वालेसे नहीं उठता, ज्ञानीका बल अपने अन्तरंगसे उठता है, चाहे वह श्रद्धाकी भी बात हो तो ज्ञानके अपने अन्तरंगमें से वह श्रद्धा उठती है। अमुकने कहा सो मानलो ऐसा ज्ञानी नहीं होता, उन तत्त्वोंका अपने आपमें प्रयोग करता है वह उसके मनमें ठीक उतरता है तब सर्वज्ञा ने जो कुछ कहा है परीक्षाकी भी बातें स्वर्ग नरक समुद्र द्वीप आदि यह भी बिल्कुल सत्य है। जिसके खास तत्त्वकी बात ऐसी निर्दोष सत्य है जो हमारे अनुभवमें पूर्ण उतर गई तो उसकी कही हुई सर्व बात बिल्कुल सत्य है, ऐसी जिनवाणीमें, जैनशासनमें सम्यदृष्टिकी अविचल श्रद्धा रहती। निश्चयमें निःशंक रहता है, तत्त्व यह है ऐसा ही है और प्रकारसे नहीं है। इस प्रकार भगवानके उपदेशमें जो बात कही वह कितनी सत्य है ऐसी जो रुचि होती है उसे कहते हैं निःशंकित अंग।

स्वाधीनता व निःशङ्कता—निश्चयसे अंतरंगमें मेरे स्वरूपका कोई बिगाड़ कर सकने वाला नहीं है। यह स्वरूप ध्रुव है जिस स्वरूपको लिये हुए अनादिसे चल रहा, उस स्वरूपको शरीर तो क्या अनन्त कर्मवर्गणाएँ या उनके फल भी क्या कोई मुझे उस स्वभावसे खंडित कर सकते हैं ? न शरीर मुझे स्वभावसे मिटा सकता और न रागद्वेषादि भाव मुझे स्वभावसे मिटा सकते। मुझ चेतनको चेतनसे अलग कर अचेतन करनेकी किसीके ताकत नहीं। अवस्था में भावकर्मके उदयसे निर्बलता है परन्तु स्वभावको मिटा नहीं सकता, स्वभाव चैतन्य ही रहेगा और यह चैतन्य एकाकी है, स्वतन्त्र है, अपनी परिणतिसे परिणमता है, निःशंकित अंग वाला ऐसा विचार करके अपने आपके पैरों पर खड़ा है।

सिंहवृत्ति—सिंहवृत्ति और स्वानवृत्ति इनमें बस एक यही अन्तर है कि सिंहवृत्ति वाले जीव अन्तरात्मा अपने चैतन्यस्वभावका स्वावलंबन करता है, अपराध भी हो जाय तो अपने रागद्वेषादि अपराधको देखकर उसे मेटता है परन्तु स्वानवृत्ति वाले मोही प्राणी न अपने चैतन्यस्वभावका भान करते और अपराध भी करे तो वह न समझता है और न अपराध को निकालनेकी कोशिश करता है, किन्तु जो निमित्त अपने घातमें पड़ गया उस निमित्तपर लक्ष्य करके निमित्तको ही तोड़ने जोड़नेके विषयमें प्रयत्न करता है। जैसे कुत्तेको लाठीसे मारा जाय तो वह मारने वालेपर दृष्टि न डालकर लाठीपर दृष्टि डालकर उसे चाबता है। सिंहवृत्ति वाला सम्यक्दृष्टि कहलाता और स्वानवृत्ति वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता। इस तरह दर्शन विशुद्धिके प्रकरणमें कहे जाने वाले सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमें पहिला अंग निश्चय और व्यवहारसे कहा।

निःकांक्षित अङ्ग—दूसरा अंग निःकांक्षित है। इसका यह अर्थ है कि अपने चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त किसी परिणतिमें अनुराग नहीं होना निश्चयसे निःकांक्षित है। जितनी भी मेरी कषायकी वृत्ति होती है उन कषायोंकी वृत्तिमें रुचि नहीं होती, इस प्रकार कषायकी वृत्ति उठकर भी वह प्रगटमें अलग बना रहता अपने ही आतमाके प्रदेशमें। फिर उसके उपयोगसे बिल्कुल अलग बना रहे इसमें कितना बड़ा बल और शाँति है ? यह सम्यग्दर्शन की ही ताकत है कि अपनेमें उठने वाली पर्यायसे ऐसा और अपने आपसे अलग रहता हूं, अलग ही सा हो रहा हूं अपने अन्दर। अनगार धर्मामृतमें धर्मका महात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि जिसके सम्यग्दर्शन हुआ है, जो धर्मात्मा पुरुष है उस धर्मात्मा पुरुषके बाह्यमें यदि कोई उपसर्ग दुःख विपदा आजाय तो उसका चेहरा उदास तो दीखता है। पर धर्म भीतर खुश है वह ज्ञान भीतर अनुकूल है ऐसा अंतरंग सुख परिणाम आता यह सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है। वहाँ किसीने प्रश्न किया कि धर्म यदि आनंद भरा रहा है तो चेहरेपर उदासी क्यों है। उत्तर-धर्म मानो कुछ डर गया है सो वह ऊपर अपना हर्ष नहीं बताता, भीतर तो अपना हर्ष

रखता ही है परन्तु धर्म अपनेमें अनाकुलताको ही लिये हुए है। वह ज्ञानी यद्यपि ऊपर उदास रहता है परन्तु भीतर अनाकुल है। तो उसके भीतरमें उसके चेहरेपर कोई सम्यग्दृष्टि ही देखता। उदासीके समयमें सम्यग्दृष्टिके चेहरेपर खुशी ही देखेंगे ज्ञानीके बातोंको सारी कलायें ज्ञानीको मालूम हैं। वह अपनी कलाओंके द्वारा ही दूसरेको देखता है। साधारण लोग उसमें उदासी ही देखते हैं। परन्तु वह भीतरमें ही अनाकुल रहता है। उस ज्ञानी जीवके जिसने अपने अपने चैतन्यस्वभावका दर्शन किया, कर्मके आधीन होने वाले और अंतमें नष्ट होने वाले दुःखके उदयसे जो भरा हुआ है, पापके कारण है, ऐसे विषयसुखमें उसे रुचि नहीं होती। उसे बड़ी ग्लानि होती, यह निःकांक्षित अङ्ग है। चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त और भावकी इच्छा नहीं होना, निश्चयसे निःकांक्षित अङ्गका अन्तरंग है, और जगतके बाह्य सुखोंकी चाह नहीं करना व्यवहारसे निःकांक्षित है।

निर्विचिकित्सित अङ्ग—इसी तरह निर्विचिकित्सित धर्मी साधुको देखकर जिनका शरीर मलिन है, मुखसे दुर्गन्ध भी आती है व जो बीमार साधु है, दस्त भी लग रहे हैं, मूत्र पेशाबसे भी लथपथ है, फिर भी ज्ञानी जीव ऐसे प्रवाहमें उस साधुके शरीर तकसे भी ग्लानि नहीं करता और ग्लानिरहित होकर उसकी सेवा करता है। ज्ञानीके ज्ञानमें इतना अनुराग है कि ज्ञानीमें अनुरागको पाकर शौच वगैरह भी ग्लानि जैसी तुच्छ परिणित उसके हृदयमें नहीं रहती। इस बातको दृष्टांत ले करके भी देख लो। माताका पुत्रमें बड़ा अनुराग रहता है। यदि पुत्र टट्टी भी कर जाय पर माताको ग्लानि नहीं होती। अपने हाथसे साफ कर देती है और दूसरे लड़के की टट्टी पड़ी हो तो उसमें ग्लानि आती है। इसका कारण क्या है कि इस माताको अपनेसे इतना अनुराग है कि उस अनुरागके कारण टट्टीविषयक ग्लानि बिदा हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीवको धर्मात्मामें इतना अनुराग रहता है कि धर्मात्माके शरीरसे उस ज्ञानीको जरा भी ग्लानि नहीं होती है, जिससे अनुराग हुआ उसके दोषमें भी ग्लानि नहीं रहती, कभी कभी यह तो अनुभवकी बात है। तो फिर शरीरके मलसे उसे ग्लानि क्या रहे? जैसा कि माता पुत्रके कोई दोष समझे तो भी पुत्रसे ग्लानि नहीं करती। कोई सुन्दर प्रेमके उपायसे उस दोषको छुड़ानेका प्रयत्न भीतर स्वभावसे हो रहा है, इसी तरहसे ज्ञानी जीवको धर्मात्मामें कदाचित दोष भी है तो भी धर्मात्मासे ग्लानि नहीं होती। परन्तु अपने सदुपायोंसे उसके दोष जिस प्रकार निकलें—इसके प्रयत्न स्वयमेव हो जाते हैं। निर्विचिकित्सित अंग कितना रहस्य भरा है, अंतरंगमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ यह जो विभाव है उनसे क्षोभ नहीं पाता हुआ चैतन्यस्वभावके दर्शनमें ही उसकी रुचि बनी रहती है। कभी भी उसमें यह भाव पैदा नहीं होता है कि मैं इतने दिनसे धर्ममें लग रहा हूं, पर धनी न हो पाया, मेरे अवधिज्ञान चमत्कार आदि पैदा नहीं हो पाया। इसको धर्ममें

ग्लानि स्वप्नमें भी नहीं होती। ऐसा यह निर्विचिकित्सित अङ्ग है। इसी तरहसे अन्य अङ्ग जिनका वर्णन कल करेंगे उनकी शक्तिरूप इस दर्शनके होनेपर ज्ञानीमें वस्तुपरिणाम होता है कि मोहसे छूटकर चैतन्यस्वभावको पायें, ऐसा उनको प्रभुमें अनुराग होता है, इस भावमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

स्वभावलाभमें त्रैरूप्यताका प्रकरण—शुद्ध आत्माके स्वभावका लाभ उत्पाद व्यय ध्रौव्य करके सहित है। १७ वीं गाथामें यह बात बतलाई थी कि यह स्वयंभु स्वमें स्वयंके लिये स्वयंके द्वारा होता है। तब कहीं ऐसा न समझो कि यह तो अभावकी बात होगी, ऐसा संकोच संदेह किसी श्रोताको आ गया तो उसके निराकरणके लिये यह गाथा चल रही है। श्रोता भी निराकरणके द्वारा वस्तुको शुद्ध कर रहा है। वहाँ कुछ चीज न हो ऐसी बात नहीं है। उसमें तो खासियत यह है कि कोई पर्याय उत्पन्न होती, कोई पर्याय नष्ट होती है और द्रव्य ध्रौव्य रहता है। यदि वह स्वयंभु कोई चीज है तो यह बतलाओ कौनसा पर्याय उत्पन्न हुआ और कौनसा नष्ट हुआ ? देखो वहाँ शुद्धपर्याय तो उत्पन्न हुई और अशुद्ध पर्यायका नाश हुआ और दोनोंमें एक द्रव्य हुआ।

अशुद्ध पर्यायमें त्रैरूप्यता—उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बातको शुद्ध स्वरूपमें घटाया है, अब अशुद्ध स्वरूपमें भी देखो—एक मनुष्य मरकर देव हुआ तो देवपर्यायसे उत्पन्न हुआ और मनुष्यपर्यायका विनाश हुआ। देवपर्याय कब उत्पन्न हुई और मनुष्यपर्याय कब नष्ट हुई ? क्या ऐसा होता है कि पहिले मनुष्यपर्याय नष्ट होती है, पीछे देवपर्याय पैदा होती हो या यह कि पहिले देवपर्याय पैदा होती है और पीछे मनुष्यपर्याय नष्ट होती है कि एक समयमें एक साथ मनुष्य पर्यायका नाश और देवपर्यायका उत्पाद होता है। हाँ एक ही समयमें मनुष्यपर्यायका नाश होता है और देवपर्यायका उत्पाद होता है। संयोग वियोग एक ही समयमें हैं, जैसा हम और आप दोनों किसी गाँवमें जा रहे हों। रास्तेमें एक छोटासा गाँव आया, वहां सलाह हुई कि आगे हम अकेले जायेंगे, यहांसे लौट जावो। तब आप वहींसे लौट गये। फिर कोई आदमी पूछता है कि तुम्हारा उनका कहाँ वियोग हुआ तो उत्तर है उस छोटे गांवमें वियोग हुआ। उस छोटेमें भी दोनोंका साथ था, वियोग कैसा ? तो जैसे संयोग और वियोगका स्थान एक ही है, जहाँ वियोग हुआ वह स्थान अंतिम संयोगका भी था। जैसे मनुष्य आयुमें निषेक ८ बजे तक चल रहा है। ८ बजकर एक समयपर देवआयुके निषेकका उदय हुआ। यहां देखो मनुष्यका ८ बजे तो मनुष्यआयुका उदय है, सो वहां तो मरण नहीं, आयु का उदय आया वहाँ वह देव बन गया तो मनुष्य मरा कहाँ ? यह बतलाओ मनुष्यके मरने की बात यदि कही जा सकती है तो देवआयुका जो प्रथम निषेकका उदय है वह जिस समयमें है उस समयमें मनुष्यका विनाश कहा जा सकता है तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक ही में हुआ,

इस बातका इस प्रवचनसारमें ज्ञेयाधिकारमें विस्तृत वर्णन होगा।

वस्तुकी त्रैरूप्यताके बोधसे शिक्षा—देखो जब नवीन पर्यायका उत्पाद हुआ वहाँ उसी समय पूर्वपर्यायका विनाश हुआ। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तुका ऐसा स्वभाव न हो तो जो पुरुष अधर्मी है वह अनन्तकालमें अधर्मी ही रहेगा, जब उसमें दूसरी पर्यायका उदय हो तो अधर्मी पर्यायका विनाश हो, इसलिये धर्मी पर्यायके उत्पाद बिना अधर्मापर्यायका विनाश नहीं होगा। भैया! उत्पाद व्ययका इसमें स्वभाव पड़ा है, इसलिये कल्याण हो सकता है। प्रत्येक जीवके नवीन-नवीन पर्यायका उदय होना पूर्व पर्यायका विनाश होना यह हम सबके अनुभवमें भी आता है और पौराणिक कथामें भी सुनते हैं तो वही स्पष्ट है। क्षण क्षणमें दूसरी पर्याय देखी जाती है, यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका ऐसा स्वभाव है, क्षण क्षणमें आत्मामें पर्याय बदलती रहती है, इस तरहसे अपनी पर्यायको विनाशीक जान कर पर्यायमें मोह न करो, किसी पर्यायमें आत्मबुद्धि न करो। जो नाश हो जाने वाली चीज है उसको अपना मानने से अपना लाभ नहीं हो सकता। जो ध्रुव चीज है उसमें आत्मीय बुद्धि करनेसे अपनेमें कुछ मिल सकता है। लोग अपने-अपने करामातोंको दिखाकर चले गये, उनकी कोई भी बात नहीं रही। उस भवमें क्या होता होगा, उस भवमें अपने परिणामके अनुसार सुख दुःख पाता होगा। यह जीव इस ही तरह निज विज्ञान धनसे भ्रष्ट होकर विभावोंमें ही रत रहता हुआ संसार परिभ्रमण करता है। संयोगाधीन दृष्टिका ही विकारी स्वाद लेता रहा है। हे आत्मन्! देख सौभाग्यसे सुभवितव्यसे यह उत्तम नरभव पाया। आत्मा तू वही है जो पहिले था, अनेक भवोंके अनेक संपदाविपदासे तू आघाया नहीं। सारे भ्रमणका मूल पर्याय बुद्धि है। इस पर्याय बुद्धिको छोड़ द्रव्यदृष्टि कर। तू स्वभावकी महिमा तो देख। परद्रव्यसे अत्यंत भिन्न अपनेमें अविभक्त शुद्ध निर्मल निरुपाधि पारिणामिक भाव सुधाका पान कर। जो तेरे स्वभावके अनुरूप है वह तो तेरी कला है और जो विपरीत है वह सब कलंक है। तेरा स्वभाव है विशुद्ध चैतन्य और भी ध्यान रख, तू सामान्यविशेषात्मक है, फिर भी तू इन दो तत्त्वोंमें जो कि एक साथ रह रहे हैं मात्र विशेष की पहिचानमें रहा, उसके फलस्वरूप अनंतकाल संक्लेश सहा, आकुलित क्षुब्ध रहा। अब तू यह कर, विशेष तो ज्ञेय बना, उसका विरोध न करके सामान्य का दृढ़ अवलम्बन ले, ऐसा दृढ़ अवलम्ब लक्ष्य कर कि जिसके बाद अन्य पक्ष न आवे और यह पक्ष भी मिट जावे। तू शुद्ध बुद्ध निरञ्जन ज्ञान पूर्ण है, उस स्वरूपको क्यों नही देखता? पूर्ण विश्वास और व्यवहार कर कि शुद्ध चैतन्यभावके अतिरिक्त कोई भी औपाधिक भाव मेरे नहीं है।

कौलिक निःशङ्कताका एक दृष्टान्त—भैया! एक शिक्खके २ लड़के थे। उनमें छोटा लड़का पढ़ने लिखनेमें चतुर था। लोगोंके समझानेपर उसे पढ़ाया और पढ़ने विलायत भेज

दिया। जब वह बैरिस्टरी पास करके आया तब मंडलाधीशने उसका उत्सव किया। वहाँ वह कलेक्टर कहता है उसके पितासे कि यह तुम्हारा बालक बहुत होशियार है, तब पिता बोला कि यह मेरा लड़का नहीं है मेरा लड़का तो (बड़ेका इशारा करके) यह है। कलेक्टर ने पूछा कि यह तो बड़ा बुद्धिमान् बैरिस्टर है, इसे अपना न कहकर इस अपड़को क्यों अपना कहते हो ? तब सिक्ख बोला कि यह पढ़ ही तो आया है, रोजगार अच्छा कर लेगा, इतनी ही तो बात है, परन्तु हमारे कुलकी कलामें तो पूरा नहीं है। कलेक्टरने पूछा—इसकी पहिचान ? तब सिक्ख ने एक ८ हाथकी चौड़ी खाई खोदी और कहा कि मेरे कुलमें शूरता निर्भयता और कर्मठताकी कला चलती रही, इसे पूरा कराइये, इस खाईको उल्लंघ जावे। वह बैरिस्टर एक घोड़े रथ सवार होकर उसे लांघन आया। ज्यों ही खाईके पास आया घोड़ेकी लगाम तान ली और रुक गया। बड़े लड़केसे कहा कि अब तुम इस खाईको लांघो। वह बोला स्वयं कूद कर लांघू या घोड़े पर सवार होकर ? सबने कहा कि घोड़ेपर सवार होकर। यह घोड़े पर सवार होकर चला, घोड़ा दौड़ता हुआ जब खाई के पास आया तब उसने एक ऐड़ और लगाई, घोड़ा लांघ गया। फिर वह स्वयं बोला इसमें तो घोड़ेका ही बल था, अब मैं स्वयं लाँघूगा। वह दौड़ा और कूद कर स्वयं लांघ गया। जब इसका विवरण हुआ तब पता चला कि बैरिस्टरको मरनेकी शंका थी, बड़ेके मनमें यह शंका ही न थी। भाइयों ! जगतके बाह्य अर्थोंके निमित्त इस अमर विशुद्ध चैतन्यमें अब क्या शंका करते हो ? तुम अनंत चतुष्टयके अधिकारी हो, इस मोह खाईको लांघ जावो यह तुम्हारे कुलकी कला है अन्यथा बड़े-बड़े विज्ञान भी पा लो, स्वरूपदृष्टि नहीं हुई तो उसे भगवानका प्यारा नहीं समझना। निज अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावकी प्रबल भावना करो तब उस उपयोगमें राग द्वेषको अवकाश ही नहीं मिलेगा। इनका वस्तुतः कोई स्वामी नहीं है, मात्र भ्रमसे इस जीवने पालन पोषणका भार ले रखा है।

अमूढदृष्टिता—देखो रागादि यदि आत्माके हैं तो जब तक आत्मा है सदा रहना चाहिये और यदि पुद्गलकर्मके हैं तो पुद्गलकर्मका ही कुछ होता रहो, आत्माको इसमें क्या बिगाड़ हो, फिर क्यों क्षुब्ध होता है। निमित्त दृष्टिसे देखो तो पुद्गलकर्मके हैं व उपादान दृष्टिसे देखो तो आत्माके हैं परन्तु स्वभावदृष्टिसे देखो तो वे हैं ही नहीं। तब स्वभावदृष्टि बनाओ, उनका ध्यान ही हटावो, वे तो मिटेंगे ही। आत्मा परिणमनशील है। यह अधर्मपर्याय छूटकर धर्मपर्याय आती है अथवा यों अधर्म पर्याय छूट जाती है, दोनोंका एक ही समय है। धर्मदृष्टिसे धर्मपर्याय आती है और अधर्मदृष्टिसे अधर्मपर्याय आती है। धर्म है आत्माका चैतन्य स्वभाव। कहा भी है "वत्थुसहावो धम्मो" तब इस ही प्रतिभासमात्र चैतन्यभावका लक्ष्य रखा तो ध्रुव नित्य अंतःप्रकाशमान है, फिर सब कल्याण ही कल्याण है। इस निर्मल दृष्टि

के होनेपर वे भाव ही नहीं आते जिनसे मिथ्यात्वादि पाप कर्म बंधते हैं, हां पहिले अज्ञान अवस्थामें जो कर्म बांधे थे उनका कुछ विपाक है, उसे कदाचित् गुजारेमें करता है तो भी ज्ञानी अपने निर्मल लक्ष्यके कारण स्वभावमें ही ढलता है और कर्म निर्जराको प्राप्त होते जाते हैं। अतः सर्व विकल्प छोड़कर मात्र निज पारिणामिक भावका ही लक्ष्य रखो, इसही में सत्य कल्याण है। इसमें कभी पर्यायमूढता नहीं आती। पर्यायमूढ परसमय है, द्रव्यद्रष्टा मुक्तिमार्गके सत्य सैनिक हैं। दर्शन विशुद्धिके प्रकरणमें कल निर्विचिकित्स अंग तक हो गया, इसके बाद अमूढ दृष्टि अंग है वह यही तो अमूढता है। अमूढदृष्टि कहते हैं कि ऐसी दृष्टि होना जो मूर्खता पूर्ण न हो, उसे कहते हैं अमूढ दृष्टि। मूढ माने मूर्खता पूर्ण दृष्टि होना सो मूढदृष्टि और मूढ दृष्टि न होना सो अमूढदृष्टि। कुदेव कुगुरु कुशास्त्र इनमें श्रद्धा जाना सो मूढदृष्टि है इनमें न जाकर देव शास्त्र गुरुमें ही रुचि रहना यह अमूढ दृष्टि है। निश्चयसे आत्माका जैसा स्वरूप है उस स्वरूपमें सावधान रहना, उसमें मूर्खता न आना, इस स्वरूपके विरुद्ध अपने आपको न समझना अमूढ दृष्टि अंग है। ज्ञानी जीव निर्भय क्यों रहता है इसलिये कि उसे अपना स्वरूप हस्तगत है इसलिये भयका कोई प्रयोजन नहीं। भय क्या है, लाखका टोटा पड़ गया, इसमें भयकी क्या बात है, मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप अनंत गुणका पिंडरूप ज्योंका त्यों अब भी तो हूं। यहाँसे गया क्या? यहाँ किन्हीने कोई उपसर्ग कर किया तो भय काहेका? यह अनंतगुणोंका पिंडरूप आत्मा ज्योंका त्यों यहाँ ही तो है इसमें आया क्या? इसमें गया क्या, ऐसी वस्तुके स्वरूपकी श्रद्धा है। इसलिये सम्यग्ज्ञानी जीव निर्भय होता है। सम्यग्दृष्टि अनादि अनंत अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभावसे कभी मोही अज्ञानी नहीं होते।

उपगूहन अङ्ग—अमूढ दृष्टि अंगके बाद उपगूहन अंग है। उपगूहन अंग कहते हैं धर्मात्माओंके दोष छिपानेको। दोष कई तरहसे छिपाया जाता है। जैसे एक तो प्रजामें दोषों को प्रगट न करना क्योंकि उस धर्मात्माके दोष प्रगट करनेसे किसीको लाभ नहीं होता। न तो प्रजाका ही लाभ होता व न कहने वालेको हो, न जिसके दोष कहे गये उसको लाभ होता है। दूसरे धर्मात्माओंके जो दोष हैं उनको समझाकर उनको दूर करना, इस तरहसे दोषका उपगूहन होता है—तीसरा यदि धर्मात्मा माने ही नहीं, एकदम उद्दण्डतापर उतारू हो जाय, यदि अयोग्य क्रिया करता रहे तो उसे गुरुजन डाटकर उचित दंड देकर यहां तक कि संघसे निकालकर दीक्षा छेद कर उसके दोषोंको धार्मिक प्रवाहमें से निकाल देते हैं अर्थात् जिस किसी प्रकारसे धर्मकी प्रसिद्धि हो उस उपायसे उपगूह करे। समाजमें देशमें दोष प्रगट करने से धर्मका ही हास्य लोग करते हैं, इसलिये दोष प्रगट न होने देना उपगूहन अंग है। यहां कोई उपाय कर उसे छिपाओ, उसे समझाओ या उसे दंड लिवाओ, कुछ भी प्रक्रिया करो परन्तु लोगोंको उनके दोष प्रगट न हो सकें, ऐसी बात करना उपगूहन अंग है। इसका दूसरा

नाम उपवृंहण अंग है। आत्माके गुणोंकी वृद्धि करना अपने गुणका विकास करना सो उपवृंहण अंग है और अपने चैतन्य भावमें दोषोंको नहीं आने देना सो उपगूहन अंग है धर्मात्माओंके दोषोंको प्रगट न होने देना व्यवहारमें उपगूहन अङ्ग है, अपने आपके चैतन्यस्वभावमें अपने दोषोंको प्रगट न होने देना; उत्पन्न न होने देना, सो निश्चयसे उपगूहन है।

स्थितिकरण अङ्ग—उपगूहन अंगके बाद स्थितिकरण अंग है। कोई धर्मात्मा धनके अभावसे या आजीविकाके अभावसे या लोगोंके अपयशसे या शरीरकी कमजोरीसे किसी कारण से धर्मसे विचलित हो रहा है तो उसे विविध उपायोंसे धर्ममें स्थिर करना, स्थितिकरण अंग है। जैसे पुष्पडाल मुनिको वारिषेण मुनिने अपनी गृहस्थीकी रानियोंको शृङ्गार करवा करके दिखाकर पुष्पडाल मुनिको वैराग्य बढ़ाकर धर्ममें स्थिर किया। उपाय नाना होते हैं, ध्येय एक होना है तथा निश्चयसे अपने आपको काम, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंसे विचलित होते हुए भी सद्वचनोंके द्वारा अपने आपमें स्थिर कर दिया सो स्थितिकरण अंग है। दूसरे को स्थिर करना बाह्य स्थितिकरण अंग है। अपने आपको स्थिर कर देना सो निश्चयसे स्थितिकरण अंग है।

गुणदोषदर्शनका विवेक—यह जीव अनादिसे कर्मोंसे मलिमस है। यह अनेक दोषोंको बनाता जाता है, जब तक यह जीव स्वरूपमें नहीं छुपता अप्रमत्त अवस्थामें नहीं होता तब तक किसी भी जीवकी आलोचना करे तो आलोचनाके लिये ५० विषय मिलते रहेंगे जब तक दोषका पिटारा है। यहाँ कौनसा ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो गुणोंसे ही भरपूर मिलेगा? बड़ेसे बड़े गाँधी नेताको भी लो, ऊंचेसे ऊंचे साधुके दोष खोजने चलो तो दोष मिल जायेंगे, क्योंकि परमात्मा ही निर्दोष है परन्तु जिनके दोष खोजने मात्रकी ही आदत है उसके सबसे बड़ा यही है दोष। दोषदृष्टि वालेको सर्वत्र दोष ही नजर आयेंगे, गुण तो उसकी दृष्टिमें आ भी नहीं सकते। कोई विवेक ऐसा होता जो गुण और दोष देख करके गुणपर विशेष भार देवे। जो गुण ही देखे वह गुणी और गुणका प्रेमी है। इस कारण हम और आपको यदि अपने कल्याण मार्गमें चलना है तो दोषदृष्टिको दूर कर अपना मार्ग साफ करनेके लिये गुणदृष्टि लेना चाहिये। दोषदृष्टि लेने वाले अपने दोषकी दृष्टि करें, मुझमें क्या क्या दोष हैं? हाँ अपने ही उद्धारके लिये हमें यदि शरणके दोष जाननेकी आवश्यकता हो व दिखनेमें आ जाय तो उस का निषेध नहीं, क्योंकि जहाँ हमें श्रद्धा करके अपना कल्याण मार्ग बनाना है वहाँ हमें निर्दोष का आश्रय लेना चाहिये। ज्ञानी उस दोषको जाननेका अपने कल्याणके वास्ते ही प्रयत्न करते हैं, परन्तु आज तो संसारमें रूढि चल गई। जो दोष देखते हैं वह अपने कल्याणके वास्ते दोष नहीं देखते किन्तु अपना व्यसन बढ़ानेके लिये उस दोषको देखा करते हैं। जो भी काम करे अपने हितके लिये करे। अपने हितके लिये दूसरेके दोषोंको समझो परन्तु अपने हितका जहाँ

लेश भाव है ही नहीं और दोष देखकर जहां व्यसन बना रहे, वह स्वयं उसके लिये घातक है।

स्थितिकरणके प्रयत्न—स्थितिकरण अंग वाले किन उपायोंसे धर्मात्माओंकी स्थिति करते हैं ? यह उपाय सम्यग्दृष्टि होनेपर उसके सरल बन जाता है। उद्देश्यका बोध होनेपर भैया ! उलझन नहीं, दूसरेको किस प्रकार धर्ममें स्थिर करे, यह उपाय उसकी समझमें ही है। कितनेके दोष समझाकर दूर किये जाते हैं, कितनेके दोष दंड देकर दूर किये जाते हैं कितनोंको स्थिर करना उपदेशसे होता है, कितनोंको स्थिर करना विनयसे होता है, कितनों को स्थिर करना अनुराग बढ़ानेसे होता है, कितनोंको स्थिर करना सेवासे होता है कितनोंको स्थिर करना धनकी सहायतासे होता है। जुदी-जुदी परिस्थिति वालोंमें जुदे-जुदे उपायोंसे स्थिर करनेका उपाय चलता है। स्थितिकरण—दूसरा यदि धर्मसे विचलित होता है तो उसे धर्ममें स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग व्यवहारमें है। खुद धर्ममें विचलित होता हो तो खुद को धर्ममें स्थिर करना निश्चयसे स्थितिकरण अङ्ग है।

वात्सल्य अङ्ग—अब वात्सल्य अङ्ग सुनिये—वात्सल्य अङ्ग कहते हैं निश्छल निष्कपट प्रत्युपकारकी आशा बिना जो धर्मात्माको प्रेम किया जाता है उसको कहते हैं वात्सल्य अङ्ग। विष्णुकुमार मुनिको कौनसा स्वार्थ था जो ७०० मुनियोंको उपसर्गसे बचानेके लिये इतना बड़ा त्याग किया, कितना बड़ा त्याग कि त्यागका त्याग करके ऐसा उपसर्ग बचा लिया। आप कहो कि त्यागका त्याग करने वाले बहुत मिल जायेंगे परन्तु त्यागका त्याग करनेमें जिन्हें खेद हो रहा है और त्यागका त्याग बड़े ही कार्यके लिये आवश्यकसा मालूम पड़ रहा हो, वही त्यागका त्याग करे तो उसकी आत्मासे पूछो कितना दुःख होता है विष्णुकुमारने इतना दुःख स्वयं अपनेपर लेकर जहाँ उपसर्ग बचाया है, देखो वात्सल्यकी कितनी पराकाष्ठा है ? प्रेम कहते हैं तो इसको कहते हैं धर्मात्माओंके उपसर्ग आनेपर उनका उपसर्ग दूर करना प्रेम बढ़ाना यह वात्सल्य अङ्ग व्यवहारसे है। निश्चयसे अपने आपके ज्ञायकभावमें रुचि करके उसमें स्थिरता से रहना, अपने गुणमें प्रीति करना इसको कहते हैं वात्सल्य अङ्ग।

प्रभावना अङ्ग—आठवां अङ्ग प्रभावना है। इस अङ्गमें अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करके जैनशासनकी प्रभावना करना प्रभावना अङ्ग है। बड़े-बड़े उत्सव भी मना लिये जायें, बड़े-बड़े कल्याणक भी मना लिये जायें, परन्तु अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेका उस उत्सव में कोई उपाय नहीं रखा तो वह प्रभावनाका रूप नहीं है। लाखों रुपया खर्च करके उत्सवमें दूसरेके अज्ञानको दूर करनेका कोई उपाय नहीं रखा तो वह प्रभावना अङ्ग नहीं है। हां कल्याणक हुए, स्थापना की, पंचकल्याणक बन गये, उसे उत्सव कह सकते, परन्तु प्रभावना वह कहलाती है कि जिसके द्वारा लोग देखकर यह कहेंगे कि यह उद्धार करने वाला धर्म है। तो यह बात दूसरेके हृदयमें आ जाय तो उसका नाम ही प्रभावना है। अब आप सोच लो कि

दूसरेके मनमें यह बात कैसे आ सकेगी ? यह आ सकेगी उनको ज्ञानदान देनेसे । ज्ञानदानसे बढ़कर और कोई प्रभावना धर्मकी नहीं होती, यह तो है बाह्य प्रभावना । परंतु अपने आपको रत्नत्रयके तेजसे प्रभावित करके बढ़ाना उसे कहते हैं अंतरङ्ग प्रभावना । इस तरह आठ अंगों से सहित उसका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है । मूढ़तासे रहित अनायतनोंसे रहित सम्यग्दर्शनके होनेपर जिसका यह परिणाम हो जाय, जिसका चैतन्यभाव अपनेमें देखा ऐसा चैतन्यभावकी सबमें स्थापना करके ये ऐसे सुखमय अपने चैतन्यस्वभावको क्यों देखते नहीं, क्यों दुःखी हो रहे, कैसे इनका संसार दूर हो, ऐसे परिणाममें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है । तीर्थंकर प्रकृति तो आस्रवरूप है किन्तु सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग है ।

स्वरूपावगमके लिये त्रैरूप्यताके वर्णनका पुनः उपक्रम—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अंतमें जो पूर्ण अवस्था होती है अब उसी पूर्ण अवस्थाका उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी दृष्टिसे इस १८वीं गाथामें वर्णन करते हैं । उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन चीजें प्रत्येक द्रव्यमें पाई जाती हैं । उस कारणसे शुद्धात्मामें भी ऐसी अवस्था होती है । द्रव्यका स्वरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है (युक्त है) । प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाया जाता है, तब शुद्धात्मा कोई द्रव्यसे न्यारा थोड़े ही हो गया, वह भी तो द्रव्य है, शुद्ध हो गया, शुद्धात्माके उत्पाद व्यय ध्रौव्य खोजना ऐसा कहते हैं या ऐसा हुवाते हैं । कहाँ हुवाते हैं ? उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन चीजें भी मेरे उपयोगमें विशेष रूपसे हुवाते हैं, कहाँ हुवानी हैं ? सिद्धमें हुवानी हैं अर्थात् अपने ज्ञानके द्वारा सिद्धमें इस समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध करते हैं और जिसमें सिद्धोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य देखो, जानो, समझो, ऐसे जैसे कि उस उपयोगके अनुरूप अपने आपमें ऐसी कोई विशेषता पावें । इस प्रकार उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्यको कहते हैं ।

उप्पादो य विणासो विज्जादि सब्बस्स अत्थजादस्स ।
पच्जायेण दुकेण वि अत्थो खलु होदि सब्भू दो ॥१८॥

वस्तुकी त्रैरूप्यमयता—समस्त जितने भी पदार्थ हैं उनका किसी पर्यायमें तो उत्पाद होता है व किसी पर्यायमें विनाश होता है परन्तु उन सब पर्यायोंके अन्दर पदार्थ सद्भूत रहता है । जैसे शुद्ध सोनेकी अङ्गद पर्यायसे तो उत्पत्ति हुई, अङ्गद कहते हैं जो भुजावोंमें पहिना जाता है, जैसे सोनेकी बाजू बंदरूपमें पर्याय की तो उत्पत्ति देखी गई और और जो पहिले थी उन अंगूठियोंकी पर्यायका विनाश हुआ व पीली आदि पर्याय जो कि यहां गुणस्थानीय है दोनों जगह उत्पत्ति विनाशको नहीं प्राप्त हुआ, यहां इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य हुआ अर्थात् सोनेकी ५, ७ अंगूठियां थीं । किसीने कहा कि इन अंगूटियोंका एक अङ्गद बना दो । उसने उनका अंगद बना दिया तो देखो वहां अङ्गदका तो हुआ उत्पाद और अंगूठियोंका विनाश, परन्तु सोना दोनों जगह वही सोना है वही पीलापन है तो पीलापनका और सोनेका ध्रौव्य

रहा है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंका किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश होता और किसी पर्यायसे ध्रौव्यपन बना रहता। इतनी ही वस्तु है और वह स्वयं परिणमता हुआ है। प्रति क्षण-क्षण वह परिणमता ही रहता है, अमुक समयका जो परिणमन है उसको उत्पाद और उसीको विनाश कहते है।

अभावैकान्तका प्रतिषेध—वस्तुतः विनाश और अभाव सर्वथा अभाव रूप नहीं हुआ करता किन्तु किसी कि सद्भावरूप होता है। जैसे किसीने कहा चौकीपर समयसार रखा होगा उसे उठा लावो, उस चौकीपर समयसार था ही नहीं। तब वह कहता है कि वहाँ समयसार नहीं है, उसे वहाँ समयसारका अभाव दिखा है क्या ? समयसारका अभाव चौकीके सद्भावरूप पड़ा अर्थात् समयसाररहित चौकीका नाम समयसारका अभाव है। क्योंकि जिसके समयसार का अभाव समझमें आया उसके दिमागकी दृष्टिको देखो कि उसके कैसे समझमें आया अभाव ? ऐसे ही समझमें आया कि जिस आधारमें समयसार उसे न मिला वह आधार देखा तब समयसारका अभाव उसने कहा। इसलिये अभाव किसी पदार्थोंके सद्भावरूप हुआ करता है तब पर्यायका विनाश ऐसे दूसरी पर्यायका सद्भावरूप हुआ करता है। देवपर्यायका उत्पाद ही मनुष्यपर्यायका विनाश कहलाता है। जिस क्षणमें प्रथम ही प्रथम देवपर्यायका सद्भाव हुआ उस अवस्थामें मनुष्यपर्यायका अभाव कहा जाता है।

उत्पादव्ययध्रौव्यका एक ही समय—वस्तुके उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकमें स्थिति है। स्थिति है उसका नाम ही उत्पादव्ययध्रौव्य है कि प्रत्येक समय स्थिति सामान्य रहे, इस तरह वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्य है। ध्रौव्य वह होना कहलाता है कि प्रत्येक समय स्थिति सामान्य रहे। इस तरह वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यमें गुम्फित है और जितने गुण हैं उतने गुणोंका उत्पाद और उतने ही गुणोंका विनाश और उतने ही गुणोंका ध्रौव्यभूत ही वस्तु है। इसलिये वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त समझनेके लिये ज्यादा कठिनाई नहीं पड़ती। प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूपमें दिख रही है। लोकव्यवहारमें एक मनुष्यके लिये पिता, पुत्र, मामा भानजा आदि रिश्तोंका उपयोग किया जाता है। प्रतीत होता है कि उस मनुष्यमें मामापन भी है, भानजापन है, पुत्रपन भी है। ऐसे-ऐसे कितने धर्म मनुष्यमें हैं, परन्तु कोई एक अपेक्षासे ही सारेके सारे रिश्ते मान ले, लड़केके ही सारेके सारे रिश्ते मान ले तो वह विरोध खा जायगा। जितने धर्म होते उतनी ही अपेक्षायें होती हैं। जितने गुण होते उतनी ही दृष्टियाँ होती हैं। एक बार बनारसमें गंगादास नामके पंडित रहते थे। वह सभी सिद्धांतके बड़े पारगामी थे। जैन सिद्धान्तों को पढ़नेका मौका मिला, सो उन ग्रन्थोंकी छाप पड़ गई। जिनसिद्धान्तके ग्रन्थोंको पढ़नेकी स्वार्थियोंके यहाँ बहुत तेज मनाही है। क्योंकि जैनसिद्धान्त सरल सत्य सीधे रूपमें रखे हैं। जो ठीक जल्दी सच्ची समझमें कारण हो जाते हैं। इसलिये यह डर लगता कि कहीं पढ़कर यह श्रद्धा न कर बैठे तो हमारे घरसे चला जाय, ऐसे डरके कारण जैनसिद्धान्तको पढ़नेकी

मनाही है। पर जैनसिद्धान्त यह कहते हैं कि दुनियांके जितने सिद्धान्त हैं तुम सब सिद्धान्त को पढ़ो, सर्व धर्मके मत खूब पढ़ो, सब मतोंको पढ़ो और उस मतमें दोष देखनेकी दृष्टिसे न पढ़ो, सब मतोंका अध्ययन करो और उस मतके गुणको देखो। दोष हों तो दोष भी समझो, अपनेमें वह दृष्टि लेवो कि इसका सिद्धान्त किस दृष्टिसे ठीक बैठता है ?

सिद्धान्तोंका सिद्धान्तदर्शकोंकी दृष्टिसे दर्शनका यत्न—जगतमें जितने सिद्धान्त हैं किसीका सिद्धान्त सर्वथा असत्य नहीं है, किसी दृष्टिसे इनका सिद्धान्त ठीक, किसी दृष्टिसे इनका सिद्धान्त ठीक नहीं। जगतके जितने सिद्धान्त सब दृष्टिमें ठीक हैं, परंतु आचार विचारकी अभी बात नहीं कहता हूं। जिसमें आप यह शंका करने लगें कि बलि करना कौन तरहसे ठीक है, हिंसा करना कौन तरहसे ठीक है ? ये कार्य स्वरूपके नहीं है। हम तो सिद्धान्तकी बात कहते हैं, द्रव्यके स्वरूपकी बात कहते हैं। द्रव्यमें कि किनने क्या स्वरूप जाना, क्यों स्वरूपदे खा, उन्होंने दिमाग लगाकर वस्तुमें जो स्वरूप जाना वह उसका गलत ख्याल करके नहीं जाना। किस दृष्टिसे जाना—इसको पहिचाननेकी आवश्यकता है। जितने बड़े ऋषि हुए कपिल हों या और कोई, उन्होंने मोह छोड़कर अपनी बुद्धिके अनुसार द्रव्यके विषयमें जो निर्णय किया वह निश्छल किया। तपस्वी हुए उन्होंने घरका मोह छोड़ा, धन वैभवका मोह छोड़ा, जंगलोंके बीचमें साधना कर रहे थे, द्रव्यके स्वरूपका विचार कर रहे थे, अपनी बुद्धिके अनुसार निष्पक्ष होकर द्रव्यकी खोज कर रहे थे। उनके सामनेकी स्थितिको देखकर आप विचारें इन्होंने अपनी बुद्धिके द्वारा द्रव्यके विषयको समझा वह गलत नहीं समझा। परन्तु यह देखो उन्होंने उस समय क्या दृष्टि बनाई होगी ?

निरूपणोंकी दृष्टि व लक्ष्यकी दृढ़ता—आप भी अनुभव करके देखो। आप जब किसी द्रव्यका वर्णन करनेको चाहते हैं, किसी द्रव्यको खोजना चाहते हैं तो आप अपनेको एक दृष्टि मुख्य बनायेंगे। उन्होंने जो वर्णन किया उसके करनेमें कौनसी दृष्टि मुख्य बनाई थीं ? जिस दृष्टिको लेकर उन्हें ऐसा जंचा, बस, उस दृष्टिको जानने की आवश्यकता है। उस दृष्टिसे उस द्रव्यको देखो जिस दृष्टिसे उन्होंने द्रव्यको देखा। उस दृष्टिको मुख्य करके देखो आपको कहीं गलती भी नजर नहीं आयगी, द्रव्यस्वरूप भी समझमें आ जायगा। इसका यथार्थ निरूपण स्याद्वादने किया, जैसे सूर्य और सूर्यकी किरणें। सूर्य सबका समूह रूप समझो और एक एक किरण जैसे कि ये दिखती कि छूट रही हो, हाँ वस्तुतः सूर्यकी कुछ भी चीज सूर्यसे बाहर नहीं है, चमकते हुए सूक्ष्म संघ किरणरूपमें दिखती हैं, मूल जो सूर्य है। वह सब किरणोंको पकड़े हुए हैं। जिस एक २ किरणको छोड़े हुए है वह एक-एक है किरण है, स्याद्वाद सब दृष्टि को पकड़े हुए हैं और इस स्याद्वादकी जो एक किरण निकले वह द्वैतवाद अद्वैतवाद अनित्यवाद क्षणिकवाद आदि अनेक दृष्टियाँ हैं। द्रव्यके स्वरूपको व जो और लोग कहते हैं उनकी दृष्टि

को पाकर अपना समाधान करो। सर्वरूपसे जो द्रव्यत्वरूप जंचता है, प्रमाणसे वैसा निश्चय करलो। वैसा निश्चय करनेके बाद फिर आपको अपना ख्याल करनेके लिये जिस भावकी दृष्टि चैतन्य है आप उस चैतन्यदृष्टिका ही अवलंबन लेकर बैठ जायें। स्वरूपके उपयोगमें पर्याय निर्मल होगा और स्वयंमें आप चैतन्यमय कारणसमयसारके अनुरूप विशिष्ट हो जायेंगे।

समयसारकी त्रैरूप्यताका वर्णन—यहाँ इस उत्पाद व्यय ध्रौव्यके विषयमें अनेकान्त के विषयमें प्रकरण चल रहा है और बतलाते हैं कि प्रत्येक द्रव्य ध्रौव्यात्मक है। कोई भी पदार्थ ऐसा बतलाओ जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे रहित हो ? कोई भी नहीं है। तब अच्छा वह शुद्ध आत्मा है तो उसमें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनोंके तीनों पाये जाते हैं। यह तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यका लक्षण है। आत्मामें भी उत्पाद है व्यय है और ध्रौव्य है। अब वह किस तरहसे है, जिस समयमें वह आत्मा शुद्ध हुई है, उसके पहिले क्षणमें कारणसमयसारकी प्रक्रिया थी। कारणसमयसार दो प्रकारका होता है, द्रव्यकारणसमयसार एक पर्याय कारण-समयसार। द्रव्यकारणसमयसार तो अनादि अनन्त होता है। पर्यायकारणसमयसार कार्य-समयसारके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें पहिले क्षणमें हुआ करता है और कार्यसमयसारके उत्पत्तिके क्षणमें कारणसमयसारपर्यायका नाश हो जाता है, तो क्या हुआ कि जिस समय उस शुद्ध आत्माको शुद्धता प्रगट हुई अर्थात् शुद्ध आत्माका रुचि करना, शुद्ध आत्माका अनुभव करना, शुद्ध आत्मामें निश्चल अनुभव करना यह हुआ कारणसमयसारकी पर्याय। यह कारण-समयसारपर्याय मोक्षमें तो नहीं होता किन्तु अर्हंतकेवलीके प्रगट रहती। अरहंतदेव विवक्षा-वश कारणसमयसार व कार्यसमयसार दोनों ही हैं। कार्यसमयसारपर्याय तो कार्यसमयसारकी पर्यायका उत्पाद हुआ और जो पूर्वपर्याय कारणसमयसार थी वह विनष्ट हुई। प्रगट दोनों पर्यायमें परिणमने वाला आत्मद्रव्य ही हुआ। क्योंकि वह एक पदार्थ है। इस प्रकारसे उस शुद्ध अवस्थामें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य ऐसा रहा। यह उस समयकी बात है कि जिस समय वह शुद्ध होता है। शुद्ध होनेके बाद क्या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहता, यह बात यहां नहीं आई। यहां तो सिर्फ उस क्षणकी बात कही जा रही है, जिसमें शुद्ध आत्मा होता है। शुद्ध होनेके बाद भी निरन्तर उत्पाद व्यय चलता रहता है, वह इसी प्रकारका समान कारणसमयसार पर्यायका नाश। कार्यसमयसारका उत्पाद और दोनोंके अन्दर आत्मा द्रव्यका रहना। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य कार्यसमयसारका प्रथम क्षणका है। मोक्षमार्गका नाश मोक्षका उत्पाद दोनोंमें आत्माका बना रहना उत्पाद व्यय ध्रौव्य है।

जिस समय मोक्ष होता है उस समयमें मोक्ष पर्याय तो प्रगट होती और मोक्षमार्गकी पर्याय नष्ट हुई, जिस जगह जाना है उस जगह पहुंचनेपर रास्ता खत्म हो जाता है, इस तरह

मोक्षमें पहुंचने पर मोक्षमार्ग नष्ट हो जाता है और मोक्ष अवस्था प्रगट हो जाती है। मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी अधूरी अवस्थाका नाम है, और रत्नत्रयमय पूर्ण धर्म मय वस्तुका नाम मोक्ष है, जिसके आगे कुछ भी न चलना पड़े उसे कहते हैं मोक्ष या परमपद या मंजिल पाना। यदि और भी चलना बाकी है तो उसे रास्ता ही कहेंगे। इसलिये चौथे गुणस्थानसे लेकर १४वें गुणस्थान तक मोक्षमार्ग कहलाता है और जहाँ १४ वां गुणस्थान छोड़ दिया उसे कहते हैं मोक्ष। इस तरह शुद्ध आत्माके विषयमें, उत्पादव्यय द्रव्य खोजनेकी बात कही जाती है। शुद्ध आत्माके अन्दर भी उत्पादव्यय ध्रौव्य जैसी तीनों जो द्रव्यके लक्षण को प्राप्त हैं होना बहुत जरूरी चीज है। ऐसा सद्भावात्मक शुद्ध आत्मद्रव्य स्वयंभु है।

स्वभावमाहात्म्य—ज्ञानका स्वभाव जानना है तो जानना क्या है? यहाँ किसीने उसमें वस्तुओंको जानना लगा दिया है, पहिले यह तो निर्णय किया जाय उसमें जानना, यदि लगाया तो जानना लगाने वाला स्वयं ज्ञानमात्र अनुभवमें है अथवा नहीं। यदि स्वयं जानने वाला ज्ञानमय है जिसने कि जानना ज्ञानको लगा दिया तो यह बात अविपरीत है कि स्वरूप ज्ञान ज्ञेयाकारके उपयोगसे निवृत्त होता हुआ है। पुनः एक वस्तु दूसरी वस्तुको कुछ नहीं दे सकती। इस तरह ज्ञानमात्रमें तो अन्यको जाननेका विकल्प नहीं, गुणपर्यायकी अपेक्षा भी अन्यके ज्ञान देनेकी ताकत नहीं है। यदि वह ज्ञानमात्र दशामें नहीं है व हुआ भी नहीं है तो व्यवहारसे जाननपन ही उसका आशय समझें। जिन पदार्थोंके जाननेका बल ही नहीं उससे यहां ज्ञान आ जाय यह बिल्कुल असंभव है। जाननमात्र तो ज्ञानका स्वभाव है परन्तु परको जानना यह औपचारिक कथन है। ज्ञान अपनी ही वृत्ति करता, परकी नहीं, वैसे तो ज्ञानमें ज्ञेयाकार आता है और आते ही ज्ञेयाकारको ज्ञान लौटा देता है। यह लौटानेकी क्रिया निरंतर रहती है। इस कारण यह मानना होगा कि ज्ञानका स्वभाव स्वयं जानना है वह पदार्थोंको जानना किसीसे उधार नहीं लेना है किन्तु ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। स्वभाव परकी अपेक्षा ही नहीं रखता। जो पर्याय परकी अपेक्षा रखता वह पर्याय वस्तुकी स्वाभाविक नहीं कहलाती। इस समयका जो हमारा ज्ञान है यह उत्पत्तिमें परकी अपेक्षा रखता। इस लिये यह ज्ञान जो विकासको प्राप्त हो रहा है वह स्वाभाविक न समझा जाय। यद्यपि वह ज्ञानस्वभावके ज्ञानका ही परिणमन है परन्तु जिस सीमाको लेकर ऐसी अस्पष्टताको लेकर जो ज्ञान है ऐसा ज्ञानविकास हमारा स्वभाव नहीं है। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है और यह ज्ञान इन इन्द्रियोंसे विकल्पित पराधीन होकर भी जाननेके स्वभावको नहीं छोड़ता है। इसलिये हमारे उस छोटे छोटे ज्ञानमें भी हमें ज्ञानके स्वभावको बल देना चाहिये। हमें जान-कर पराधीनताका बल नहीं देना चाहिये अर्थात् इतने परतंत्र होकर भी हम ज्ञानी बन रहे, यह हमारे स्वभावका माहात्म्य है।

ज्ञानावबोधकी शिक्षा—इस ज्ञानको समझनेके लिये प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक घटनाओं से हम शिक्षा ले सकते हैं। इस पराधीन ज्ञानके अन्दर हम ज्ञानस्वभावको सीख सकते हैं। हमारे समझमें आने वाले राग आदि भावोंसे अपने ज्ञानस्वभावकी शिक्षा ले सकते हैं। वह कैसे ? देखो एक कमरेके अन्दर यदि दीपक प्रकाशमान है व हम ऐसे आड़ेमें बैठें कि हमको दीपक नहीं दीख रहा परन्तु कमरेमें रहने वाले पटपर यदि पदार्थ दीख रहे हों वह दीखने वाले पदार्थ स्वयं ही यह बात सिद्ध कर देते हैं कि यहाँ दीपक है। इसी तरहसे इसमें ये राग क्रोध मान माया लोभ जो प्रतीत हो रहे हैं। यह राग आदि इस बातको सिद्ध कर देते हैं कि यहाँ कोई ज्ञानमय तत्त्व है। यह रागादि भाव हमारे ज्ञानमय तत्त्वको सिद्ध कर देते हैं। यह शरीर हमारे ज्ञानमय तत्त्वको यदि जानना चाहे तो सिद्ध कर देता है और कोई शरीरमें रमना ही चाहे तो सिद्ध नहीं होता। बच्चेको पढ़ाया जाता, जीव वस्तु किसे कहते हैं ? जो चलता फिरता खाना ढूंढ़ता हो वह जीव है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे यह लक्षण असत्य है तो भी जीवके सद्भावसे शरीरमें ऐसी क्रिया हो पाती है। शरीर है इसमें तो ये चेष्टाएँ नहीं होतीं, इसलिये इन चेष्टाओंके द्वारा शरीरका नहीं किन्तु ज्ञानमय तत्त्वका अनुभव कराया।

ज्ञानके रुचियाको ज्ञानका लाभ—जो समझना चाहे उसे अनेक उपाय हैं, जो न समझना चाहे, उसे साक्षात् तीर्थंकरका मिलन भी उपाय नहीं है। जो अपनी सुमतिसे रहना चाहे अपने आचरणसे रहना चाहे तो वेश्याका बाजार भी शिक्षा देने वाला है और जो कुमति से रहना चाहे, दुर्भावसे रहना चाहे, तो उसके लिये मंदिर भी अधर्मसे नहीं बचा सकता है। धर्म अधर्म निश्चयसे बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं रखता। वेश्याको देखकर ज्ञानी जीव इसी को विचारे और देखे तो सही यह है कि चैतन्य तत्त्व उसके अन्दर भी है, सदा प्रकाशमान भाव यह है इसने एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि अनंत पर्याय व्यतीत करके कितना ऊंचे पदको पा लिया है इतना ऊंचा पद पाकर ? अपनी द्रव्यदृष्टिको भूलकर पर्यायबुद्धि करके अपने चरित्रको खराब कर दिया, दुर्गतिका बीज बो दिया है, आदि बातोंका विचार कर ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभावसे वहाँ भी विचलित नहीं हो सकता। कदाचित् वेश्या दिख भी जाय तो उसके जानमें फरक नहीं आ सकता। हाँ उसे इच्छासे देखा भाला तो उसके प्रगट दुर्भाव सिद्ध है, इसके अंदर दुर्भावना सिद्ध है। हम तो ज्ञानवानकी बात बतला रहे कि ज्ञानमें इतना अपूर्व बल रहता है, जिसे खोटे प्रतिकूल बाह्य साधन भी मिल जायें तो भी अपने स्वभावसे चलित नहीं होता और किसीके कुमतिकी आदत है तो मंदिरमें भी बैठा बैठा किसीका रूप देखता है वहां पाप कमा लेगा। अस्तु ! तो यह ज्ञानस्वभाव आत्माका पराधीनता स्वभाव नहीं है। यह परकी अपेक्षा नहीं रखता। यदि परकी अपेक्षा नहीं रखता तो इन्द्रियोंके बिना ज्ञान आनंद नियमसे होता है।

ज्ञानवृद्धिके साधन—ज्ञान बढ़ानेके बुद्धिगत ये साधन हैं कि मंदकषायी बनो। कषाय से ज्ञानकी वृद्धि नहीं होती। दूसरेके ज्ञानमें मात्सर्य न करें, ज्ञानके प्रचारमें अपनी शक्तिके अनुसार सहयोग दें, ज्ञानी जीवका सत्कार आदि देखकर प्रमोदभावना करें और निरन्तर पर-पदार्थसे लक्ष्य हटाकर निरंतर अपने आपके ज्ञायकस्वभावमें अपना लक्ष्य रखें, जिस गुरुसे बात सीखी हो उस गुरुके नामको न छिपावें, किसीमें ज्ञानकी बात आती हो ज्ञानका साधन लगा रहता हो उसमें अंतराय न डालें, यह सब यदि व्यवहारमें उतरे तो इसके ज्ञानकी वृद्धि नियम से होगी। ज्ञान जितना रटनेसे पैदा नहीं होता जितना अपने आपकी संभाल करनेसे ज्ञान प्रगट होता है। दो बच्चोंको स्कूलमें पढ़ने भेजा, एकको रटनेसे याद नहीं होता, एकको एक बार पढ़नेसे ही याद हो जाता है। यह ज्ञानकी वृद्धि बाह्य रटनेपर अवलंबित नहीं है, यह तो आत्माके स्वच्छ भावमें अवलंबित है, क्योंकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है यह स्वभाव व यदि आचार व्यवहार ठीक है तो वही स्वभाव प्रगट होता है, ज्ञान और सुख कैसे होगा ? जो परोपकारी रहते परमेष्ठीकी भक्ति रखते, जिनके भाव कोमल होते हैं, जिसकी नीति ठीक रहती है इस कारणसे उनके ज्ञानकी वृद्धि होती है। यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है आत्माके स्वभाव की ओर जो कि उन्मुख प्रगट हो जाता है आनंद भी आत्माका स्वभाव है। जो आत्माके स्वभावकी ओर ढला उसका ज्ञान व आनंद भी प्रगट हो जाता है, इसी तरह स्वभाव भी पर की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये इन्द्रियातीत आत्माके ज्ञान और आनंद पैदा हो जाता है।

अतीन्द्रिय आत्माके शारीरिक दुःखका अभाव—शुद्ध आत्मा इन्द्रियसे रहित है। इसी कारण शारीरिक दुःख उनके नहीं होता। शंकाकारने यह शंका की है कि जिस शुद्ध आत्माके इन्द्रिय नहीं होती उसके ज्ञान और सुख नहीं होगा ? परंतु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि उनके ज्ञान, उनके पूर्ण सुख तथा शारीरिक सुख दुःख रूप आकुलताका अभाव इस कारणसे है कि उनके इंद्रियां नहीं हैं। जब तक इंद्रियोंका ही काम है, इन इन्द्रियोंका ही व्यापार है तब तक यह जीव दुखी ही रहता जिन जीवोंके ये हत्यारी इन्द्रियां जीवित हैं। जीवोंको दुःख विषयके कारणसे नहीं किन्तु मोही जीवोंके स्वभावसे प्राकृतिक है। कुछ यह बात नहीं कि बाह्य परके कारणसे ऐसे उनके परिणमनसे ऐसी वांछा है इसलिए दुःख हो रहा है, बाह्य बातसे दुःख नहीं होता। बाह्य पदार्थ दुखी नहीं करते। यह दुःख जीव स्वयं अपनी कल्पनासे कर रहा है। यही कारण है शुद्ध आत्माके इन्द्रियां नहीं हैं। सो इन्द्रियज सुख दुःख नहीं हैं। ऐसी बात आचार्य कहते हैं, ऐसी बात अपने अन्दर भी सोचते हैं, ऐसी बात अपने अन्दर भी बनाते हैं।

ज्ञानस्वरूपके ध्यानका अनुरोध—अपने भी ध्यान करने बैठो तो उस ज्ञानस्वरूपका ध्यान करने बैठो जो सहज ज्ञानका स्वरूप है, केवल प्रतिभासमात्र अर्थात् जानना ही है। जानना तत्त्व ऐसी स्थिति रखता जैसा कि आप बाजारमें जा रहे हों, ५० देहाती आपको

दिखाई दिये। आप किसीको जानते ही नहीं और यदि इनमें कोई मित्र जा रहा है वह मिल जाय तो उसको दृढ़ करके जाना और विशेषतासे जाना तो उसके जानने और देहातियोंके जाननेमें ज्ञानकी वृत्तिमें कितना अन्तर है ऐसा जानना जिससे देहातियोंको जान लिया। ऐसा जानना तो कुछ जाननेकी जात है। जैसा कि मित्रको देखा, देखनेमें कुछ गृद्धता हो गई, यह तो अत्यन्त स्थूल बात है, जाननमात्रका तो कोई दृष्टान्त नहीं। यदि जाननेमें कुछ राग हो गया तो यह जानना नहीं। यह राग सहित जानना रहा। ज्ञान वह है जिसे परका जानना तो रहा, परन्तु केवल प्रतिभास करे उसके साथ रागादि भाव नहीं हो। ज्ञानी जीव जानने स्वरूपको ऐसे सामने देखता है कि जाननेका स्वरूप ही यह हुआ करता। केवल जाननेमें केवल प्रतिभासमें जो स्थिति रहती है ज्ञानीके, ज्ञानको उनका पूर्ण अनुभव है। इस बातको सामने रख लिया। जिसे कलकत्ता दिख गया चर्चा आते ही सब चीजें उसके सामने आ जाती हैं। जिसने कलकत्ता नहीं देखा, कोई कलकत्ताकी बात सुनाये तो कल्पनासे सोचता है परन्तु सही स्पष्ट नहीं आ सकती। ज्ञानी जीवने ज्ञानमात्रकी स्थितिका अपना आंशिक रूपसे ही सही अनुभव किया। इसलिये जब यह अनुभव करने बैठता, ज्ञानमात्रमें स्वयंको सोचने बैठता तो उसके सामने वह स्थिति रहती है कि ज्ञानका स्वभावमात्र इतना है। ऐसे ज्ञानके स्वभाव को जानने वाले उसीमें लीन रहने वाले को शारीरिक सुखका पता नहीं हो सकता। यहां शुद्ध आत्माके शारीरिक सुख दुःखका निषेध करके, आत्मीय सुखकी प्रतिष्ठा की जा रही है, सो शुद्ध आत्मामें सुखकी प्रतिष्ठा करना यह काम नहीं समझना, किन्तु अपने आपके सुखके सुखसे लगाये हुए अपने आपमें प्रतिष्ठा करनेकी बात कही जा रही है।

स्वकीय अवलम्बनपर बल—दूसरेके सुखकी चर्चा करके हमको क्या मिलता है? भगवानके अनन्त ज्ञान दर्शनकी बात करके हमको क्या मिलता है, भगवानके बड़े बड़े अद्भुत गुणका वर्णन कर करके हमको क्या मिलता है? मिलता भी है, नहीं भी मिलता। जिन गुणोंका हम वर्णन कर रहे हैं, जिन स्थितियोंको हम सोचते हैं उन स्थितियोंको उन गुणोंको अपनेमें सन्धियां करते हुए कर रहे हैं। तो तत्त्व मिलता है और अपने आपमें सन्धि न करके अपने आपमें उन गुणोंको नदारद करके। यदि कोई स्मरण कर रहा है तो पता नहीं उसे क्या नौकरी दी जा रही है जो इस प्रकारकी नौकरी बजाता है तो हम जानते हैं कि उसको वैभवकी चाहकी नौकरी मिल रही है। उसका वेतन जो मिल रहा है उस परमात्माके स्मरण से वह क्या वेतन ले रहा है? धन पुत्र मित्र आदि इसकी चाहकर वेतन ले रहा है, इसमें मिलता क्या? संसार कलंक। मोहके कारण, परमात्माके गुणोंका ध्यान करनेके लिये वह मोही व्यर्थ परिश्रम कर रहा है और अन्तर आत्माका ज्ञान जो अन्तरंगके ज्ञानके भावमें से उठकर परमात्माके स्वरूपका अपने आपके स्वरूपका स्मरण करता है वह अपने आपके अनु-

भवके लिये करता है। इस कारण भगवानके सुखोंका पर्यायरूपमें स्मरण तो अपना ही काम करना ही कहलाता है।

रागद्वेषसे शून्यकी दृष्टि—कोई कहते कि भगवानकी पूजा करने चलो। यहाँ यह नहीं कहते कि भगवानकी मूर्तिका सहारा लेकर अपनी पूजा करने चलो। यदि ऐसा कहते होते तो उद्देश्य जल्दी न भूला जाता। पूजा करना तो भैया! सच्ची यह है कि शुद्ध आत्माको रागद्वेषादिसे शून्य देखले। यह शुद्ध आत्मा—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभसे शून्य यह आत्मा—इसको शारीरिक सुख दुःख नहीं। आत्मतत्त्वको समझने वालोंके द्वारा आत्मतत्त्वके स्वरूपकी चर्चा सुनकर कुछ उस आत्मतत्त्वके समीप पहुंचकर विचार करते हैं कि इस आत्मामें तत्त्व क्या है तो देखा कि यहाँ तो कुछ नहीं ठहरता, सो कितनोंने तत्त्वोपप्लव कह दिया। कितनोंने जाना कि यह तत्त्व शून्य तो है किन्तु अध्यात्म तत्त्वकी ओर बढ़नेमें दर्शन शास्त्रमें आगे बढ़नेपर, भूमिकामें उसके बाद भूमिका यह आती है "ऐसा मालूम होता है कि कुछ नहीं यह तो शून्य है आत्मा। रागादि भी स्वभाव नहीं है, ऐसा जानना भी उसका स्वभाव नहीं" इस तर्कके बाद सामान्य प्रतिभास रह जाय तो क्या रह जाय वहां? क्योंकी बात नहीं उठती, इसलिये मालूम होता है कि यह शून्य है। इस दृष्टिको लेकर शून्याद्वैतवादी ने अपने शून्याद्वैतवादके मतकी प्रतिष्ठा की है।

ब्रह्मतत्त्व—शून्याद्वैतवादसे जरा ऊंचे उठे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि ऐसा नहीं कि कुछ भी न हो, किन्तु प्रतिभास है, प्रकाश है, एक व्यापक ज्योति है और कुछ नहीं है। शून्यसे उठकर प्रतिभास तक आये तो यहां देखा प्रतिभास ही मालूम हुआ, जिसे कहते हैं प्रतिभासाद्वैत प्रतिभास तो हुआ परन्तु वह न्यारा है या एक इस विकल्पके बाद उत्तर पाता है कि प्रतिभासैकत्वाद्वैत है। अब और कुछ विकल्प चला, तब देखता है कि प्रतिभास तो हुआ, पर वह प्रतिभास केवल हुआ ही नहीं किन्तु उसमें जानना पाया जाता है। इसलिये प्रतिभास प्रतिभासमात्र ही नहीं किन्तु वह एक ज्ञानस्वरूप है ,उसे कहते हैं ज्ञानाद्वैत। ज्ञानाद्वैतवादकी दृष्टिमें यह बात आ गई कि यह कुछ नहीं, यह ज्ञान ही है। ज्ञानमें आया तब तो यह है उसमें नहीं आया तो कुछ नहीं, सारे पदार्थोंमें ज्ञान ही ज्ञान है, जगत ज्ञानके सिवाय दुनियांमें कुछ नहीं है। वह ज्ञेयका अभाव करता है और अपनेमें सब देखता है। अध्यात्म चर्चाओंको सुनकर और अपने स्वयंके दिमागसे जो व्यवहार तत्त्व देखता है तो क्रमशः उसे कुछ कुछ अधिक अधिक समझमें आता जा रहा है कि चीज क्या है? ज्ञानमय सारा जगत। फिर यह विचारता है—यह सारा जगत ज्ञानमय तो है, पर यह ज्ञान क्या निराधार है? क्या किसी वस्तु के बिना है, क्या यह जगतमें है, ऐसा ज्ञान क्या है जो किसीके रूपमें नहीं है, जिसे कोई आधार नहीं और कोई अधिकरण नहीं, ऐसा ज्ञान कहां रहता है? कैसे रहता है? क्या

चीज है ? तो वह सोचता है कि नहीं, ज्ञान किसीके सद्भावमें है वह चीज है, ब्रह्मज्ञान बिना वह केवलज्ञान कैसा ? वह निराधार नहीं, वह ज्ञान कल्पनामात्र नहीं किन्तु वह ज्ञान जो है वह एक साधार है। द्रव्यमें है वह चीज है एक ब्रह्म। अब वह जगतके इन पदार्थोंको सबको ब्रह्मके पर्यायरूपमें देखता है कि ये सब ब्रह्मकी पर्यायें हैं, ये सब ब्रह्मके विकार हैं, यह सब तो कुछ भी तत्त्व नहीं हैं, यह सब ब्रह्मका विकार है, यह सब आत्माका विकार है, यह सब जीवका विकार है। इस ब्रह्मसे बढ़ कर और कुछ तत्त्व नहीं है।

ब्रह्मविकार—देखो ये दर्शनवाले जिस जगह जिस तत्त्वको पाते हैं वह तत्त्व वहां उनकी दृष्टिमें है और उसे जिनधर्मकी एकनयकी दृष्टिसे देखो। उस दृष्टिसे वहां सत्य जंचता है असत्य नहीं जंचता है। यह जीव विकार है यह असत्य नहीं है। हमें यह बतलावो कि एक कांच इस धातुमें पहिले जीव आया और यह कांच बन गया हो, आप इसे सिद्ध कर सकते हैं। यह बिना शरीरके ही आ जाय या आया हो, यह किसी जीवके संबंध बिना काय बनी हो और इसने बिना जीव संबंधके यह शक्ल पा ली, यह सिद्ध कर सकते हैं ? नहीं कर सकते। बतलाओ कि यह कांच कहाँसे आया ? फलां कम्पनीसे आया। उसने कहांसे मंगाया ? उसने जमीनमें जो धातु थी उससे तैयार किया। तो वह धातु क्या चीज थी वह पृथ्वीमें था पृथ्वीकायिक जीव वहां आया कांच जीवसे बना था। जीवके निमित्तसे यह बात प्रगट होती है। यह कपड़ा जीवका विकार है, यह कंकड़ जीवके विकारसे बना, यह छोटे छोटे कंकण जो बन गये वे जीवके भूत संबन्धसे बने हैं। यह रंग क्या चीज है ? जगत के दिखने वाले जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंमें पहिले जीवका सम्बन्ध था तब यह बढ़ा। यदि जीव न आवे तो कोई यह या और चीज बन सकती ? नहीं। यह पानी भी कर्मा नहीं बन सकता, यदि जीवका विकार पानी नहीं होता। यहां विकारके मायने जीवके निमित्तसे होने वाली पर्याय है; पानी भी लो, जीवका विकार न मानो कहांसे लावोगे ? जो पानी आप लेवो वह चाहे शुद्ध किया हुआ लावो, प्रासुक लावो वह पानी जीवका ही विकार तो है। उस पानीको जीवने तो शारीरिक रूपसे स्वीकार तो किया था, तब वह पानी बना जीवके विकार बिना रोटी तो बनाओ। कहाँ बनाओगे आम पर बनाओगे, विकार हैं। कपड़ा पहनोगे तो कहांसे पहिनाओगे। तो जो हम पहनते हैं जीवका विकार था। सब जो भी दिखती है वह सब जीवके निमित्त विकारमें आई। नहीं तो बन नहीं सकती, शक्लमें नहीं आ सकती। इस जगतमें जो कुछ है वह ब्रह्म का विकार है, वह ब्रह्म भाव सब कुछ है।

निर्वाणका अध्यवसाय—शून्यसे उठकर यहाँ तो आये—यह बात कहाँ तक सत्य निकली ? पहिचान लिया, अब उस ब्रह्मको द्रव्यदृष्टिसे देखो। भावदृष्टिमें से देखो सो कुछ हाथ न लगा अर्थात् यह आत्मभाव दृष्टिसे सीमित नहीं, यह आत्मा भाव दृष्टिमें व्यापक है,

असीमित है। इसलिये भावमें दृष्टिमें ब्रह्मको देखा तो अपना सारा जगत ब्रह्मस्वरूप मालूम पड़ा सो भी उपचारसे। यदि द्रव्यदृष्टिसे पृथक् पृथक् रूपमें देखा तो अनन्त आत्माकी सत्ता बन जाती। जो बात आती है जिस तरह जिस दृष्टिसे काममें आये उसे वहां उसी तरह काम में न लेवे और दूसरी तरह काम करे तो धोखा ही खा जायेगा। इस मत प्रकाशको स्थगित कर कल कहेंगे। अब यह बात बतलाते हैं कि इस आत्माके जो कि शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयंभु हुआ है (इस आत्माके) इन्द्रियोंके बिना ज्ञान और आनंद कैसे रहता है? इस संदेह को दूर करते हैं। प्रायः बहुतसे लोगोंको यह संकट हो जाता कि जिस आत्माके परमात्माके देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं उसे ज्ञान कैसे होता होगा और इसे आनन्द कैसा आता होगा? जिनने विषयोंमें ही आनन्द माना और इन्द्रियके द्वारा जो आनन्द होता ऐसे ही जिसे ज्ञान माना उसे इस बातका अनुमान भी नहीं हो सकता कि जब देह नहीं रहता ऐसा परमात्मा है उसको ज्ञानआनन्द हो भी सकता? यही कारण है कि कितने ही लोगोंने बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न रागधर्म अधर्म संस्कार—इन ९ गुणोंके अभावका नाम निर्वाण बताया। जब आत्मामें बुद्धि नहीं रहती तब मोक्ष रहा।

अटक और घटक—जब सुख नहीं रहा, दुःख नहीं रहा तब मोक्ष कहलाया। देखो गेहूंके साथ घुण भी पीस दिया, दुःख अधर्मके विनाशके साथ ज्ञान और सुखका भी विनाश कर दिया, क्योंकि उनका तो यह ऐसा ही भाव था कि ज्ञान तो यह ही कहलाता है जैसा कि हम जाना करते हैं परन्तु यह क्या है? यह तो ज्ञानकी अशुद्ध पर्याय है, ज्ञान तो परमात्मा भावस्वरूप ध्रुव चीज है, यह तो सिद्ध पर्याय भी नहीं है परन्तु इस निकृष्ट ज्ञानपर्यायके अतिरिक्त कोई ज्ञान पर्याय शुद्ध होता है यह जिनके समझमें ही नहीं आया तब इन्होंने ज्ञान गुणका ही निषेध कर दिया। इसी तरह इस अनादिकालके मलिन जीवने यह समझा कि खाने पीने देखने सूँघने आदि विषय भावोंके अतिरिक्त सुख कोई चीज नहीं, यही सुख है अर्थात् अन्य कोई आनन्द ही नहीं होता, इस कारण जिनके इन्द्रिय नहीं, जिनके मन नहीं उनके आनन्द कैसा? ऐसा सन्देह होता है। कोई हंस किसी कुएके तह पर बैठ गया। कुएमें रहने वाले मेढकने पूछा—भाई तुम कहाँ रहते? उसने कहा—मानसरोवरमें। उसने पूछा—मानसरोवर कितना बड़ा है? बहुत बड़ा है। मेंढकने एक पैर पसारकर कहा—कि इतना बड़ा? तो हंसने कहा—इससे भी बड़ा। दूसरी टांग, तीसरी टांग, चौथी टांग पसारकर कहा इतना बड़ा? तो हंसने कहा—इससे भी बड़ा। मेंढक बोला तब तो तू झूठा है, इससे बड़ी तो दुनिया ही नहीं है जितनी मेरी टांग है जितना मेरा शरीर है उससे बड़ी तो दुनिया भी नहीं, वह कहांसे आ जायगा। जिसकी बुद्धि इन्द्रियमें ही अटकी, इन्द्रियके स्वभावमें ही अटकी उसकी यह कल्पना नहीं हो सकती कि इन्द्रियके बिना ज्ञान और आनन्द भी कोई वस्तु होती है। इसे

अनुभवी जान सकते हैं। इसका जिसके अनुभव हुआ है वह पहिचान सकता है। अब इंद्रियके निरपेक्षपनसे, निरपेक्ष मात्र चैतन्यभावके अनुभवमें जो परमज्ञान और परम आनन्द होता है, जो शुद्धोपयोगके प्रसादसे आत्मा स्वयंभु हो जाती, स्वयं ही में स्वयंको स्वयंके लिये स्वयंसे स्वयं पा लेता है उसको ज्ञान और आनन्द सहज ही होता है। इस प्रकारका वर्णन इस गाथा में करते हैं।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१९॥

ज्ञानानन्दपरिणमनकी पात्रता—जिसके घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं, जिनका अनन्त वीर्य प्रगट हो गया है, ज्ञानदर्शनके तेजसे जो युक्त है ऐसा वह जीव अतीन्द्रिय हो जाता है और उसके ज्ञान और सुख होता है। गुणगुणीका भेद तात्त्विक नहीं, वह परमात्मा तो स्वयं ज्ञान और सुखरूप परिणम गये। ज्ञान और सुख हैं, उसके ज्ञान होना और उसके सुख होना ऐसा भेदभाव वहाँ नहीं देखना। वही परमात्मा अतीन्द्रिय होकर ज्ञान और सुखरूप परिणम जाते हैं। आत्मा शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे नष्ट हो गये हैं घातियाकर्म जिसके ऐसे होते हैं। कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति, कर्मोंका लक्ष्य नहीं। कर्मके उदयसे पैदा होने वाले का लक्ष्य नहीं, कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति किसी गुणके पर्यायकी दृष्टि नहीं, कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति गुणोंको भेदरूपसे देखना नहीं, किन्तु कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति समस्त गुणोंमें अभेद स्वरूप ज्ञायक तत्त्व जिसमें कि सभी ज्ञानकी सिद्धिके लिये या ज्ञायकता की सिद्धिके लिये ही और २ गुण सेवक हैं ऐसा प्रतीत होता, वह ज्ञायक तत्त्व जिसके लक्ष्यके अभेद रूप आ जाय तो ऐसा शुद्ध तत्त्व और उपयोगरूप परिणाम कर्मोंके नाश करनेका कारण है। अपने आपको समझना काम है, कर्म अपने आप खिर जाते हैं। कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करे तो कर्म और बंध जाते हैं क्योंकि परलक्ष्यसे कर्मबंध होता। निजके लक्ष्यसे कर्मका बंध समाप्त होता। जिनके घातिया कर्म नष्ट हो गये इन जीवोंने क्या किया था ? यह समझा था कि मैं ज्ञानमात्र आत्मा इन इन्द्रियोंसे जुदा हूं और इन इन्द्रियोंके निमित्तसे पैदा होने वाला जो इन्द्रिय ज्ञान है इससे जुदा हूं, यह इन्द्रिय जिन पदार्थोंको विषय करती है इन सारे जगतके पदार्थोंसे जुदा हूं।

विशुद्धज्ञानकी त्यागस्वरूपता—भैया ! द्रव्य इन्द्रियसे भावेन्द्रियसे और इन इन्द्रियोंके विषयसे भिन्न अपने ज्ञायक भावको समझलो कि इन्द्रियका और भावेन्द्रिय और विषयका त्याग हो गया। क्या किसी योगीमें ऐसी समर्थता है जो द्रव्य इन्द्रियोंका बाह्यत्याग कर सके। किसी योगीके ऐसी शक्ति है कि इन द्रव्य पिंडके सम्बन्धको अलग कर सके, नहीं कर सकता, फिर शरीरका त्याग क्या है और द्रव्य इन्द्रियोंका त्याग क्या है ? अपने उपयोगमें

शरीर और द्रव्येन्द्रिय न रहे। यही शरीर और द्रव्येन्द्रियका त्याग है। किसी आत्माकी सेवा करके भी, मित्रता करके भी यदि उसकी चित्तसे अंतरंगसे उसकी सेवा, उसकी मित्रतामें उसके काममें नहीं है तो यही कहा जाता है कि यह न सेवा करना है, न इसके मित्रता है, न प्रेम है तो भाई कार्य तो उतना ही किया जाता कहलाता है जो अन्तर प्रेमसे किया जाता हो। यदि अंतरंगके भावसे नहीं किया जाता तो वह अकृत समझा जाता। लोगोंके अनुभवसे देखलो यही बात यहाँ उपयुक्त होती है जब शरीर होते हुए इस शरीरमें अनुराग नहीं, इन्द्रियोंके होते हुए इन्द्रियोंमें अनुराग नहीं तो यह कहा जाता है कि शरीर इन्द्रिय दोनोंका त्याग कर दिया। घरमें सम्पदा होते हुए भी जिसने सर्वपरभावोंसे भिन्न ज्ञायक भावमय निजस्वरूपका भाव किया है तो उसके चित्तमें तो वह वैभव अत्यन्ताभाववाला पदार्थ है। वह यदि सम्पदा घरमें है तो भी उसके मनमें यह बात है कि मेरी सम्पदा नहीं है। शरीर परिग्रहका त्याग विवेकी पुरुष अन्तमुहूर्तमें कर देता। अब घरसे निकलना और अपने राज्यसे बाहिर होना या अपने शरीरके आभूषणोंका दूर करना आदि यह चाह कितनी देरमें हो, परन्तु जिसमें श्रद्धा इन बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने निजी तत्त्वमें आ गई उसने सारे जगतका त्याग कर दिया। जगतमें रहने मात्रसे जगत परिग्रह नहीं होता। भरत चक्रीको घरमें रहते हुए बिरागी (वैरागी) बताने का यह प्रयोजन था कि यह छह खंडोंके बिषयमें रहकर किसी विषयमें राग नहीं करता था।

दृष्टान्तपूर्वक सम्यक् ज्ञानकी प्रत्याख्यानस्वरूपताका समर्थन—भैया! द्रव्येन्द्रियोंका त्याग, भावेन्द्रियोंका त्याग विषयका त्याग, यही है कि इनको पर जानकर इनसे रुचि न करना। यही इनके नाश करनेकी पद्धति है। समयसारमें एक दृष्टान्त है। जैसे दो मनुष्योंने धोबी को चादर धोने दी। एक मनुष्य वहाँसे धुलनेपर ले आया, किन्तु वह चादर थी दूसरेकी। पश्चात् दूसरा गया तो उसे दूसरी चादर दे दी। वह पहिचानकर पूछता है कि यह चादर मेरी नहीं है। तब धोबी बोला—अहो वह चादर उसके पास पहुंच गई भूलसे। आप ले आवें, उसे यह दे दें। दूसरा पुरुष गया, चादर ओढ़े वह सो रहा था। उसने आंचल पकड़कर कहा उठो यह चादर मेरी है, यह सुनकर उसने पहिचान की तो पूर्ण दृढ श्रद्धा हो गई कि इसमें मेरी चादर के चिह्न नहीं इसलिये मेरी नहीं और यह तो देनी ही पड़ेगी। तब यहाँ देखी भैया? वास्तवमें तो चादरका त्याग हो ही गया अब तो उतारनेकी देर है। हुआ क्या? भिन्न पहिचान चुकना ही अंतरंगसे त्याग है, बाह्य तो क्रियामात्र है, वह होती ही है, होगी ही। इसी प्रकार भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्वसे पहिचान जानना बड़ा पुरुषार्थ है, इसके बाद अनुकूल चारित्र होता ही है। अज्ञानी जीव क्रोध, मान, माया, लोभ रागद्वेष भावरूप चादरको अपनी समझकर उन्हें राग भावसे अपने सर्वांगसे ओड़कर बेहोश होकर सो रहा है। ज्ञानी गुरु कहता है और उस

बेहोश पुरुषको समझाता है कि उठ उठ जाग, जिस चादरको जिस भावको तू अपने सर्वाङ्गमें पाकर बेहोश है यह भाव तेरे नहीं हैं। तेरा स्वच्छ चादर तो ज्ञान है। ज्ञानी गुरुके द्वारा बार बार इस बातको सुनकर परीक्षा करता है कि अहो यह भाव मेरा नहीं किन्तु क्षणिक है, परके निमित्तसे पैदा हुआ है, मेरा चिन्ह तो दीखता ही नहीं, मेरा चिन्ह तो ज्ञान है, ठीक भी है। जब पुरुष राग करता है तो ज्ञान नहीं रहता, जब मान माया लोभ करता है तो ज्ञान नहीं रहता, इन भावोंमें तो ज्ञान पाया ही नहीं जाता। यह भाव तो जब होते हैं यह जड़सा हो जाता है। विवेकने अपने लक्षणोंकी परीक्षा की, उन भावोंमें अपने लक्षण भाव नहीं पाये तो उस आत्माके उस समयमें विभावका विकास छूट गया और जिन पदार्थोंके आश्रय, विभाग हुआ था उन सारे पदार्थोंका ममत्व छूट गया। अब कर्मकी बरजोरीसे मुझे इन विभावोंको अपनी आत्मद्रव्यसे दूर हटानेमें चाहे ५ सागर लग जायें, २–१ भव लग जायें परन्तु आकुलता अब अभीसे नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जगतके बाह्य पदार्थोंका उपद्रव अंतरंगसे छूट गया ऐसा विभाव जिसका छूट जाय उसके उस निज सुखके अनुभव होनेको विषयी जीव क्या समझें? यहाँके अंतरात्मावोंका ही मर्म लौकिकजन नहीं पाते तो सिद्धका क्या पता पायें? इसलिये तो सिद्धके बारेमें लौकिक आत्माको संदेह होता, अलौकिक आत्माको संदेह नहीं होता है कि जिनके इन्द्रियाँ नहीं उनके ज्ञान और आनंद कैसे होता होगा?

स्वाभाविक ज्ञानका प्रताप—जब यह आत्मा शुद्ध तत्त्वके उपयोगके प्रसादके सामर्थ्य से घातीय कर्मोंको क्षीण कर देता और जब घाती कर्म नष्ट हो गये, ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय अंतराय जब नष्ट हो गये तब क्षायोपशमिक ज्ञान भाव व क्षायोपशमिक दर्शन इस आत्मामें नहीं रहता। केवलज्ञानी होनेसे वह सब नष्ट हो जाते, द्रव्यमें विलीन हो जाते। कितने ही पुरुष यह कह दिया करते हैं कि उस केवलज्ञानमें यह सब ज्ञान गर्भित हो जाते "नहीं" गर्भित नहीं होते, वहाँ तो उनकी क्रियाकारिता ही नहीं रही। ज्ञान गुण एक है उससे यह ५ पर्याय हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। गुण में एक समय एक पर्याय रह सकती है इसलिये जब केवलज्ञान हुआ तब ४ पर्याय गर्भित नहीं होती। वहाँ तो इन चारों पर्यायोंका अभाव हो गया। यह चारों पर्याय क्षायोपशमिक ज्ञान है। इस तरह चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन यह तीनों क्षयोपशमिक हैं। केवली भगवानके केवल दर्शन होनेपर क्षायोपशमिक दर्शन भी नहीं है इसलिये वह अनंतज्ञानी अनंतदर्शनी अतिन्द्रिय हो व साथ ही सर्व अंतरायक्षय होनेसे अनंतशक्तिमान हो जाता क्योंकि अनंत-वीर्य उसके पैदा हो गया। सर्वज्ञानावरण दर्शनावरणका विनाश होनेसे केवलज्ञान केवलदर्शन रूप तेज प्रगट हो गया। समस्त मोहनीयका अभाव होनेसे, अत्यन्त निर्विकार शुद्धचैतन्य-स्वभाव आत्मा पा लिया। इसमें ज्ञान और सुखका अनंत स्वयं परिणमन हो जाता है। ज्ञान

स्वयं ही अपनेमें आपका प्रकाश करने वाला है। ज्ञानमें यह स्वभाव है, ज्ञानी अपने स्वभावसे ही परप्रकाशक है, परका प्रकाशक नहीं। वह पदार्थ है इसलिये ज्ञानमें झलकते हैं ऐसे कार्य-कारण भाव नहीं, ज्ञानीका ऐसा ही स्वभाव है, ज्ञानीके भी अंतरंगमें ऐसा ही तेज है। अपने स्वभावमें जो है सो झलका लेता है। कहीं ज्ञान परसे नहीं हो गया, परपदार्थकी सिद्धि भी उनके कारणसे नहीं है। ज्ञान अपने स्वभावसे ऐसा इन कलाओंको लिये हुए है कि खुद ऐसा परिणमन करता है। उसके अन्तरमें परपदार्थके प्रतिभासका परिणमन है।

सहज सुखमें अनाकुलता—जैसा ज्ञान सहज है वैसा सुख भी सहज है। सुख क्या है? आकुलताका अभाव होना इसको सुख कहते हैं। जिसने इन्द्रिय सुखमें सुखकी कल्पना की वे उसके इन्द्रिय सुखको देखे तो वह कैसे आकुलतासे रहित समझे? वह तो दुःख देखे तो सुख मानेगा। देखने वालेके देखनेके समय कितनी आकुलता रहती, भोजनके स्वाद वालेके वेगसे चाब (मुंह) चलने लगती है, धैर्य नहीं रहता कि मैं धीरे धीरे खाऊं। एक ग्रास मुंहमें है तो दूसरे ग्रासकी कल्पना हो जाती है कि मैं मिठाई खा रहा हूं तो अब नमकीन खाऊंगा। कितनी अधीरता, कैसी उसकी आकुलता है? जिस इन्द्रियके भोगमें उसने सुख माना उसमें कितनी आकुलता है कितना दुःख है कि वह अपने दुःखको भी नहीं समझ पाता। जिस जीवने विषयोंमें सुख माना इसमें कितनी आकुलता है? गन्धके अनुभव करनेमें जिसने सुख माना उनको कितनी आकुलता है? रूपके देखनेमें जिसने सुख माना उसको कितनी आकुलता है? रागरागनियोंके सुननेमें जिसने सुख माना उसको कितनी आकुलता है? उनके आचारको देखकर यह जान लोगे कि वे कितने दुखी है? इन्द्रियके सुखमें कितना दुःख भरा हुआ है? सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियसुखमें रुचि नहीं करता। उसे यह विपदा दीखती है। वह बाह्य पदार्थसे रुचि हटाकर आपको आपमें प्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न करता है। सुखी है तो वह है जिसे आकुलता रंचमात्र भी नहीं है। जहाँ आकुलता नहीं है उसको सुख कहते हैं। ऐसे सुखस्वरूपमें यह शुद्धात्मा परिणम जाता है। बड़े-बड़े राजा लोग जब रात्रिमें अपने नगरमें गश्त लगाया करते थे। एक बार किसी राजाने जब देखा किसी कुटीपर कुम्हार ढेले पत्थरों पर भी पड़े पड़े नींदमें बड़े खुर्राटे ले रहा है, बड़े आनन्दसे सो रहा है, सो कभी कभी वे राजा भी लालायित हो जाते थे ऐसा सुख हमको नहीं है। वहाँ विचारशैली तो समझमें आ ही जावेगी कि सुख आकुलताका अभाव है, उस सुखका माप धनकी दृष्टिसे नहीं, अनाकुलतासे करो। जिसे जितनी मूर्छा होगी वह उतना सुखी नहीं।

मोह व निर्मोहताके प्रभावपर दृष्टान्त—एक साधु था। उसकी लंगोटी चूहे खा जाते थे। लंगोटीको खाने से बचानेको बिल्ली पाली। उसके दूधके लिये गाय रखी। गायको चराने के लिये दासी रखी। दासीके साथ सम्बन्ध हो गया। लड़का हो गया। एक रोज वह दूसरे

गाँवको जा रहा था। नींदमें बाढ़ आई। सब डूबने लगे तो सबने साधुको पकड़ लिया। साधुने सोचा कि बड़ी आफत आई तो उसे ख्याल आया—यह सब लंगोटीके कारण हुआ। उसने लंगोटी उतारकर मूर्छा हटाई और तिर गया। गाय बिल्ली व उनके बच्चे भी तिर गये। दासी व लड़केका पता नहीं वे भी तिर गये होंगे। इससे पता चला जब तक लंगोटीमें मूर्छा थी सब डूब रहे थे, लंगोटीसे मूर्छा हटाई सब तिर गये। उसी प्रकार यदि घरमें एक आदमी धर्मात्मा हो जाय तो घर तिर जाय, घरका मालिक पापी हो जाय तो घर डूब जाय। कषाय को नाना प्रकारकी मूर्च्छाओंको आत्मा पाकर अपने आपपर अन्याय करता हुआ अपने घरमें अन्याय करता है।

अनाकुलताकी सत्यसुखरूपता—सुख तो अनाकुलतामें है, सुख बाह्यपदार्थोंमें नहीं, जिसमें यह ज्ञान अपनेसे अनुभव करता है उन्हें वहाँ स्वयं अनाकुलता हो जाती है और सुख रूप परिणाम हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान और आनन्द तो आत्माका स्वरूप होता है इन्द्रिय तो ज्ञान और आनन्दमें बाधा देने वाली थी। जो इन्द्रियसे ज्ञान आनन्द हुआ था वस्तुतः ज्ञान और आनन्दमें यह बाधक हो रहा था। इन्द्रियके नाश होनेमें क्या ज्ञान और आनंद नष्ट होगा या उस ज्ञान सुखका परम विकास होगा। यह एक महल है उसमें पाँच द्वार हैं। इस मकानके भीतर खड़ा पुरुष दरवाजेसे देखता है तो ज्ञान होता है। क्या वहाँ आप यह कहेंगे कि अमुक आदमी दरवाजेके द्वारा देखता है ? वह आत्मा अपने ही कारणोंसे देखता है। इसी तरह यह आत्माका ज्ञान स्वभाव है, इस देहरूप मकानमें बंधा है। देहके मकानमें इस मकानकी तरह ५ इन्द्रियोंके पाँच द्वार है। ऐसा प्रतीत होता है यह आत्मा द्रव्य इस इन्द्रियके द्वारसे कारण से ही जान पाता है। रूपका ज्ञान इन्द्रिय बिना नहीं होता परन्तु जब स्वलक्ष्यके बलसे यह देहरूपी मकान न रहा, तो मकानके नष्ट होते ही खिड़कियां तो अपने आप चली गईं। इन्द्रिय तो अपने आप दूर हो गई जिसका यह मकान नहीं रहा, इन्द्रिय भी न रही। क्या उस आत्माके विषयमें कहने लगें, उसे अब कैसे ज्ञान आनंद होगा ? उस आत्मतत्त्वको जानने वाला वहां विशेष शुद्ध अवस्थामें आ गया, उसके तो सब ओर अनन्त आनन्द और ज्ञान होता है आनंद आकुलतामें नहीं है, जिसे सारी चिंता मिट गई, सारी आकुलता मिट गई ऐसी अवस्था स्वरूप सुख स्वरूप है। उनके कैसा सुख होता है वह पूर्ण है। आप ज्ञानके प्रयोगसे सब वस्तुओं के स्वरूपको निर्णयकर उसमें श्रद्धा बढ़ावें।

तत्त्वनिर्णयका प्रसाद—मैं जगतमें एकाकी हूं। सारे पदार्थ मुझमें अत्यन्ताभाव वाले हैं, यह उसमें नहीं वह इसमें नहीं, इसके परिणमनसे इसका कुछ नहीं, इस श्रद्धाको लेकर आनंदमें बढ़े और इस भावनाके साथ जब मेरा नहीं तब मुझे कुछ विचारनेसे क्या मतलब ? मन वचन कायकी क्रियाको बंद करके जहाँ कुछ समझमें विचारमें ही न आवे कुछ मूर्छा

क्या रहे ? बाह्य पदार्थ जुदा हैं यह तो समझ लो। फिर मन वचन कायका व्यायाम न करो। मन वचन कायके निरोध रखनेसे उसमें स्वयं अपनेको ऐसे अनाकुल रूपमें आत्मतत्त्व देखोगे कि जिसे देखने के बाद यही प्रतीति रहेगी कि सुखका स्थान यही है। शुद्ध आत्माके क्या सुख होता है ? उस स्थितिसे सत्य समझमें आता है। वह अनुभवसे सत्य है कि आत्मामें जो ज्ञान और आनन्द है वह इस स्वरूप है। सर्व इन्द्रियों को संयमित करके क्षण भर आराम से तो रहो निराकुलताका अनुभव होगा और तब पता होगा कि शुद्ध आत्माके इस जातिका अनंत सुख है। ज्ञानी साधुओंके संघमें निवास विचरण करते हुए कितने ही संन्यासियोंने आत्मतत्त्वकी चर्चा सुनकर आत्मतत्त्वका अथवा अपनी कल्पनाके अनुरूप निर्विकल्प अवस्था जैसा अनुभव किया, उस अनुभवके बाद वे तत्त्वको निर्णीत करते थे कि तत्त्व क्या है ?

एकान्तधारामें तत्त्वोपप्लव व शून्याद्वैतका स्थान—अनेकान्तद्रष्टा तो उसका निरूपण निभा लेते हैं परन्तु जैसा कि कल भी कहा था, कितने चूक जावेंगे उस दशाका सविकल्प दशा में मिलान किया तब यह समझमें आया तत्त्व तो कुछ है नहीं यह सब इन्द्रियजाल जैसा मालूम होता है, इन्द्रियकी दृष्टि हट जानेपर जो अभाव है यही कल्याण है, इसका और नहीं, क्योंकि कुछ है ही नहीं तत्त्वका उपप्लव है, यही कल्याण है तत्त्व कुछ नहीं। वस्तुमें जो बुद्धि फंस गई यह मुझमें तत्त्व है इसका विनाश कल्याण है, द्रव्य आत्मा है ईश है। इन विकल्पोंमें जब बुद्धि फंस जाती है तो उसे विकल्प उठ रहा है। उसे देखो—विकल्पकी हालत कल्याण की नहीं होती, निर्विकल्पकी हालत कल्याणकी होती है। यह तत्त्व कुछ नहीं है यही उपप्लव उसकी समझमें आया। तब बादमें उसने तत्त्वका मूलसे ही वायकाट किया कि तत्त्व कुछ नहीं, पर थोड़ी देर बाद कहता है कि कुछ चीज यह तो है न, शून्य है, शून्य ही सही यह तो है न, तब शून्य ही तत्त्व है। तुम तो कुछ तत्त्व मानते नहीं हो, शून्य है यही तत्त्व है तब शून्याद्वैत तक आये।

प्रतिभासाद्वैत, ज्ञानाद्वैत एवं शब्दाद्वैतका आविर्भाव—शून्याद्वैत समझमें आनेके बाद वह चलता है कि कुछ प्रकाश जैसा प्रतिभास जैसा कुछ सामान्य जैसी बात मालूम तो होती। क्योंकि अपने आप कहीं तो कुछ रहा तो समझमें आया केवल शून्य ही नहीं, किन्तु प्रतिभास भी है वह प्रतिभासाद्वैत है। इस प्रतिभाससे विकल्पको दूर कर एक रूपमें स्थापित करता है कि समस्त प्रतिभास एक रूप है। प्रतिभासकी एकता माननेके बाद, एक मात्र प्रति भास ही नहीं है। जानना तो हो ही रहा। ज्ञान तक तत्त्व आया, ज्ञान तत्त्वके बाद ज्ञान निराधार नहीं होता इसका कोई आधार है। इस तरह वह आधाररूप ब्रह्माद्वैव तक आया। ब्रह्माद्वैतमें विषयोंको यह विवर्त ही कहता है। ब्रह्माद्वैतमें चीज वह कुछ नहीं सब ब्रह्मविकार है। उसके बाद फिर उसको कुछ सुमति जागती है। वह कहता है अरे यह खेलसा हो रहा है

कि मैं जिस चीजको देखता, देखनेके ही साथ अन्दरमें शब्द उठने लगते। इसको देखा भीतर में खम्भा ये अन्तर्जल्प हो गया। ज्ञानकी वृत्तिको देखो, जिस चीजको देखते हैं अंतरमें शब्द उठते जाते ज्ञान करते ही। अंतर्जल्प बिना बोध तो नहीं मालूम होता है कि यह सारा संसार शब्दगत है। शब्दोंसे तन्मय सारी चीज है। जिस चीजके ज्ञानका स्पष्ट विकास तब तक है जब तक इस चीजके नामके शब्द अन्तरमें न आ जायें। परिचित बातोंमें तो यह अनुभव हो ही जायगा कि जिस चीजको देखते हैं, जानते हैं, उसके शब्द अंतरमें उठ जाते हैं। मोह क्या है जाना कि अन्तरमें यह शब्द आ ही गया। जिस चीजको जानते हैं अंतरमें शब्द आ ही जाते। इसलिये यह कहना है यहाँ, यह ज्ञान ही नहीं है किन्तु सारा जगत शब्दमय है।

चित्राद्वैतवादका आविर्भाव—इसी तरहसे शब्दाद्वैत सिद्धान्त जाननेके बाद वह सोचता है—क्या इतनी ही बात है शब्द ही शब्द और कुछ ही नहीं है, देखनेमें आता है यह सारे शब्द थोड़े ही हैं। यह तो यहां नाना प्रकारकी चीजें दुनियामें दिख रही हैं। सारा संसार चित्र विचित्र है नाना प्रकारका है परन्तु अब भी उसकी समष्टिकी दृष्टि नहीं छूटी कि नाना तो अवश्य है पर नानाका समूहरूप जो एक है व वह तत्त्व है, यह नाना तत्त्व नहीं है। इसको कहते हैं चित्राद्वैत। चित्र विचित्र तो दुनियाको माना, पर नाना नानामें भी इसकी जो समूहता एक है वह तत्त्व है। यहां तत्त्वमें संन्यासियोंके जिस दृष्टिमें जो जो सिद्धान्त आये उस उस सिद्धान्तका अभी प्रतिपादन चल रहा है। पर थोड़ी देर बाद सोचता है यह चित्र विचित्र नाना चीजें तो हैं पर ऐसा तो हमें नहीं मालूम होता कि एक पिण्ड रूप होता है, यह चीज अलग अलग हैं, यह सब चीज अलग अलग हैं, दुनियाभरके पदार्थ भिन्न भिन्न सत्ताके लिये हुए मौजूद हैं फिर इसका समूह रूप एक तत्त्व चित्राद्वैत एकान्त ही है।

भौतिकवादका आविर्भाव—इससे भी आगे कुछ है, इन सबके सद्भावोंके देखा यह सब है—इस कल्पनामें आ रहा था कि इतनेमें समष्टिकी दृष्टि छूटी सो अद्वैतवाद और निजकी दृष्टि छूट गई, अब अद्वैतसे सम्पर्क न रहा और चार्वाक जैसा सिद्धान्त आ गया। ये सब पदार्थ ठीक हैं यही सब कुछ है। ठीक तौरपर तो यह है कि यह सब भोगके लिये बना है, हमारे उपयोगके लिये बना है। गुप्ततत्त्व कौन ने देखा? आगम शास्त्र तो अपने अपने घरके हैं युक्तियां तो ऐसी होती हैं कि सचको झूठ बना दें और झूठे को सच बना दें। युक्तियोंमें कोई सार नहीं होता है। इसलिये युक्तियोंमें तो कोई सार नहीं है और जो धर्मका तत्त्व है वह तो गुफामें होगा, दुनियामें तत्त्व क्या है? जिस मार्गसे महाजन चले। इससे सम्राट् पड़ौसी बड़े भाई जो करें वहीं हमें करना है, उसीमें हमको रहना चाहिये, उसीमें सारा सुख है। इस तरहकी दृष्टि चार्वाककी आई, उसने आत्मतत्त्वको छोड़ा, जगतके भौतिक पदार्थोंको ही सब कुछ मान लिया। भौतिकवाद अर्थात् पृथ्वी जल आग वायु इन चारोंके मिश्रण होनेमें एक

ऐसी बिजली पैदा होती है कि वह जानने लगती है, खाने लगती है। इसी तरह पहिले तो फिसल फिसल कर भी तत्त्वपर पहुंचते थे। कुछ आत्माका ध्यान हुआ नजर आता था, अब उसके विकल्पमें पदार्थ उठते उठते भौतिक बात तक आये।

प्रकृतिवाद—भैया ! विकल्पकी ताकत विचित्र होती है। जैसे कि नदीकी तरंग होती है, कहीं ऊंची जाती है कहीं नीची। इसी तरहसे ये वितर्क जो होते हैं संन्यासियोंके कभी यहाँ पर आया, कभी अन्तरमें उतरे। यहाँ तक तो वह आ गया, फिर वह सोचता है यह सारी चीजें ठीक ठीक हैं, परन्तु हमको दिखता है कि कोई किस तरह परिणमता है कहीं कुछ काम हो रहा है, नाना प्रकारके इसके परिणाम हो रहे हैं। यह कौन कर रहा है ? नाना प्रकारकी क्रियायें जिन पदार्थोंमें हो रही हैं जिसका कर्ता कौन हो रहा है, सोचता है यह सब प्रकृतिसे हो रहा है। अब देखो इन दिखने वाली चीजोंके अतिरिक्त कोई प्रकृति नामक जड़ द्रव्य उसकी समझमें यहाँ आया। अब भौतिकतासे कुछ ऊंचा उठा और सोचता है कौन कहाँ क्या करता है, सब प्रकृतिसे हो रहा है, सब स्वभावसे हो रहा है। जैसा जो परिणमन है प्रकृति करती है, यह सब प्रकृतिसे सारा संसार चल रहा है। उस भौतिकवादमें भी कुछ अदृश्य अब यहाँ प्रकृतिसे माना।

सत्कार्यवाद—उस स्वभाव सिद्धान्तसे कुछ ऊंचे उठकर सोचता है कि प्रकृति करती तो है पर प्रकृति ही करती क्या ? प्रकृति तो इसकी अलग अयथार्थ चीज है। पदार्थोंमें ही तो प्रकृति है। ये सब चीजें तो स्वयं प्रगट हो रही हैं। प्रकृति ने प्रेरणा दी परन्तु ये चीजें अपने आप ही तो प्रगट हो रही हैं। इसलिये इन चीजोंका आविर्भाव होता है। यह सब जो प्रगट होता है वह तत्त्व है। प्रकृतिसे भी आगे चलकर वस्तुके आविर्भावको माना, यह सब वस्तुका आविर्भाव तो माना परन्तु उसमें सोचता है कि इससे इस पर्यायका और उसमें उस पर्यायका ही आविर्भाव है। गड़बड़ीसे या अव्यवस्थासे पर्याय क्यों नहीं हो रही है ? क्या नई अवस्था बाहिरसे आकर पैदा हुई या किसी ने उसमें कोई अवस्था डाल दी ? सोचते सोचते उसको वह प्रतीत होता है कि नहीं, उस चीजके जितने काम होते हैं अनन्त काल तक वह सारे काम उसमें उस समय मौजूद हैं परन्तु वे सब ढके होते हैं। जब समय आता है तो उनका बारी-बारी से काम प्रगट होता है, यदि ऐसा नहीं होता तो किसी की चीज किसीमें पहुंच जाती इस वास्ते सारी वस्तु न होती, नाश हो जाता। चीजके नियत काम होते हैं, इसका कारण सत्कार्यवादी कहता है कि इसमें वे कार्य मौजूद हैं, समयपर वे काम निकालते हैं। इसलिये वैसे ही काम होते हैं। जो नहीं है वैसा कभी नहीं होता। इसे उनकी दृष्टिको मिलाकर देखो उनकी समझमें क्या विकल्प हो रहा है, इसको कहते हैं सत्कार्यवाद।

निर्गुणेश्वरकी तर्कणा—यह एकान्तवादकी मीमांसा चल रही है कि अध्यात्मतत्त्व

में प्रवेश करने वाले यदि जरा भी चूक गये तो वे कहाँ कहाँ जाकर उलझ जाते हैं ? सत्कार्य पहिलेसे मौजूद हैं और वे समय समय पर प्रगट होते हैं, हम भी जीव हैं, प्राणी हैं, हममें जो कार्य हैं वे समय-समयपर प्रगट होते हैं । यहाँ तो वह भिन्न अनेक तत्त्वोंकी दृष्टिमें आ गया, सब अनेक तत्त्वकी दृष्टिसे माने । फिर उसके वितर्क उठा, वह एक तत्त्वपर पहुंचता है क्योंकि कल्पनाएँ ऐसी होती हैं वह कभी कभी कल्पनासे संकोचकी और कभी संकोचसे विस्तारकी ओर जैसी लोकव्यवहारमें जाया करती हैं । कभी तत्त्वमें नानापनकी कल्पना, कभी मिलकर अद्वैतकी कल्पना । अब वह सोचता है कि ये सब अवस्थाएँ कम हैं तो सही, परन्तु यह सब एक ईश्वरका ही काम है, उसका ही सारा विवर्त है और वह ईश्वर निराकार है जिसे कहते हैं, निर्गुणेश्वर, जिसकी प्रेरणासे सर्व कार्य व्यवस्थित हो रहा है वह निर्गुणेश्वर है, सर्वव्यापी है, एक ईश्वर है । उसमें ये सारे माया कल्लोल हैं उसमें यह सब विवर्त है, वह निर्गुणेश्वर परम स्वतंत्र है । वह निर्गुणेश्वर सबमें है, सबसे न्यारा है, जगद् व्यापक है । यह सब जो जीव देखते हैं उनके बिम्बकी तरंग है । इस तरहसे एक व्यापक निर्गुणेश्वरकी कल्पना हुई ।

सगुणेश्वरता, कर्मयोग व भक्तियोग—इस निर्गुणेश्वरकी कल्पना करते करते यदि थक गया (क्योंकि जहाँ कोई आधार नहीं होता, जहाँ पर आश्रय नहीं मिलता, कहाँ तक उसके ज्ञानकी गाड़ी चले) तब सगुणेश्वरकी प्रतिष्ठा हुई, ईश्वर उसके भी है, निर्गुणेश्वर है परन्तु वह कभी मूर्ति रूपमें आया करता है । जिसे कहते हैं सगुणेश्वर वह निर्गुणेश्वर कभी कृष्णका अवतार लेता, कभी शूकर आदि अनेक अवतार लेता । इन इन अवतारोंमें निर्गुणेश्वर आकर अपना सगुण रूप रखता और अपनी मूर्ति दुनियाके सामने दिखाता, वहाँ उस अध्यात्मतत्त्वकी संकड़ी गलीसे चलने वाला पुरुष जरा सी असावधानीके कारण फिसलने पर जहाँ जहाँ पहुंचता जाता है वहाँका वर्णन कर रहे हैं । अब सोचा ठीक सगुणेश्वर भी है, निर्गुणेश्वर भी है परन्तु इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? इसकी प्राप्तिका उपाय उनके लिये विधिकर्म करो, यज्ञ करो, पूजा करो यह उनके उपाय हैं । यह वह सिद्धान्त है जिसको कहते हैं मीमांसाका कर्मवादी और कुछ नहीं सोचता, हमें तो एक हुक्म है परमात्माका । हुक्म है इस तरहके काम करे, यज्ञ करे, बली करे, पूजा करे, इस प्रकारके कार्यमें लगे रहे । देखो वह परमात्मा ऐसे कर्मोंसे जोड़ जाता है । यहां तक कर्म जोड़े गये कि अश्वमेधयज्ञ, नरमेधयज्ञ तककी भी नौबत आ गई, फिर उन्होंने कितनोंने ज्ञानपर बल देकर सोचा कि केवल शारीरिक कामसे ही तो लाभ न होगा । मनुष्यके जब तक इच्छा है तब तक तो कर्म बन्धेगा ही, उनमें प्रगट होगा ही, उसे बचायेगा कौन ? तब कहते हैं तुम कर्मयोगी तो हो, कर्म करनेके लिये प्रयत्नशील तो हुए हो, पर इतना हमारा मानो कि कर्मयोग निष्काम करो अर्थात् निष्काम कर्मयोगी बनो, कोई इच्छा न करके तुम उस ईश्वरकी आराधना करो । अंतस्तत्त्वकी ओर अभि-

सुख होकर वह विचारता है ये बाह्य क्रियायें हैं, ये सब काययोग हैं। उसे इतनेसे संतोष न हुआ तब वह सोचता है, केवल कर्म कर्मसे क्या होता ? स्वर्ग। इससे क्या होगा ? उस ईश्वरकी जब तक अनन्य भक्ति न आवे तब तक उस ईश्वरसे भला नहीं हो सकता। इस लिये इसके आगे चलकर भक्त योगी बना और वह हो गया भक्तियोगवादी। उस सगुणेश्वर की भक्तिसे रहने वाले जीवोंने यह सोचा कि इतनी भक्ति करो कि उसमें तन्मय हो जावो। जिसे कहते हैं समाधि।

क्षणिकवादका आविर्भाव—भैया ! समाधिमें रत हो। ऐसा वे कर रहे थे कि इतने में एक आया और कहने लगा कि तुम किसका पुल बाँध रहे हो, जगतके पदार्थ तो क्षण क्षण भरमें नष्ट होने वाले हैं, तुम किसके लिये पुल बाँध रहे ? यहाँ तक ईश्वरकी कल्पना हुई, भक्ति हुई। सब कुछ हुआ परन्तु इस बातको सुनकर फिर उलझन हुई वह विचारने लगा कि क्या कर्मयोग क्या निष्काम कर्मयोग, क्या गुणेश्वर यह सारा जगत क्षणिक है, यही तत्त्व है इसके अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं, यहाँ द्वैतवाद आ गया। जो कुछ दिखता है वह क्षण क्षण में नष्ट हो जाता है, उसी समय पैदा हुआ और उसी समयमें नष्ट हो गया। क्षण भर स्थिर रहता है और क्षण क्षणमें नष्ट हो जाता है। यह तत्त्व है, यही यज्ञ है, यही भक्ति है। जो पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट है उसे किसीके आश्रय लेनेकी कल्पना नहीं होती। वे बतलाते हैं कि उसका अन्य क्या होगा कि जब हमारी दृष्टिमें सारे पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट हो जाने वाले हैं, हमें किसीका सहारा आश्रय पकड़नेकी जरूरत न होगी। जो चीजें क्षण क्षणमें नष्ट होने वाली हैं देखो उन्हें जो पकड़े ग्रहण करे वह मूर्ख है। जो रहे ही नहीं, जो नष्ट हो जाता है उसको पकड़नेमें क्या लाभकी बात है ? क्षणिकवाद कहता है कि समस्त पदार्थोंको क्षणस्थायी मानो, बस यह तत्त्व है, इसीमें आत्माको सुख है और मोक्ष है। क्षणिक अनेकके सिद्धान्त तक पहुंचे।

वैशेषिक भावका आविर्भाव—अब आया वैशेषिक भाव। वह कहता है अहो भाई तुम्हारी बात ठीक है, तुम्हारा कोई विरोध नहीं। हमारा इसमें विरोध नहीं कि पदार्थ सदा रहते हैं या नष्ट नहीं होते, पर यह बतलाओ कि तुम जिसको क्षणिक मानते हो वे चीजें तुम्हारे दिमागमें कितनी हैं ? जिसे कहते हो यही तत्त्व है कि अर्थ क्षण क्षणमें नष्ट होते हैं। क्या बात समझी कि पदार्थ दो हैं—१ जड़, १ चेतन, परन्तु बात तो यह है कि पदार्थ अनन्त हैं और फिर उस एक एक परमाणुमें व किसी द्रव्यमें अनन्त तो गुण नजर आता है अनन्त गुणमें अनन्त ही क्रियाएँ नजर आती हैं और उन गुण और क्रियामें सामान्यपन भी नजर आता और उनमें विशेषपन भी नजर आता। ऐसा भी लगता है कि सारीकी सारी

एक-एक रूपमें इकट्ठी हो रही है। ऐसा भी मालूम होता कि इसमें एकमें जो दूसरी चीज नहीं है ऐसा भाव भी इसके अन्दर पड़ा हुआ है तब इसको अभाव कहते हैं तब तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय अभाव कितनी चीजें यहाँ हैं। वैशेषिक सिद्धान्तमें ये सभी तत्त्व स्वतंत्र हैं। कहीं इतना मत मानो कि सारीकी सारी पिंड एक है और इसमें गुण कर्म सामान्य आदि भी रहा। किन्तु यह तो ऐसा है कि इसमें द्रव्य भी हैं, कर्म हैं विशेष आदि सब हैं और सब स्वतंत्र है इसमें रहने वाले तत्त्व परतंत्र क्यों रहें, यह सब भी स्वतंत्र हैं, अलग अलग सत्ता रखने वाले हैं। यह सारा वैशेषिक सिद्धान्त उन चीजोंको मानता पृथक् स्वतंत्र।

वैशेषिकताका विश्लेषण—इस सिद्धान्तमें जो एक परमाणु है उस परमाणुमें कितना तत्त्व भरा है और तत्त्व सारा न्यारा-न्यारा न्यारा स्वरूप तो रखता, परन्तु द्रव्य अपना ही है, गुण भी नजर आता है, रूप रहता, गन्ध है, कर्म क्रिया भी नजर आती है, वह सब अपने संबंधसे है। इसको समवाय बतलाया गया और वह एक समवाय सब जगह व्यापक है। जिस की वजहसे सबकी कई सत्ता होनेपर भी बिखर नहीं जाती। सामान्य सबमें व्यापक है और फिर सबके अन्दर न्यारी न्यारी सत्ता है ऐसी उनकी बात है, ऐसी विशेष विशेष भी सब हैं और इन सबका एक जगह संबंध भी है। यहां कोई प्रश्न करे कि सब न्यारा तत्त्व है, तो पिंड क्या है ? काम कैसे हो रहा ? वहां विशेषवादी कहता है कि समवाय नामका पदार्थ जो सारी दुनियामें व्यापक है वह समवाय ऐसा बल देता है कि जिसपर जाता है काम करनेसे ही बनता है। यह वहां चिपटा ही रहता है। तत्त्व स्वयं होता है वह अपनेमें रहे इसका प्रवेश अन्यमें न हो तो वस्तु कैसे बनी रहे, यह सारे तत्त्व बेकार न हो जाय। इसलिये समवाय नामक एक तत्त्व बना दिया जो सब चीजोंका सम्बन्ध जुड़ाय रखे और सम्बन्ध तो जुड़ाया परन्तु किसीसे जुड़ जाय, इसका उसमें जुड़ जाय तो बड़ा अन्धेरखाता हो जायगा, तब नहीं, नहींकी व्यवस्था करने वाला एक अभाव तत्त्व है। वह यह व्यवस्था करता है—किसीकी चीज किसीमें नहीं जाती। इस तरह वह वैशेषिक इन तत्त्वोंके अन्दर वितर्क उठाकर यहां तक वह पहुंच गया।

अनेकान्तवादका समाधान—इन सबके इतने परिश्रमको देखकर अनेकान्तवादी करुणा करके कहते हैं कि वैशेषिक मित्र ! तुम्हारी बात ठीक है। द्रव्यमें ये सब विशेष व पर्याय है बिना एक पिंड वस्तु माने ही देखो कहां क्या तत्त्व रहेगा ? वह परमाणु समस्त गुणके पिंडसे भिन्न वस्तु क्या है, यह आत्मा समस्त आत्मीय गुणके पिंडसे भिन्न वस्तु क्या है ? इसलिये गुणोंका समूह ही द्रव्य है जो उसका परिणमन है, उसे कार्य कहते हैं, वह त्रैकालिक रहता है। इस कारणसे वह द्रव्य ऐसा हुआ। तुमने जो सामान्यकी व्यवस्था अलग बनाई, तुम्हारे इस

भिन्न-भिन्न विशेषणसे बड़ी वस्तु हुई थी इसलिए सामान्य अभाव व समवाय अलग बनाया, परन्तु यह स्वभाव ही द्रव्यका स्वयं ऐसा ही है। जो अपने स्वरूपमें ३ काल तक रहा वह तो सामान्य है, वह द्रव्य अपने गुणको भाव रूपसे रखता ही है यह समवाय है और निजकी स्थिति ही समस्त परकी स्थिति रूप करता है। निजकी स्थितिके लिये परके अभावकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। निजका सद्भाव ही परोंके अभाव रूप है, निजकी स्थिति ही स्वयंको ऐसे स्वभावमें लगाये हुये है कि उसमें परका अभाव रहता ही है। परकी अस्थितिरूपसे रहना ही निजकी स्थिति है एवं निजकी इस शुद्धिके पहलेसे ही परकी शुद्धि है। उस एक अखंड एक द्रव्यमें गुणोंकी सत्ता अभेद रूपसे है, उनके परिणाम कर्म है तथा क्षेत्रसे क्षेत्रातंरस्थ होना भी कर्म है, उनका सामान्य विशेष भी उन्हींमें सर्व समवेत है, अतः सर्वात्मक वह एक अखंड तत्त्व है। इस तरह तत्त्व द्रव्य गुण कर्म आदि अलग अलग तत्त्व नहीं है, यह एक द्रव्य कहलाता है। जीवकी नाना अवस्थाएँ हैं—कोई धर्मरूप, कोई अधर्मरूप। धर्मका सद्भाव ही अधर्मका अभाव है। सब इस प्रकार द्रव्यके स्वरूपमें स्थित है, एकान्त तत्त्व कुछ नहीं, यहां तक कहांसे उठकर चलते हुए कितने ही सिद्धान्त आते हैं, इस बातका वर्णन किया। अंतमें बात आई कि वस्तु अनेकांतात्मक है।

अनेकान्तके निर्णयका एक लोकदृष्टान्त—वे सब तत्त्वस्वरूपकी जुदी बातें कहाँ तक युक्त हैं जहां तक उन्हें एक एक दृष्टिसे देखा। एक हाथीके स्वरूपको जाननेके लिये पाँच अन्धे लड़ते हैं तो लड़ो। जिस अंधेने पूंछ पकड़ी वह कहता है हाथी कटीला होता है, जिस अंधेने हाथीका पैर पकड़ा वह कहता है खम्भासा होता है, जिस अंधेने कान पकड़ा कहता है सूप सा होता है, जिसने सूंड पकड़ी वह कहता है मूसल जैसा है। लड़ते हैं तो लड़ो पर जिसके आंखे हैं और जो चीजोंको देख सकता है वह भ्रममें नहीं पड़ता। वह उन्हें समझौता है लड़ते क्यों हो, जिसने हाथीको जिस जिस अपेक्षासे समझा वह उसको उसी तरह समझाता है। वह हाथी तो पांच चीजोंका मिलकर बना है यह जो अनेकान्तवाद है, यही वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करता है। यह आत्मतत्त्व जो अनन्त गुणोंका अभेद पिंड है, त्रिकालिक अस्तित्व रखने वाला है ऐसे तत्त्वको यह आत्मा अपने निज स्वरूपमें दृष्टिमें नहीं देता, जगतके बाह्यपदार्थोंमें हितरूपसे दृष्टि देता है तो अनन्त कर्म अपने आप बंधने लगते हैं।

आत्मरतिका अनुरोध—हे आत्मन्! अपनेको बाह्यके लक्ष्योंसे निकालो। इस आत्मामें निज तत्त्वको देखो, इसीमें रत होवो। बाह्य विकल्पोंको छोड़ संसारके मोहको छोड़ अपने आप को समझ, इस प्रकार तत्त्व प्रमाणित करके फिर निश्चय दृष्टिसे आत्माके निरपेक्ष स्वरूपका ध्यान कर। आचार्य महाराज कहते हैं कि अब तुम शुद्धात्मा हो जावो, निर्विकार निर्विकल्प स्थितिको पावो। पहिले प्रमाणके द्वारा वस्तुके पूर्ण स्वरूपको देखो, फिर निश्चयके द्वारा निर-

पेक्ष तत्त्वको देखो, फिर निरपेक्ष तत्त्वकी दृष्टिको एकदम विलीन करके सारी दृष्टियों व प्रमाणसे अतीत होकर एक शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप रहो, यह बात बतलाई कि आत्मा किसीमें से नहीं निकलता। निकलनेका रास्ता बिल्कुल हल्का है, उस हल्के रास्तेसे निकलना है, वह रास्ता है निजकी निजपर दृष्टि। इस रास्तेपर चलते हुएभी कभी बाह्यपर दृष्टि देता है और रास्ता चूक जाता है, फिर वह समझता है और धीरे वापिस अपने रास्ते पर आता है। यदि वह रास्तेको पकड़ लेता है तो ठीक ठीक तरीकेसे मार्गको पार कर जायगा। अध्यात्म तत्त्व एक सकरी गली है। इसके स्वरूपसे बाह्य स्वरूपपर लक्ष्य हुआ तो वह अपनी ही गलीसे भ्रष्ट हो सकता है। यह अध्यात्मप्रेमी कहां कहां किसमें फंसकर क्या तत्त्व बनाता रहा ? इन सब तत्त्वोंको जितने भी कहे गये उन सबको उनकी दृष्टिसे देखो और उनके ठीक-ठीक स्वरूपका निर्णय करो। इसी तरह जिसने अपने आत्मतत्त्वका निर्णय किया, सम्यक् विश्वास किया ऐसा पुरुष रागद्वेषादि भावको छोड़कर अपने आपके कल्याणके लिये उठता है ऐसा जीव सारे प्रमाद को छोड़कर चारों घातिया कर्मोंको नाश करके अपने शुद्ध तत्त्वको पा लेता है।

इन्द्रियोंकी ज्ञानानन्द बाधकता—यहां जिस शुद्ध आत्मामें द्रव्येन्द्रिय नहीं, भावेन्द्रिय नहीं, ऐसी शुद्धात्माको क्या ज्ञान और आनन्द होता होगा ? इसका समाधान करते करते यहाँ तक सिद्ध कर दिया कि जिनके इन्द्रिय है उनसे ज्ञान और आनन्दकी बाधा ही हो रही है। इन्द्रियां तो ज्ञान और आनन्दके बाधा देने वाली हैं, जिनके इन्द्रियके ज्ञान और आनन्दकी मिथ्या तरंगोंसे सुखकी मान्यता है उनको यहाँ शिक्षा है इन्द्रिय ज्ञान और आनन्दकी बाधक कहलाती है क्योंकि स्वभावसे ही ज्ञान और आनंद है। जैसे किसी रईसकी जायदाद सरकारने कोर्ट करली। वह बच्चा था नाबालिग है उसकी सरकार रक्षक है। उसको सरकार उसके एवजमें ३००) रुपये मासिक देती जाती है। बच्चा सयाना हुआ तो वह सोचता है—सरकार ३००) देकर बड़ा उपकार करती है, धन्य है यह सरकार। तब लोगोंने समझाया कि तुम्हारी करोड़ों रुपयोंकी जायदादको कोर्ट भर रखा है, तुम्हें ३००) देकर बाकी रुपया अपने काममें लेती है। जब इसे यह मालूम हुआ तो सरकारसे उसने कहा—हमें तो हमारी जायदाद व वैभव चाहिये। इसी तरहसे पूर्णज्ञान आनंद वैभव वाले यह जीव उनके ज्ञान और आनंदका वैभव कर्म सरकारने कोर्ट कर लिया, अब यह ज्ञान आनंद इस जीवके नहीं रहा, अब जरा कुछ सयाना हुवा, पुण्य उदय हुआ, तो उसके उदयमें कुछ सम्पत्ति सी मिल गई, अब वह जीव पुण्य सरकारका बड़ा उपकार मान रहा। उसके परिवर्द्धनके लिये उसकी पूजाके लिये ब्राह्मणोंका सत्कार करता, पूजा करता और सारे काम करता है। फिर जरा सयाना हुआ तो गुरुने समझाया कि तू उस अमूल्य जायदादका मालिक है, यह तो पुण्य सरकार इतना मजा देकर तुझे भुलावा दे रहा है। तुझे पता है वह तेरा अनंतज्ञान और आनन्द लूट करके

क्या देता है—उस जायदादमें से जरासा ज्ञान सुख दिया जा रहा है। तुम किससे सुख मान रहे हो ? इसका बोध हुआ, ज्ञान हुआ और सोचा हम पुण्य नहीं चाहते अपना वैभव ही चाहते। हमारा जो आनन्द ज्ञानका वैभव है उसकी ही हमारी माँग है। उसकी मांग हम गिड़गिड़ाकर नहीं करते, कानूनके बलपर माँग करते हैं। इसी तरहसे यह ज्ञान कर्मका मुकाबिला करता है, कषायका मुकाबिला करता है।

केवलज्ञानीके शारीरिक सुख दुःखका अभाव—शुद्ध चैतन्य स्वभावका ध्यान करके जिसे मोही जन समझते ही नहीं, उस स्वभावकी परख करने वाले सम्यक्त्वके सहयोगसे अपने वैभवको अपनेमें पा लेता है। अशुद्ध अवस्थामें भी जो ज्ञान आनंद प्राप्त हुआ है यह इन्द्रियसे नहीं मेरे बलसे हुआ है। अब भी मेरे ज्ञान और आनन्दका विकास होता है। आचार्य सिद्ध करते हैं कि उस शुद्धात्मामें जो सुख व ज्ञान है वह स्वभावसे ही है, इन्द्रियके कारण नहीं। इन्द्रिय न होने के कारण केवलीके परमसुख है। इसी प्रकारसे वैभवको प्रगट करते हैं। साधक भगवानके गुणोंका स्वरूप आप अपनेमें देखता, उनकी सन्धि करके अपने आपमें उद्देश्य करता है कि केवलज्ञानीके शारीरिक सुख दुःख नहीं है। अब अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियरहित होनेसे ही शुद्धात्माके शारीरिक सुख दुःख नहीं है ऐसा कहते हैं—द्रव्येन्द्रियाँ शरीरमें हैं और शरीर जब शुद्धात्माके नहीं होता तब आश्रय द्रव्य इन्द्रियोंका नहीं रहता और उसके अभाव होने पर भावेन्द्रिय जो कि सुख दुःखमें ले जाता है लेश संभावित नहीं है तथा जिन सकल परमात्माके कुछ ही कालको शरीर रहता है वहां भी शरीर है तो रहो, जब क्षायोपशमिक ज्ञान या भावेन्द्रिय नहीं है तो शारीरिक सुख दुःख ही क्या होगा ? ऐसे शारीरिक सुख दुःख से रहित केवलज्ञानीके स्वरूपको विभावयति माने कहते हैं, 'विभावयति' का शब्दव्युत्पत्तिसे देखनेपर अर्थ होता है कि विशेष रूपसे हुवाते हैं। वह स्वरूप तो हो ही रहा है, किन्तु आचार्य उस उस रूप उपयोग बनाते जा रहे हैं, ज्ञान करते जा रहे हैं, वहां भी यह कहना व्यवहारमें अनुपयुक्त नहीं है कि हुवाते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्माके सुख दुःख नहीं है, ऐसा कहते हैं—

सोक्खं वा पुण दुःक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जह्मा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

केवलज्ञानीके सुख दुःखके अभावका कारण—कहते हैं कि केवलज्ञानीके शारीरिक सुख और दुःख नहीं होते, दोनों ही दुःख हैं, कोई सा भी नहीं होता है, इसमें क्या कारण है ? वे अतीन्द्रिय हो गये। अपने इस देह पिंडके अन्दर भी चैतन्य भगवानके स्वरूपका विचार करो, देहका लक्ष्य छोड़कर अंतरंगमें देखे तो उसे यही पता पड़ जाता कि मैं देहसे भिन्न स्वरूप वाला हूं, मैं स्वयं ज्ञान और अनाकुल हूं, मेरा ज्ञान मेरी अनाकुलता बाह्यपदार्थों

उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत बाह्य पदार्थोंसे जैसे जैसे लक्ष्य कम होता जाता, वैसे ही वैसे मुझमें अनाकुलता अधिक पैदा होती। अन्तर्दृष्टिमें अपने अंतरंगकी बात विचारनेपर यह बात बिल्कुल अनुभवमें आ जाती कि केवली भगवान ऐसे ही तो हो गये जिस प्रकार कि हम इस देहमें रहकर अपने आपका स्वभाव दृष्टिसे विचार कर रहे हैं। वह ज्ञान उसके सुखका परम भंडार अपने सच्चे स्वरूपमें आ गया। इन्द्रिय देह द्रव्यकर्म सभी नष्ट हो गये, केवल एक चैतन्य ही रह गया, उसका ज्ञान और उसका सुख जो उसकी तरंग है, शुद्ध तरंग है। वह अपने आप पैदा होती है। उन तरंगोंको पैदा करने वाला कोई निमित्त कारण नहीं होता है। क्योंकि वह उसकी स्वाभाविक अवस्था है। स्वाभाविक अवस्था यदि किसी निमित्तकी अपेक्षा रखे, सो वह स्वाभाविक नहीं कहलाती। वैभाविक ही निमित्तकी अपेक्षा रखता है, सो भी निमित्तमात्र रूप वह बाह्य पदार्थ रहता है।

संगतिसे विघात—जिस कारणसे कि शुद्ध आत्माके इन्द्रिका समूह नहीं है तो इन्द्रियज सुख दुःख भी नहीं है। लोहेके गोलेमें संगति किया हुआ जो आग है वह तो चोट सहता है परन्तु संगति अलग हो तो चोट नहीं सहता। अर्थात् जैसे लोहेके गोले में आग लगे तो वह आग घनकी चोट पाता है। आगमें घनकी चोट देनेका क्या मतलब ? आगको घनसे कौन पीटता है ? लुहार लोहेको घनसे पीटता है, चौड़ा करता है, परन्तु वह लोहा जब आगकी संगति करता है तब घटाया बढ़ाया जा सकता है तो लोहेकी संगतिसे जैसे आग पिटती है इसी तरहसे इन्द्रियज्ञानके कारण यह इन्द्रियकी संगतिसे यह आत्मा भी पिटती है। हम यहाँ इन्द्रियसे पिट तो रहे और इस पिटाईको सुख मान रहे, बस इसलिये यह शंका होती है कि जिनके इन्द्रियज्ञान नहीं है उनके सुख कैसे होता होगा ? देखो भैया यह ऐसी पिटाई है, यह हमारा ऐसा दुःख है कि हम दुःखको दुःखका स्वरूप नहीं समझ पाते। दुखी तो हो रहे हैं पर दुःखका जब तक ठीक स्वरूप नहीं समझे तो हम दुःखसे मुक्त कैसे होवेंगे ? दुःखको सुख मानकर भोगे और उसमें आकुलना न होवे तो भी भला था, कोई बुरा नहीं था, भ्रम था सो था, भ्रमने क्या बिगाड़ दिया ? सुखी तो बने रहते, परन्तु दुःखको सुख मानकर सुखी होना चाहा और वहां भी सुख नहीं होने पाता, आकुलता लगी रहती बस यही खेदकी बात है।

संतोष्यताका संसारमें अभाव—संसारके जितने सुख हैं सभी सुखोंपर दृष्टिपात कर लो, कोई सुख भी अनाकुलतासे भरा नहीं है। धनका सुख परिवारका सुख नेतागिरीका सुख और बड़े सुख जिसे संसारमें सुख समझते उनमें रहने वाले लोगों के हृदयसे पूछलो कि उनको आकुलता रहती या अनाकुलता ? दुःख भोगते जा रहे हैं और सुखके बोध से दुखी होते जा रहे हैं और फिर भी बाज नहीं आते। जैसे लालमिर्च खाते जाते हैं, आँखोंसे आँसू गिर रहे, सी सी कर रहे, फिर भी मिर्चके आसक्त मिर्चसे बाज नहीं आते। यह जीव संसारके जितने

दुःख हैं उनको भोगते जाते हैं दुःखी होते जाते, फिर भी बाज नहीं आते। कदाचित् दुःखमें आप थोड़ी देरको यह तो सोच सकते कि कुछ न करो। कुछ आरामसे बैठो तो दुःख मिटा और फिर भी उसी दुःखमें आ गया, बीमार रोगी हुआ, मरणासन्न हुआ सोचता है कि भगवान इससे यदि बच जाऊं तो खूब धर्म करूंगा। मैंने अपनी चिन्ता बढ़ाकर बिना धर्मके जीवन खोया, सभीका विरोध करके अपना जीवन बिना धर्मके खोया। ज्ञानीको धर्मका स्वरूप प्रगट समझमें आया तो अपने तथ्यके मुकाबले पर्यायगत शुभभावको वह अधर्म समझते हैं। धर्मका पूर्ण स्वरूप उन मुनियोंके समझमें आ रहा जो व्यवहारधर्ममें बहुत आगे बढ़नेपर भी संतोष नहीं रखते कि मैंने सब कुछ कर लिया। उन्हें भी वह गलत मालूम होता है कि धर्म का तो यह स्वरूप है, मैं अभी धर्मसे दूर हूं। कहो भैया! तब फिर हम लोग कहाँ? हमारा कौन काम ऐसा है जिस कामको करके यह माने धर्म कर लिया, जरा ऊपरी भक्ति करली बस संतुष्ट है, संतोष पा लेते हैं। आप सोचो कोई संतोषकी जगह भी है, विकल्पको ही कहा करते हमने धर्म कर लिया।

ज्ञानातिरिक्त भावोंकी अज्ञानमयता—मुनि विचारते हैं कि मेरे भाव जो यह हो रहा है वह अज्ञानमय हो रहा है। देखो मुनियोंके अंतरंग भावको देखो—सामायिक भी कर रहे हैं मुनि सामायिकसे बैठ गये और वे सोचते हैं कि जो मैं ऐसा बैठा यह अज्ञान भाव हो रहा है ऐसा जो कि तप कर रहे हैं यह अज्ञानमें मुनि सोचते हैं कि भक्तिभावना भी रागकी की जाती है वह अज्ञानमें है। परमेष्ठीकी भक्तिका अंतरंगमें अनुराग हुआ, उस अनुरागसे ऐसा सोचता हूं कि यह मेरे रागकी चेष्टा है, यह सच्चा भाव मुनियोंकी अंतरंग बातको बतला रहा है कि उनके अंदर तत्त्व ज्ञान भरा है। वह सोचते हैं मेरा स्वभाव तो निर्विकार निर्विकल्प है। जितने भी ये विकल्प क्रियायें हैं वह सब अज्ञानमें हो रही हैं। इतने ऊंचे मुनिराज जिनके चरणोंकी रज मिल जाय तो भव्यजन उपासक अपने सिरमें धारण करके अपने जीवनको धन्य समझते हैं, ऐसे भाव मुनियोंके यह विचार उनके शुभोपयोगमें होता। तब आप अपनी स्थितिको देखें हम कहां हैं और कहां पड़े, क्या करके संतोष कर रहे हैं? बड़े संतुष्ट हैं बड़ा आनन्द है। अगर कोई यश संपदाकी बात हो तो उसे बातमें मालूम होता है बड़ा आनन्द है। उनके चित्तमें यह सुख मालूम होता है कि संसारका ऐसा वैभव मिले वहां सुख है। कहते हैं कि यह आत्मा जो पिट रही वह इस देहकी संगतिसे पिट रही है। यदि देहका सम्बन्ध होता तो यह आत्मा स्वभावसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन शक्तिमान अनन्त सुखी होता। यह देह, ये इन्द्रियां तो ऐसा कपटी मित्र हैं जैसे कपटी मित्र बहुत बड़ी हानि करके छोटे लाभकी बात बतलाते हैं, इसी तरह यह देह, यह इन्द्रियां ऐसी कपटी मित्र बन रही हैं मेरी बड़ी भारी हानि करनेके लिये थोड़ेसे लाभमें हमको मुग्ध बना रहे। विवेकी पुरुष इस कपटी मित्रकी बातोंमें नहीं आते। वे

अपने पथपर पहुंचते हैं और सोचते हैं कि हमको क्या दास बनावोगे, तुम हमको अपना क्या नौकर बनावोगे तुम सब मेरे स्वरूपसे भिन्न हो, मैं तुम्हारी बातोंमें नहीं आ सकता। कमजोरीके कारण परकार्यके वातावरणमें आना भी पड़े तो भी वह अपनी श्रद्धाको निर्मल रखता है।

इन्द्रियोंकी उद्दण्डता—उद्दण्ड यह इन्द्रियोंका समूह जिस शुद्ध आत्माके नहीं उसके घोर घन घातकी चोटकी तरह शारीरिक सुख दुःख उसके नहीं हो सकते। देखो भैया! इस संसारमें अन्य जो तिर्यंच जीव हैं जो बड़े अज्ञानी हैं इनको भी मुख्यतासे एक खास इन्द्रियोंका विषय राग रहता, हिरनको सूँघनेका राग रहता, पतंगको रूपका राग रहता भंवरको गन्धका राग रहता, मछलीको स्वादका राग है, हाथीको स्पर्शका राग रहता है। यह विचारे हाथी आदि तिर्यंच अज्ञानी यह अपने एक इन्द्रियकी मुख्यतासे राग करता। परन्तु यह मनुष्य ५ इन्द्रियोंकी मुख्यतासे राग करता है। घरमें भोजन करके आये, पेट लबालब भरा घरसे बाहिर निकले जेबमें चार पैसे पड़े हैं चाटवाला दिखाई दिया बस पेट लेटर बक्समें जगह खाली मिल ही जाती ऐसी आसक्ति है। इसके साथ २ ही मास मदिरा आदिका विवेक न करे सब खाये। यह क्या है यह कपटी इन्द्रियाँ हमारे पूरे लाभको मिटाकर थोड़ेसे लाभमें मुग्धकर रही हैं। वस्तुतः तो वह वर्तमानमें भी कोई लाभ नहीं है, कल्पनासे किसीको भी कुछ समझलो उससे क्या उठता? स्पर्शनकी बात देखो—विषयी भोगमें आसक्त रहता है। कितने ही लोगोंका जीवन इसी विषयभोगके कारण बरबाद हो गया। दूसरोंकी बरबादी भी देखकर मैथुनका प्रसंग नहीं छूटता, उस लोहूसे लथपथ मलमूत्र वाले शरीरका राग नहीं छूटता। यह क्या है? यह इन्द्रिय थोड़ेसे सुख दुःखका लालच देकर आत्माके स्वाभाविक वैभवको लूट रहा है। इसका भोगीको पता नहीं, वह इन्द्रियोंमें ही आसक्त हो जाता है। इसी तरह इन सब इन्द्रियोंकी ऐसी ही बात है। सुंहावने रूपको देखकर अपने अंतरंगको रीता करके निरंतर उसमें आसक्त रहता है।

उद्दण्डता एक उदाहरण—एक देवरति राजाकी कथा है। देवरति राजा था। वह रानीमें आसक्त था। उसके राज्यमें इस कारण गड़बड़ होना शुरू हुआ तो मंत्री कहते हैं कि महाराज या तो रानीको लेकर यहाँसे पधारो या रानीमें आसक्ति छोड़कर राजका कार्य संभालो! मन्त्री दोनोंका हितैषी होता है। राजाकी रानीका नाम रत्ता था। राजा आसक्तिके कारण रानीको लेकर राज्यसे भाग गया। वह किसी दूसरे शहरमें पहुंचा। वहाँ जाकर राजा भोजनकी सामग्री आदि एक रोज लेने गये। इतनी देरमें अन्धा, लूला आदमी वहां एक गाना गाता हुआ चरस हांक रहा था। रानी उसके गानेको सुनकर उसपर मुग्ध हो गई। कुबड़ेसे याचना की, उसने कहा कि राजाके रहते हुए मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब राजा आया तो

उसने रानीको उदास पाया तो उसने रानीसे पूछा कि मैंने तुम्हारे लिये घरबार छोड़ दिया अब भी नाराज क्यों हो ? रानी बोली—आज आपका जन्म दिवस है, यदि उन महलोंमें होते तो कितना अच्छा स्वागत करती ? राजाने कहा—यहाँ ही स्वागत कर सकती हो। रानीने कहा, तुम फूल लावो मैं माला बनाकर तुम्हें पहनाऊंगी। राजा फूल लेने चला गया और फूल ले आया। रानी ने ५० हाथके ३ गजरे बनाये और राजासे कहा कि पहाड़ पर चलो वहांपर गजरोंसे स्वागत करूंगी। राजा वहां गया और रानीने इस तरहसे उन गजरोंसे कस दिया कि वह चल फिर न सकता था, फिर उसको धक्का दिया। पहाड़के नीचे नदी बहती थी, राजा उस नदीमें आकर गिर पड़ा।

पुण्यका अमात्यपन—संसारका हाल देखलो, कौन किसे चाहते हैं इसकी परीक्षा कर लो। प्रथम तो वस्तु स्वरूप ऐसा ही है वस्तुके गुणकी पर्यायें उसी वस्तुमें हैं, वस्तुके द्रव्यगुण पर्याय अपने प्रदेशोंमें ही हैं, परके प्रदेशोंमें नहीं, फिर कौन कहां जा सकता है ? वह देवरति राजा लड़खड़ाता नदीमें बहते हुए एक किनारे लग गया और यह रक्ता, रानी उस अन्धेको अपने सिरपर लेकर स्वयं तो नाचती और वह अंधा गाना गाता और इस प्रकार अपने पेटके लिये पैसे कमाते। लोगोंको क्या बतलाती कि यह मेरा पति है, अंधा है, इसे सिरपर लेकर पतिव्रताका व्रत पालन करती हूं। उधर देवरति राजा बहता बहता हुआ ऐसे देशमें जा पहुंचा था, जहां राजा नहीं था। मंत्रियोंने सोचा राजा उसीको बनाओ जिसको प्रधान हाथी स्वयं उठाकर मस्तकपर उठाये। हाथीने घूमघाम कर उसे ही मस्तकपर बिठाया और इस प्रकार देवरति वहांका राजा बन गया। अब यह रक्ता रानी पड़ते गिरते उसी नगरमें पहुंची और दरबारमें पहुंच गई। देवरति राजाने उसे पहिचान लिया वह तो पहिचानकर वहांपर विरक्त हो गया और राजपाट छोड़कर साधु हो गया। रक्ता रानी तो रक्ता ही रह गई।

विपदा व श्रमका कारण विषयानुराग—संसारका स्वरूप तो देखो कि इन्द्रियके कार्यमें नष्ट होकर अपना आगा पीछा भूल रहा। मरनेके बाद भी तो हम तुम होंगे। इस का कोई ख्याल नहीं करता। इन इन्द्रियोंको मित्र मानकर हम सुख मानते हैं उसीमें दुःख है। यदि इस देहका सम्बंध आत्मासे नहीं होवे तो यह आत्मा विपदाकी चोट नहीं सह सकती जैसा कि आग लोहेकी संगति न पाती तो वह भी न पिटती। इसी तरह भगवानके शरीर नहीं है तो शारीरिक सुख दुःख भी नहीं है। शुद्धात्माके मोहकर्म रहा नहीं, ज्ञानावरण दर्शनावरण इन्द्रिय कर्म रहा नहीं, इस कारण पंचेन्द्रियोंके सुखके लिये उनका व्यापार नहीं होता। उसका व्यापार अपने चैतन्यस्वरूपमें अपने स्वभावके अनुरूप शुद्ध तरंगके द्वारा होता है। इस इन्द्रियके द्वारा जो व्यापार होता, यहां व्यापार इस सुख दुःखका अनुमापक है, यह दुःख है। घावको पट्टी सगाते हैं वह पट्टी इस बातकी अनुमापक है कि इसके घावका दुःख है

और घाव अच्छा नहीं है। इसी तरह अपने इंद्रिय सुखके लिये जो व्यापार करता है, परिश्रम करता है उसका परिश्रम ही इस बातको बतलाता है कि उनको इस चाहका दुःख है। यह जगतके जीव २४ घंटे परिश्रममें लग रहे। २४ नहीं तो १८ घंटे तो परिश्रममें लगे रहते हैं। उस परिश्रमसे थककर ६ गंटे पैर पसार कर शयन करते हैं २४ घन्टों काम करते हैं। इसका कारण क्या है इन्द्रिय सुखके लिये जो मेहनत की उस मेहनतका फल है। इन्द्रिय सुखके लिये मेहनत की, इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सुखमें उसकी रुचि हुई। इसका कारण क्या? अपने चारित्रगुणको रमानेके लिये उसे कोई स्थान न मिला।

रत्नत्रयका प्रसाद—यदि अपने ज्ञान, दर्शन सामान्य स्वरूप आत्मतत्त्व अनंतगुणमें अभेद स्वरूप आत्मतत्त्व उसकी दृष्टिमें आता तो इन्द्रिय सुखमें रुचि न होती, चारित्र ज्ञानके कामको स्थिर कर देता है, आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों गुण ऐसी मित्रतासे काम करते हैं कि जैसे किसीको कुछ काम करना है। उसके लिये तीन आदमी बैठ जायें, जैसे एक लिफाफा बनाना है, ३ आदमी बनाने वाले हैं। तीनों ऐसे बैठते हैं एक काटता है एक ठीक जगह लेही लगाता है और तीसरा उसको चिपका देता है। जैसे यह तीन काम, तीन पुरुष मिलजुलकर एक साथ काममें लग रहे, मानों यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र इस तरकीबसे अपने काममें लग जाते हैं, यह तो औपचारिक दृष्टान्त है, गुण तो एकत्र अभेदरूप हैं। दर्शनने श्रद्धा की, ज्ञानने बताया, चारित्र वहां जुट गया—यह तीन काम दर्शन, ज्ञान, चारित्रके इस तरह हो रहे। दर्शनने विश्वास किया, ज्ञानने उपाय बतलाया, चारित्रने उसमें लगा दिया। चाहे वह विषयकी बात हो चाहे तपस्याकी बात हो, अच्छे वृत्तिकी बात हो। दर्शन, ज्ञान, चारित्र इस ढंगसे काममें लग रहे हैं। विषयी आत्माको दर्शनने विषयमें हितकी श्रद्धा कराई, ज्ञानने उपाय दिखा दिया, चारित्र विषयमें जुट गया। दर्शन, ज्ञान, चारित्र सामान्य गुण है। जब यह खोटे कार्यमें जाता है तो उसको कहते हैं मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। और जब यह अच्छे विषयमें जाता है तो इसको कहते हैं, सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्-चारित्र अच्छा विषय, जो स्वयंके लिये स्व ही है।

कार्यसिद्धिमें विश्वास, ज्ञान व लगावकी अवश्यंभाविता—कोई भी हम काम करते हैं उस काममें तीन तरहकी बात होती है–विश्वास, ज्ञान और लगाव। तीनों कैसे लग रहे? अपने धर्ममें विश्वासका काम दर्शनका हुआ, वही ज्ञानने जानन किया और चारित्र इनके विषयमें जुट गया। यह तीनो बातें इन जीवोंमें अनादिसे अनन्त काल तक रहती हैं। फर्क एक शुद्ध अशुद्धका है। सम्यक्दृष्टिको तत्त्वका विश्वास हुआ, इसकी सब बातोंका ज्ञान हुआ और उसमें जुट गया। इसी तत्त्वमें जुट गया, किसी बाह्य व्यापक बातमें नहीं। यहाँसे लक्ष्य हटाकर निज तत्त्वमें जोड़ा और इस तत्त्वमें स्थिर होनेका फल यह है कि उसका ज्ञान व्यापक

हो गया। हमारे उपयोगको जब तक हम फैलाकर रखे रहे तब तक हमारा ज्ञान फैलता नहीं है और जब उसके फैलावको रोक दिया, निज आत्माके केन्द्रमें ही बाँध दिया तो ऐसा बल देता है कि वह ज्ञान सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वगत हो जाता है। यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र जहाँ जहां आत्माकी पर्यायमें परिस्थिति होती है उस उस प्रकारसे यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र काम करता है। तो सिद्ध भगवानका दर्शन, सिद्ध भगवानका ज्ञान और चारित्र, ज्ञान, दर्शन सामान्यकी क्षणिक क्षणिक परिणति शुद्ध शुद्ध पर्यायरूपमें काम कर रहा है। हमारे ज्ञानकी परिणति किस रूपमें काम कर रही है ? अपने ज्ञान श्रद्धाको सभी पहिचान सकते हैं। देखो ज्ञान श्रद्धाका किसीने क्या, किसीने क्या विषय बनाया है ? वह भगवानकी भक्तिमें लग रहा है, तत्त्वचिंतवनके यत्नमें है, उसी समय किसीने कहा दादा दुकानकी चाबी कहाँ है, वह दुकान की चाबी कहीं भूल आया था। तो अब उसका ध्यान तत्त्वचिंतवनमें नहीं लगता कहा, लगा सो अनुमान करलो, उसने विश्वासका कहाँ काम लगाया है और दुकानपर बैठा हो वह तत्त्व चिंतनमें लग रहा हो, द्रव्यके स्वरूपको विचार रहा हो। द्रव्य त्रैकालिक है अकालिक है कहाँ है क्या स्वरूप है एक आदमी दुकानमें बैठा बैठा चिंतवनमें लग रहा, किसी ने कोई बात कही उसके सुननेमें ही नहीं आया उसकी श्रद्धा कहां है ? श्रद्धा स्वपर पहुंच जावे तो बड़े बड़े काम को करते हुए भी बाह्यमें रमता नहीं है। अब अपनी अपनी श्रद्धाको पहिचान लें कि तुम्हारा दर्शन, तुम्हारी श्रद्धा क्या है, कैसी प्रबल है ?

विश्वासका विस्तार—एक हंस मानसरोवरमें रहता था। कुएपर बगुले ने पूछा कि कहाँ रहते हैं—मान सरोवरमें, वहां क्या क्या है बगुलेने पूछा। हंस बोला रत्न हैं, सोनेकी सीढ़ी का घाट है, बहुत बहुत बातें बतलाईं। बहुत देर सुनकर बगुला बोला, मछलियां हैं कि नहीं, देखो उसे क्या सुहाया, यहां श्रद्धाकी बात दर्शनकी बात हो रही है। जिनके मनमें जो बात बैठी है जो श्रद्धा बैठी है उस तत्त्वके आधार ही पर चलनेकी धुनि बनी रहती है, उसकी ही चर्चा तो सुहाती है। हाँ तो प्रकृत बात यह है कि दर्शन श्रद्धाको हम आप समझ सकते हैं कार्यके द्वारा कि हमारी श्रद्धा किस ओर लग रही है ? भगवान शुद्ध आत्माका श्रद्धान क्या है तो प्रतीतिरूप रुचि रूप नहीं, किन्तु सम्यक्त्व परिणमन रूप है। उसमें प्रवृत्ति नहीं बनाई जा सकती क्योंकि प्रभुका निर्विकल्प ज्ञान है वीतराग चारित्र है। शुद्ध आत्मा ही के ज्ञानके अंतरंगको देखो, यह नहीं हो सकता है कि उसे इसका ज्ञान है। उस ज्ञान गुणका स्वच्छ अंतरमें परिणमन हो रहा है, वह परिणमन सर्वज्ञतास्वरूप है आत्मज्ञानरूप भी है। हम विकल्प वाले लोग उसे विकल्पोंकी दृष्टिसे ही देखते हैं।

शुद्ध जाननमें कल्मषताका अभाव—यद्यपि जानन उतना है जितना कि सर्वज्ञेय है तथापि जानते वे स्वयंको ही हैं, उसही में इतनी विशालता है। जब हम ज्ञेयाकारके सम्बन्ध

को देखते हैं तो हमें सर्वज्ञ प्रतीत होता है, जब हम निर्विकल्प रूपमें वहाँ निर्विकार तरंगसे देखते हैं तो हमें वहां आत्मज्ञ प्रतीत होता है। शुद्ध आत्माके आत्मज्ञता भी है, सर्वज्ञता भी है परन्तु उसके स्वरूपको देखनेका एक प्रकार है। निश्चयसे आत्मज्ञता है व्यवहारसे सर्वज्ञता है ऐसे उस शुद्ध आत्माका जिसके कि देह नहीं है शारीरिक सुख और दुःख नहीं हो सकता है क्योंकि कर्मोंका उदय हुआ तब आत्मामें दुःखकी मोहकी रागकी पर्याय हुई। देखो वह दुःख की रागकी पर्याय किस परको विषय करते हुए ही अपने स्वरूपको बना सकती है। जहां देह नहीं, कर्म नहीं, कोई आश्रय नहीं, वहाँ फिर कैसे आकुलता हो? इसलिये तो उपदेश है कि भाई अमुक चीजका त्याग करो, अमुक परिग्रह छोड़ो, इस चीजका त्याग करो। यह पद्धति इसलिये है कि जब हम यह आश्रय ही न रखेंगे तो कभी ऐसा भी हो सकता आश्रयके न मिलनेसे अपने स्वरूपको भी न बना सकेगा यह रागादि भाव। जब रागादि भावके अपने स्वरूप न बन सकेंगे तो मोक्षमार्गको पूर्ण सहयोग मिलेगा।

कल्याणकी निजमें खोज—भैया! यह चरणानुयोगकी पद्धति है। वस्तुतः बाह्य त्याग न आत्माका हित रूप है, न आत्माके अहित रूप है। बाह्य तो बाह्य है वह तो अपनी सत्तासे बैठा है। इसका त्याग तो इसलिये है कि वहाँ आश्रय होता था सो बुद्धिपूर्वक एक यत्न किया और है भी ठीक, निर्मलदशामें तो छूट ही जाता है। बाह्यके त्यागको मोक्षमार्ग नहीं कहते। बाह्यका त्याग इसलिये है कि मेरा बंध तो भीतरमें चल रहा है। यदि उसका आश्रय न मिला तो वह उदय अपना बल न दिखाकर यह स्वयं खतम हो जाय। यदि कोई ऐसा कहे कि सर्वथा किसी बाह्यके त्यागकी जरूरत नहीं तो भाई देखो कि आप बाह्यके पदार्थसे अलग रहते हो कि नहीं। यहाँ तो वस्तुका स्वरूप बताया, चीज ढूंढना न ढूंढना इसके लिये बात नहीं। बाह्यको त्याग करनेका भाव भी आत्माका एक विकल्प है। हम बाह्य पदार्थोंके त्याग करने वाले नहीं हैं, वे तो जुदे हैं, स्वयं बाह्य पदार्थके त्यागसे सुख नहीं इन्द्रियके विकल्प के त्यागसे सुख है। जिन जिनके इन्द्रियोंके लगावका त्याग हुआ था उन उनके बाह्य पदार्थों का त्याग हुआ था। बाह्य हमारे विकल्पका आश्रय है। आश्रय जानकर इसका त्याग होता है, ये मुझे तंग करते हैं ऐसे भावसे बाह्यका त्याग नहीं करना है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि दुःख करने वाले मेरे मोह रागरुषकी परिणति ही है 'सुख दुःख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दुःखकी खान॥' मुझे विभावकी दृष्टि नहीं चाहिये। स्वभावमें ही मेरा सर्वस्व है, इस अभिप्राय वालेका बाह्यमें कोई प्रयोजन न रहने से ये बाह्य स्वयं हट जाते हैं।

साम्य और सम्यक्त्वका प्रताप—महाराजा श्रेणिकने मुनिपर धर्मके द्वेषसे मरा हुआ साँप डाल दिया। ३ दिन तो श्रेणिकने चेलनीको नहीं बतलाया। ३ दिन बाद कहा कि हमने तुम्हारे साधुपर मरा हुआ साँप डाल दिया। चेलनी ने कहा यदि वह साधु होंगे तो वैसे ही

स्थितिमें होंगे और यदि साँप स्वयं हटा दिया तो हमारे साधु नहीं हैं। श्रेणिक बोला—चलो परीक्षा करने चलें, देखा कि वे साधु अपने योगमें बैठे थे। मुनिके शरीरपर चींटियोंका ढेर हो रहा था और वह खूनको पी रही थीं। मुनि अपने आपमें आत्मतत्त्वको दर्शन करनेमें ही रहे। जिसको जैसी लगती है उसको वही सुहाती है, जिसे अपने आत्मतत्त्वकी बात लग गई उसको दूसरेकी खबर नहीं, इसमें अचरज नहीं है। महाराजा श्रेणिक बड़ा पश्चाताप करने लगे। श्रेणिक चींटियोंको हटाने लगे तो चेलनी बोली—चींटियोंको तरकीबसे हटायेंगे। इसने शक्कर लेकर दूर रक्खा तब चिटियाँ हट गईं तब सांप निकाला। जब मुनिराजका उपसर्ग दूर हो गया तो उन्होंने समाधि खोली। उन्हें जब सामने देखा तब दोनोंको धर्मवृद्धि दी। वहां राजा श्रेणिकके हृदयपरिवर्तन हुआ, मोह हटा। सोचा देखो धन्य है इन मुनिराजके समताभावको नाम भी नहीं लिया। राजाको ही धर्मवृद्धि होती तो उसमें रागकी झलक होती। धन्य है इन प्रभुको, धन्य है इनके समताभावको। ऐसे गुरुको सताया मैं पापी हूं। श्रेणिकने बड़ा पश्चाताप किया, आत्महत्या करना विचारा, मैंने बड़ा पाप किया। इस खेदमें अपने विनाशके लिये कटार निकालनेकी सोची तो महाराज कहते हैं कि श्रेणिक क्या विचारते हो, यह तो संसारका स्वरूप है। जब तुम्हारे कषायभाव पैदा हुआ तबका वह भाव था, इस समय तो तुम्हारे दुर्भाव नहीं। श्रेणिकने हृदयसे विचारा कि ये मनकी बात भी जानते हैं, वहां और दृढ़ श्रद्धा हुई। देखो भैया पहिले इसी सांपके उपसर्गमें श्रेणिकने ऐसा पाप कमाया कि नरक ३३ सागरकी स्थिति बांधी, अब सम्यक्त्व जगा तो उसके मात्र ८४००० वर्षकी स्थिति रह गई, यह सम्यग्दर्शनका प्रताप है।

ज्ञानीका साम्यरसका विचार—ज्ञानी सोचता है दुश्मन हो, मित्र हो दोनों बराबर हैं, दोनों मेरी आत्मासे पृथक् स्वतंत्र परिणमते हैं। दुश्मन कोई बिगाड़ नहीं करता, मित्र कोई लाभ नहीं करता। मित्रकी चेष्टा उसमें होती है, दुश्मनकी चेष्टा उसमें होती है। कौन शत्रु कौन मित्र है, प्राणी अपने भावसे पुण्य पाप करता है। मेरा कोई न अच्छा चाहता है, न बुरा ऐसी दृष्टिका आना यह ज्ञानका फल है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव जिसको आत्मतत्त्वका मिलाप हुआ वे इन्द्रियके सुखमें नहीं रमते, इन्द्रियोंके सुखमें मोही आसक्ति करता है और दुःखी हो जाता है। ज्ञानीको तो सुख सम्पदा मिले तो वह उसे झंझट ही दिखता है। कैसा उपद्रवमें पड़ गया, कहां लग रहा, मैं तो चैतन्यज्ञानस्वभाव हूं, मेरा शरीर तो ज्ञान मात्र ही है ऐसा सच्चा भावका परमतत्त्व होकर मैं कैसे कूड़े कचरेमें लग रहा ? इन्द्रियके सुखमें सम्यग्दृष्टिको तो दुःख ही लगा। जिसे जिसकी लग गई उसे वही सुहाती है। सम्यग्दृष्टि मुनि जब उसके निद्रा भी होती है तो उस निद्रामें ४८ मिनट तो लगातार नहीं लगते। ४८ मिनट तो मोटी बात है प्रमत्तगुणस्थानका अन्तर्मुहूर्त भी बड़ा नहीं है। हां तो साधुको स्वभाव सुहाता है

क्योंकि जिसके जो लग गई इसको वही सुहाती है मुनिके भीतर ज्ञायक स्वरूपका संस्कार है संसारसे संवेग है। यदि निद्राका एक अन्तमुहूर्तसे ज्यादा हो गया तो उसके वह छटा गुणस्थान नहीं रहेगा जिसके भी अंतरंगके कपाट खुल गये कि भीतर भीतर प्रताप चल रहा है कि देखो निद्राका प्रमाद देर तक नहीं रहता। एक मुहूर्तके भीतर ही वह फिर सावधान हो जाता है और निज चैतन्यरसकी ओर ढलता है, ज्ञानी जीवोंको वही वही रुचिकर होता है, चर्चा चाहेगा तो उसीकी, सुनेगा तो उसी चैतन्य तत्त्वको।

ज्ञानीके एकत्वका प्रेम—कोई भिक्षु था। किसी जगह रईसोंका भोजन हो रहा था। भिक्षुने रोटी माँगी। रईसने जवाब दिया चल हट। भिक्षुने दुबारा रोटी मांगी, उसने भिक्षुको कहा चल हट बे, यहाँ तो पंगतका काम लग रहा। भिक्षुने कहा तेरे काममें आग लगो मुझे तो दो रोटी ही की तो जरूरत है। सम्यग्दृष्टि सोचते हैं कि जगतमें सुख और वैभव अपने-अपने जगह रहे, मुझे तो एक ऐसी दृष्टिसे ही काम है—ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष जिसे शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव हुआ उसे बाह्य झंझटें नहीं लगा करतीं। कर्मोदयसे कोई आ पड़े तो वहाँ रहता, उसमें भी उसको रुचि नहीं रहती। ऐसे जिसको अपने आत्मतत्त्वका भान हुआ है वह पुरुष जब देह से रहित हो जाता है फिर उन जीवोंको सुख दुःख कहाँ होता होगा? इतनी बात समझने वालेके संदेह नहीं होता। सिद्ध प्रभुका ज्ञान और सुख उनके ज्ञान और सुखके स्वभावसे होता है, इसी तरह इस गाथामें यह बात सिद्ध की कि केवलज्ञानीके सुख दुःख नहीं है उनके जो परम अतीन्द्रिय आत्मीय सुख है इनके जब तक संयोगकेवली है साताका उदय है परन्तु कोई ऐसा सुख नहीं लगता जो लौकिक हो किन्तु इन्द्रियातीत ही उनके स्वाभाविक सुख है। ऐसा उत्कृष्ट सुख निज चैतन्यके लक्ष्यसे स्वयं प्रगट होता है, अतः सत्सुखार्थीको निज ज्ञायक भावमें स्थिर होना चाहिये।

ज्ञानीके ज्ञान और आनन्दका विवरण—अब ज्ञानके स्वरूपके विस्तारको और सुखके स्वरूपको विस्तारसे क्रमशः जिसका कि पहिले भी कुछ वर्णन था उसके अनुसार कहते हैं, अभी तो यह बात बतलाई है कि जो शुद्ध आत्मा हो जाता है उसके ज्ञान और सुख असहाय अर्थात् परकी अपेक्षाके बिना होता है। अब उसी ज्ञानके स्वरूपको जो कि निरपेक्ष है—परकी अपेक्षाके बिना है—अपने स्वरूप स्वभावसे व्यक्त होता है तथा उस सुखके स्वरूप को जो ज्ञानकी स्वभावस्थितिसे व्यक्त होता है ऐसे इन दोनोंके स्वभपको कहते हैं। उनमें इस केवली भगवानके ज्ञानमें अतीन्द्रिय ज्ञानका परिणमन होनेके कारण सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है। स्वभावको देखो, ज्ञानका स्वभाव क्या है? ज्ञानका स्वभाव जानना है। यद्यपि वह अंदर पूर्ण रूपसे व्यक्त हो और उसे आवरण डाके ऐसा नहीं है किन्तु उस आवरणके दूर होते ही वह ज्ञान पूर्णतया व्यक्तिमें प्रकट हो जाता। कहीं ऐसा अपूर्ण अवस्थामें भी नहीं है कि कर्मज्ञान

गुणको जड़ बनाये रखता हो। यह तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है जिससे ऐसा ही होता है कि आवरणके रहते हुए ज्ञान उस अपने कालमें अपूर्ण रहता। आवरणके रहते हुए भी जो विकास थोड़े थोड़े मालूम होते हैं वह ज्ञानके स्वभावसे प्रकट होते हैं। जहाँ पूर्ण आवरण दूर हो जाय वहाँ ज्ञानका पूर्ण विकास अपने ही स्वभावसे प्रकट हो जाता है। इस तरह यह ज्ञान स्वभावमय आत्मा अनादि अनंत अखंड जिसका किसी अन्य आत्मा व परमाणु मात्र भी अन्य पदार्थोंसे परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं, पूर्ण स्वतन्त्र है। क्योंकि सर्व पदार्थ स्वतंत्र अपनी पर्यायसे अपने स्वरूपको भोग रहे हैं, अपनी ही परिणतिको भोगते इसलिये सर्व पदार्थ हैं।

ज्ञानकी स्वयंभुता—इस वस्तुनियमके अकाट्य प्राकृतिक स्वतःसिद्ध व्यवस्थानके हेतु इस ज्ञानमय आत्माको ज्ञान और सुख मिलता ऐसा सोचना ही भ्रम है। ऐसे सोचने वालोंके लक्ष्यका उपलक्षण कर "जिनकी उपस्थितिमें यह आत्मा निज भावकी दृष्टिसे दूर होकर विभावपरिणमन करता है और दुःखी होता है, उनसे सुख दुःख हुआ, ऐसा कहा जाता है। भ्रमको त्यागकर अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावको कारणरूपसे उपादान कर जो परम-काष्ठा प्राप्त ज्ञान परिणति होती है वहाँ सर्व प्रकार निर्विकल्प दशा होती है। वहाँ अतीन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रियसुख होता है, जिस अतीन्द्रिय केवलज्ञानके विषयमें जो कि स्वभावतः प्रत्यक्ष है तीन लोक व तीन कालकी समस्त द्रव्यगुणपर्यायमें प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहाँ केवलज्ञान का संयुक्त प्रयोग हो वहाँ केवलज्ञानका अर्थ ज्ञान गुणकी केवल अवस्थाकी तरंग—व्यक्ति है। वह केवलज्ञान कितना व्यापक है और कितना शक्तिमान् है? अब इसे बताते हैं।

केवलज्ञानकी असीमित शक्ति—एक अधिक उत्कृष्ट युक्तानंतकी संख्याको उतनी ही बार रखकर अर्थात् एकाधिक उत्कृष्ट युक्तानंतका विरलन उसे कहते हैं जैसे २० के विरलन करके गुणा करना है तो १० बार १०—१० परस्पर गुणा करते जाना, इसी तरह अनंतका विरलन करके परस्परमें गुणा करते जाना, अन्तमें जो लब्ध हो फिर उसका विरलन कर गुणा करना, उसका भी अन्तिम लब्ध है उसका विरलन कर गुणा करना इस प्रकार तीन बार उस अनंतका विरलन गुणित होनेके बाद जो लब्ध हुआ उसमें सिद्धोंकी संख्या, निगोदोंकी संख्या, वनस्पतिको संख्या, अनंत गुणे पुद्गलोंकी संख्या, उससे अनंतगुणे समयोंकी संख्या इन सबको मिलाकर जो राशि बने उसका फिर ३ बार उपर्युक्तशैलीसे विरलन गुणित करना, अंतमें जो लब्ध हुआ उसमें धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यका व अगुरुलघुगुणके अविभाग प्रतिच्छेद मिलाना। जो राशि लब्ध हो उसे फिर ३ बार विरलन गुणित करना, फिर उस विशाल अनंतराशिको केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें से घटाकर जो लब्ध हो उस लब्धमें उस प्रकृत अनंतराशि को मिला देवे। जो लब्ध हुआ, इतने अनंतानंत केवलज्ञानके शक्त्यंश है इतना तो शक्तिमान् है

और जो भी सत् है उस सबका विषयी होनेसे सर्वव्यापक है। शक्त्यंश बतलाने के लिये ऐसा इसलिये किया गया कि उस सारीकी सारी संख्यासे इतने अनंतानंत गुणित केवलज्ञानके शक्त्यंश है कि उसके बतानेका उपाय यही मात्र था कि जो वह विशाल संख्या है उसे केवल ज्ञानशक्त्यंशोंमें से घटा कर उसमें उन्हींको मिलाकर कह दिया जावे। जैसे—५ संख्या है उसे २० में से घटाया १५ हुए, अब १५ में ५ मिला दो २० के ही २० हो गये। यहाँ २० का मोटा दृष्टान्त केवलज्ञानके लिये समझलो और ५ का दृष्टान्त उस संख्याके लिये है जो अनंत संख्याको ६ बार विरलन गुणन और कितने ही मिलन करके जो लब्ध हुई है। इतने सब अंशोंको केवलज्ञान शक्त्यंशोंमें से घटाओ और फिर वही जोड़ दो, अपने केवलज्ञानकी शक्त्यंशोंकी संख्या पूरी होगी।

ज्ञानकी सर्वव्यापकता—ज्ञान सुखके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या इतनी विशाल अमित होती है जिस कारण हम ज्ञानको मात्र क्षेत्रसे व्यापक नहीं कह सकते कि केवलज्ञान लोकाकाशमें या सर्व आकाशमें व्यापकर रहता है इसलिये ज्ञान व्यापक है क्योंकि यदि विशुद्ध ज्ञानको इतना ही व्यापक माना जावे, वह केवलज्ञानको इतना ही व्यापक माना जावे तो वह केवलज्ञान आकाशके बराबर ही रहा परन्तु इतना ही नहीं है, केवलज्ञान समुदायसे भी अनंत गुणा है, इससे बड़ा कुछ अन्य है नहीं। इसलिये केवलज्ञानको क्षेत्रकी अपेक्षा व्यापक न जानना। केवल क्षेत्रके भीतर व्यापक माना तो जितना आकाश है उतना ही रहा किन्तु वह तो त्रिलोकव्यापकके अतिरिक्त त्रिकालव्यापक भी है और शक्त्यंश इनसे अतिरिक्त है। देखो भैया! लोकाकाश उसे कहते हैं जहां छहों द्रव्य पाये जावें। अब यहां विचारो केवलज्ञान वहाँ ही व्यापक नहीं, वह तो लोकाकाशके बाहर भी व्यापक हो गया। अहो क्या किया? क्या जैन सिद्धान्तकी मर्यादा तोड़ दी? नहीं। यहां प्रश्न हो सकता है कि आगममें तो यह कहा है कि जहां मात्र आकाश ही पाया जावे और कोई तत्त्व न पाया जावे वह आलोकाकाश है किन्तु तुमने तो यहां ज्ञानको आलोकाकाशमें भी व्यापक बताया तब विरोध ही तो रहा। समाधान—देखो इस वर्णनको ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिसे देखें प्रदेशवत्त्वके संयोगसे नहीं, तो समझमें आयगा कि यह निर्मल केवलज्ञान लोकाकाशमें ही व्यापक नहीं, अलोकाकाशमें भी है। इतना भी नहीं किन्तु वह केवलज्ञान तो जितने द्रव्य हैं उनमें व उनके अनंत गुणोंमें व उनकी त्रैकालिक अनंत पर्यायोंमें व्यापक है। आलोकाकाशमें जितने प्रदेश हैं उनकी अनादि अनंतपर्याय हैं उनमें भी केवलज्ञान व्यापक है।

ज्ञानकी सर्वव्यापकताका विवरण—इसका विवरण इस प्रकारसे समझिये—किसी वस्तुकी परीक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ४ दृष्टियोंसे होती है, तब यहां द्रव्यसे परीक्षा करें तो वह गुणपर्यायके पिण्डरूपमें पिण्ड अधिष्ठान रूपमें ज्ञानकी परीक्षा है। ज्ञानपर्यायके अधिष्ठान

पिण्डरूपमें बात ऐसी ही है कि वह "लोकाकाशके अन्दर ही समस्त द्रव्य पाये जाते हैं, इस नियमके अनुसार वह ज्ञानपिंड लोकाकाशमें ही पाया जा सकता है, इतना भी कदाचित्। सर्वदा तो यह तेज प्रमाण निजक्षेत्रमें ही पाया जाता है। इसी तरह क्षेत्रकालकी अपेक्षा भी संकीर्णता है, परन्तु इस शुद्ध आत्माको जब चैतन्य-ज्ञान, दर्शन, भावकी दृष्टिसे देखते हैं, ज्ञान के भावकी दृष्टिसे देखते हैं तो यह ज्ञान इतना बड़ा है कि समस्त लोकाकाश और समस्त द्रव्य गुणपर्याय सर्वमें गत है इसलिये इसको व्यापक कहा है। इसे मात्र ज्ञानस्वरूपसे न देखकर विस्तृत जाननेके प्रसंगमें जहां इस ज्ञानको प्रदेशके साथ जोड़ोगे "जहां कि यह दृष्टि बनानी पड़ेगी कि ज्ञान एक गुण है, गुणद्रव्यके अन्दर ही रहता, द्रव्यके प्रदेश ही गुणका आधार है," तब यह ज्ञान गुणद्रव्यमें प्रकट होकर ऐसे स्वरूपको रखे रहता है ऐसे स्वभावमें विकसित हो रहा है कि जो समस्त लोकालोकके सर्व द्रव्य गुणपर्यायके ज्ञानरूप बना रहता है। जहां प्रदेश और ज्ञानकी संधि करके बात कहोगे वहां पर ऐसी दृष्टि आवेगी। प्रदेश व ज्ञानकी संधि बिना ज्ञानस्वलक्षणका विचार करें, वहां सर्वव्यापकताकी ही बात है, बाधा कोई नहीं आती, केवल विवक्षाका ही इसमें भेद है।

ज्ञानकी प्रत्यक्षताका विभावन—अब ऐसा जो केवली है—जो अनन्तज्ञानमय परिणमता है उसके समस्त जगत प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकारसे विभावयति याने आचार्य श्री हुवाते हैं—कहते हैं—उसके अपने अन्दर अपनी प्रेरणापूर्वक धारणा करते हैं। यह विभावयति का रहस्य है इसकी बात लग रही है कि ज्ञानके शुद्धस्वरूपको उसमें गर्भित सुखके शुद्धस्वरूप को अभी धारण करते हैं। इसी तरह अभिदधातिको सामान्यतया कहते हैं ऐसा अर्थ होता है किन्तु इन शब्दोंके टुकड़े कर विचारनेसे क्या अर्थ होता है—दधाति याने धारण करता है व अभिदधाति याने सर्वांगमें धारण करता है अर्थात् आचार्य श्री ज्ञानके स्वरूपके व सुखके स्वरूप के विस्तारको युगपत् होते हुये भी कारणकार्यविधिके कारण कालकी अपेक्षा बताने में व बतानेकी अपेक्षा व्यवहारमें क्रमसे सर्वांगमें धारण कर रहे हैं। ज्ञानके स्वरूपको व सुखके स्वरूपको कहते हैं। इसमें इस रहस्यमय आनन्दका वर्णन है कि ज्ञानके स्वरूपको व सुखके स्वरूपको दृष्टिमें धारण कर रहे हैं और कहते हैं—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

ज्ञानकी सर्वज्ञताका सन्देश—इसमें उस केवलज्ञानीका जो ज्ञान है वह अतीन्द्रियज्ञानमय परिणमता है इसी लिये सर्व एक साथ जानता है ऐसी बात कही है। शुद्ध आत्मामें परिणमता हुआ जो ज्ञान है केवली भगवान है, शुद्ध ज्ञानमें परिणमता हुआ जो केवली भगवान् है उसके समस्त द्रव्य समस्त पर्याय प्रत्यक्ष हो जाते हैं क्योंकि केवली अवग्रह आदि

क्रियावोके द्वारा नहीं जानता है वह तो इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही जानता है, अतः क्रम रहित सर्वको प्रत्यक्ष अपने शुद्ध स्वरूपसे करता ही है, अतः एव वह स्वयंभू है। अर्थात् जैसे हमारा वर्तमान ज्ञान उत्पन्न होता है तो पहिले अवग्रह होता है, इसके अनन्तर ईहा होता है, इसके बाद अवाय और तत्पश्चात् धारणा होती है, ऐसे केवली भगवानका ज्ञान नहीं होता। हम जिस पदार्थको देखते हैं देखते ही उसका पहिले कुछ सामान्य बोध होता है। सामान्य बोध के पश्चात् कुछ विशेष बोधमें प्रयत्न होता है। विशेषबोधके कार्यात्मक प्रयत्नके बाद फिर निश्चय होता है। हमारे ज्ञानकी ऐसी ही परिचित वस्तुवोंको भी इस ही शैलीसे जानते हैं, वहाँ अवग्रहादि किस शीघ्रतासे हो गये, हम उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं। हमें ज्ञानसे ही दिखते ही ऐसा लगता है कि हमने इसे एकदम ही तो जान लिया किन्तु बात ऐसी नहीं है कि किसी पदार्थको देखते ही हमें अवाय हो जाय। वहाँ अवग्रह ईहा अवाय धारणका इतना कम अन्तर पड़ता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि हमने एकको या अनेकको एकदम स्पष्ट जान ही लिया। हाँ तो जैसे छद्मस्थ अवग्रहादिपूर्वक जानता है, इस तरह भगवानका ज्ञान नहीं होता। उनके ज्ञानमें प्रतिसमय त्रिलोक व त्रिकालका सर्वद्रव्य गुण पर्याय हुआ करता है।

प्रत्यक्षज्ञानमें विकल्पका अभाव—सर्वज्ञका ज्ञान सविकल्प नहीं है, हम उसके ज्ञानको अपने विकल्पकी सदृशता लेकर सोचना चाहें तब यह संशय होता है कि केवली भगवान कैसे जानता है? यदि इसका अपनी भाषामें उत्तर दिया जावे तो यह कह लो कि नहीं जानता है परन्तु है ज्ञानस्वभाव तो इसका सही उत्तर यह है कि सबको जानता है। जिन विकल्पों से हम सर्वज्ञके ज्ञानको सोचते हैं—"कुछ भी नहीं जानते हैं"। हमारी दृष्टिमें जैसा विकल्पों को, उन भावोंको पर्यायोंको जानना होता है उस दृष्टिसे तो वह एक भी द्रव्यको नहीं जानता है परन्तु वह तो समस्त ३ लोक ३ कालके पदार्थोंको निर्विकल्पतया जानता है। कैसा विलक्षण परमात्माका ज्ञान है? और तो जाने दो, हम भी जो कुछ जानते हैं जान तो जाते हैं फिर भी उस ज्ञानको हम ही नहीं बता सकते—कैसे चीजोंको देखा जाता, उसके विषयमें क्या बात कही जावे? बड़े भी उसका वर्णन करने बैठें तो भी वे क्या हमें प्रत्यक्ष कर देवेंगे। केवली भगवान्का जो ज्ञान व सुख है उसका कुछ भी विशद वर्णन हम नहीं कर सकते, क्यों कि उसने उस पदार्थको परमशुद्धिसे परिणत होकर नहीं जाना और जो जानते हैं वे बातचीत भी नहीं करते। यह सब तो उस मार्गके नेतावोंने बताया जो हम अपने अनुभवके आधार पर भी उसका तथ्य बोध करते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानकी बात तो दूर है, जो इन्द्रियजज्ञान है जो कि विकल्पात्मक है उसके विषयमें ज्ञानका प्रकट निर्णय नहीं कर सकते। इसके सर्वांगरूपके ज्ञानको आपने विकल्पसे बतलाया। कैसे जानते हैं यह नहीं कहा जायगा।

ज्ञानका सहज प्रसार—यहां ज्ञानके स्वभावको तो देखो ज्ञानस्वभाव ऐसा है कि

समस्त द्रव्यगुण पर्यायको यह ज्ञान जानता है, जाननेका इसका स्वभाव है, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं जो केवलीके असीम ज्ञानको रोक रखे अथवा जो ज्ञानमें ऐसा भेद कर पाये कि वह अपने को ही जाने, परको नहीं जाने। तात्पर्य केवलज्ञानकी बाधिका अब कोई ऐसी शक्ति नहीं जो विरुद्ध निमित्त बना सकें। अतः वह ज्ञान अपने स्वभावसे समस्त द्रव्य गुण पर्यायको जानता है। इसमें भूतकाल व भविष्यकालके भी जाननेकी असीम शक्ति है। थोड़े भविष्यकी बातको तो हम लोग भी जानते हैं। जैसा जानते हैं वह चाहे सच न निकले परन्तु भविष्यको जाननेकी जैसी हालत तो आपके अन्दर है। निमित्तज्ञानी अवधिज्ञानी आदि महापुरुष तो जानते ही हैं फिर केवलीके ही भविष्यज्ञानमें क्या शंका करना ? हमारा वह भविष्यके जानने का ज्ञान यदि सच्चा नहीं निकलता तो उसका कारण आवरण कर्म है परन्तु केवलीके तो आवरण नहीं। और देखो हम आप कुछ भूतकालकी बातोंको तो स्पष्ट जान ही लेते हैं। भूत वर्तमान भविष्यकी बातको जाननेका स्वभाव ज्ञानमें स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार यह ही बात युक्तियुक्त भी है कि जिस आत्मामें कोई आवरण नहीं रहा, बंधन नहीं रहा, इन्द्रिय नहीं रही, कषाय नहीं रहा, कर्म नहीं रहा उसे आत्माका ज्ञान इतना व्यापक होता है कि वह तीन लोक तीन कालकी बातोंको स्पष्ट जानता है, अलोकको भी जानता है। समस्त आवरणके क्षय होते ही अनादि अनन्त अहेतुक जो स्वभाव है इस ज्ञानको ही कारण बनाकर यह ज्ञान ही कारण बनकर इस स्वभावके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्म स्वयं परिणमता है, यह केवली होनेका सर्व व्यवसाय है।

कारणसमयसारके आलम्बनकी श्रेयता—देखो भैया ! ज्ञान स्वभावका जो केवल ज्ञान है यह परमपारिणामिक भाव है जिसको कारण रूपसे उपादान करके अंतरात्मा केवल ज्ञानोपयोगी बन गया अर्थात् आत्माके अन्दर ही अनादि अनंत अहेतुक जो ज्ञानसामान्यस्वभाव है वह परमपारिणामिकभाव–कारणसमयसार ही कल्याणका मूल आधार व स्रोत है। वह चैतन्यभाव जो निगोदमें भी उस एकरूप एक रससे रहा और मुक्त होने पर भी एकरससे रहता रहा। यह किसकी चर्चा चल रही है। सामान्य कहते किसे हैं ? देखो जैसे इतने मनुष्य बैठे हैं सबमें मनुष्यपन है, मनुष्यपना सबमें सामान्य भावसे है। यह १० डिगरीका मनुष्य है, यह २० डिगरीका मनुष्य है इस किसी भी प्रकार मनुष्यपनकी डिगरी नहीं होती। विकासमें पर्यायमें डिगरियां हैं। जैसे यह इतनी डिगरीका ज्ञानी है यह इतनी डिगरीका गुणी है यह इतनी डिगरीका बहुमान्य है आदि परन्तु उनमें मनुष्यपन तो सम ही है। इसको कहते हैं सामान्यभाव। यह तो तिर्यक् सामान्यका उदाहरण है।

कारणसमयसारका ऊर्ध्वतासामान्यमें दर्शन—आत्माके ज्ञानस्वभावकी बात ऊर्ध्वता सामान्यके उदाहरणसे देखें--जैसे एक मनुष्य बालक था, वही जवान हुआ, वही बूढ़ा है, यहां

बालक जवान बूढ़ा ये सब अवस्थायें हैं। इनमें जो जैसा मनुष्यपन एक अवस्थामें है वही वैसा मनुष्यपन सब अवस्थाओंमें है, फिर मनुष्यपन किसी एक अवस्थारूप नहीं है। यहां मनुष्यत्व सामान्य है। इसी तरह समस्त ज्ञानोपयोगोंमें ज्ञानसामान्य वही वैसा ध्रुव—सदा रहता है। वह ज्ञानोपयोग सामान्यसे उठकर चल रहा है। आत्माकी इन शुद्ध अशुद्ध सब कुछ पर्यायोंके अन्दर अन्य रूपको पाने वाला एक चैतन्यसामान्य भाव है वह अनादि है, अनंत है, अहेतुक है ऐसा जो ज्ञान स्वभाव है इस ज्ञान स्वभावको ही कारण करके, करण करके, कार्य करके अर्थात् इस ज्ञानका ही लक्ष्य बनाकर इसको ही प्रतिष्ठित करके इसमें ही स्थिर हो करके इस ज्ञानस्वभावके ऊपर प्रवेश किया, जो केवलज्ञान उस उपयोगरूप होकर आत्मा स्वयं परिणमता है। केवलज्ञान केवलज्ञानपर्यायरूप है, प्रतिसमय नवीन नवीन पर्यायरूप है। ज्ञानकी शुद्ध तरंग का नाम केवलज्ञान है। केवलज्ञान पर्याय एक परिणमन है। उसके पहिले भी यह ज्ञानस्वभाव था। इसलिये उसके ऊपर केवल ज्ञानोपयोगका प्रवेश बतलाया। इस ज्ञानस्वभावको कारण पाकर प्रविष्ट हुआ केवलज्ञान कैसे आया ? केवलज्ञानको उपयोगरूप बनाकर वह शुद्ध आत्मा ऐसा ही परिणम गया।

केवलज्ञानप्राप्तिके उपायका संकेत—देखो भैया ! इस रहस्यके अन्दर सारा मोक्षमार्ग आ गया कि हे मोक्षमार्गी जीवो ! कल्याणाभिलाषियोंको केवलज्ञान पानेका मोक्ष पानेका एक यही उपाय है और कोई उपाय नहीं है। क्या उपाय है ? अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभाव को कारणरूपसे ग्रहण करके···(यह हाथके द्वारा गृहीत नहीं, क्रियाके द्वारा नहीं, कायक्लेशके द्वारा गृहीत नहीं, यह एक लक्ष्यके द्वारा ही गृहीत होता है) हाँ अपने आपमें रहने वाले अनादि अनंत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावको ग्रहण करके उसमें ही स्थिर हो करके विश्राम करो। इस उपायसे निश्चयसे अन्दर निर्मल ज्ञानपर्यायका प्रवेश होगा। पहिले निर्मल अपूर्ण ज्ञानकी पर्यायका परिणमन होगा, वह निर्मल इतना बढ़ेगा कि सम्पूर्ण ज्ञानोपयोग होकर परिणम जायगा। यह मोक्षमार्ग है। अनंतर भी अनंत काल तक सदृश ही स्वभाविक केवलज्ञान रूप निर्मलपर्याय प्रकट होती रहती है। अहो मोक्षमार्ग कितना सहज है, इसमें तो परवस्तुकी प्रतीक्षा ही नहीं करना पड़ी, मात्र अपने बिखरे हुए चुटपुट ज्ञानोंको केन्द्रित करके एक लक्ष्य पर रखना ही किया गया।

ज्ञानमग्नताका प्रताप—जैसे—आतसीका काम होता है जो कि जला देता है—सूर्य के सामने रखने पर सूर्यकी किरणोंके केन्द्रित होने पर अर्थात् सूर्यको निमित्तमात्र पाकर किरणपंक्तिरूपमें परिणम जाने वाले छोटे छोटे स्कंधराशियोंके केन्द्रित होने पर तप उत्पन्न होता है। एक दिन कहा था कि सूर्यकी ये किरणें नहीं हैं, सूर्य तो मात्र इतना ही है जितना कि उसका पिण्ड है। उसके बाहर उसकी कोई किरणें नहीं निकलतीं, किन्तु सूर्यका निमित्त

पाकर जैसे यहाँके पदार्थ अन्धेरे अवस्थाको छोड़कर प्रकाश अवस्थामें आये वैसे ही आकाशमें फैले हुए छोटे-छोटे स्कंध भी सूर्यका निमित्त पाकर प्रकाश अवस्थामें आये। उन्हें जब हम सूर्य के सन्मुख देखते हैं तो सूर्य और आंख इन दोनोंके बीच रहने वाली स्कंधोंकी पंक्तियाँ जो दीखती हैं उन्हें ही किरणों शब्दोंसे कहा गया है। खपरैल छप्पर वाले जो घर हैं उनमें कहीं छिद्र हो तो उस छिद्रमें से प्रकाशित स्कंध चलते हुएसे नजर आते हैं। यह प्रकाशित वहाँ सीमित है इस कारणसे खपरैलमें प्रकट नजर आता परंतु आसमानमें बिल्कुल फैला हुआ क्षेत्र है। इस कारण हमको उड़ते हुए नजर नहीं आते किन्तु पंक्ति किरणरूपमें नजर आते हैं, यह बतलाया वस्तु स्वरूपका नियम। कोई वस्तु किसी वस्तुको कुछ नहीं परिणमाता। सूर्यने इन पदार्थोंको प्रकाशित नहीं किया, सूर्यका निमित्त पाकर ये पदार्थ स्वयं प्रकाशित हो गये। हाँ तो जैसे आधासीसी काचमें किरणोंके केन्द्रित होनेपर यहाँ भी क्या हुआ ? वस्तुतः कांचकी ही तरंग वैसी केन्द्रित हो गई जैसे पर किरणें केन्द्रित हुईं। इसका अर्थ यही है कि कांचकी ही वैसी ही वैसी बात एक लक्ष्यरूप हुई, इसके प्रतिफल स्वरूप उसका कार्य ज्वलन हो जाता है। इसी तरहसे इस आत्मामें जो ये प्रकट ज्ञान हैं इन ज्ञानोंको केन्द्रित कर दिया जावे—फैले हुए जो अनेक पदार्थ विषयक ज्ञान हैं उन्हें केन्द्रित कर दिया जावे अर्थात् पर-लक्ष्यको छोड़कर एक निज ज्ञानको लक्ष्यीभूत रखा जावे। यही पर-लक्ष्यका त्याग है। इस तरह अंतरात्माका जब लक्ष्य एक हो जाता है अर्थात् बाह्य अर्थोंपर लक्ष्य न देकर एक चैतन्यभावपर ही लक्ष्य हो जाता है तो इस अनादि अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावके लक्ष्य होनेपर रत्नत्रयमें निर्मलता अपने आप आती ही है और यही काम केवलज्ञानरूप शुद्धपर्यायको प्रकट कर देता है क्योंकि जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि हो जाती है।

शाश्वतस्वरूपके लक्ष्यसे निर्मलपर्यायका अभ्युदय—निर्मल ध्रुवके लक्ष्यसे निर्मल पर्याय प्रकट होती है। लोग कहते हैं धर्म करो, धर्म क्या कोई रूपी चीज है जिसे यों बताया जाय, आकार बना दिया जाय या कुछ कर दिया जावे, तो लो, कह सकें कि इसने धर्म कर दिया। धर्म बाह्यमें तो रहता नहीं, मेरा धर्म मेरा ही स्वभाव है, अन्य सर्वका नहीं, जो सर्व को जिसका कि धर्म कहलाया अमुक तरहसे हाथ लगा लिया तो धर्म हो गया या अमुक तरह से लड़ गये तो धर्म हो गया या अमुक तरहसे खड़े हो गये तो धर्म हो गया आदि धर्म किसी परका स्वभाव नहीं है जो सर्वकी क्रियामें हम धर्म पा लें। धर्म राग द्वेषादि भाव तो है नहीं जो शिथिलसे शिथिल द्वेषको करके या बढ़े से बड़ा अच्छा राग करके हम धर्मभावको पा सकें। फिर धर्म क्या चीज है ? धर्म है निर्विकार निर्विकल्प शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन। प्रारंभमें चैतन्यभावका लक्ष्य रखना धर्म है। इस चैतन्यभाव रूप ही रहना रत्नत्रयकी पूर्णता है। वह निर्मलता वहाँ अपने आप प्रकट हो जाती है। इस ज्ञानसामान्यका लक्ष्य

ज्ञानमें हो गया तो चारित्रमोहके विपाकको निमित्तमात्र पाकर होने वाला भगवान्के ज्ञानका स्तवन वर्णन अनुराग वंदन आदि सब शुभोपयोग हैं। जिसके अवलोकन कर चुकनेपर चरित्र मोहोदयवश शुद्धात्मविषयक शुभोपयोग होता है वह अंतरंग भाव धर्म है और मिश्र प्रेरणा-वश जो यह कार्य हो गया वह व्यवहार धर्म है। यह धर्मके स्वरूपकी आलोचना हो रही है। एक बार कुछ सर्व मूर्च्छाको दूर कर निजज्ञानस्वभावके वस्तुके निरपेक्ष सामान्यस्वभावके यदि दर्शन करले तो उस निरपेक्ष सामान्यके दर्शनके पश्चात् जितने शुभोपयोगके काम हैं वे एक अंकपर लग गये और उसकी भीतरी कीमत बढ़ती जावेगी और एक चैतन्य प्रभुका दर्शन न होवे तो भाई भगवान्का उपदेश है कि उस एकके श्रद्धान बिना वह कोमत तो नहीं रख सकनेका है उल्टा संसार ही चलता है।

स्वतत्त्वके आलम्बनसे वृत्तिकी यर्थार्थता—एक अंक पहले आने पर ही शून्यकी कीमत होगी। चाहे ऐसी शून्य कितने ही करते चले जावें परन्तु एक तत्त्वको लेकर न चले तो उन शून्योंकी कीमत शून्य ही रहेगी। एक बार अपने आपको उत्साहित करके जिस धर्मके दर्शनके बिना दुखी होना पड़ा रहता है उसे सर्व अन्तरंग प्रयत्न करके देख तो लो। जगतके वस्तुके अस्थिर स्वरूपके ज्ञानके पश्चात् रागद्वेषमोहकी शिथिलता होनेके कारणभूत उस ज्ञान-स्वभावका अनुभव प्रकट होगा। वस्तुके अंतरंग स्वरूपको देखो बाह्य अस्थिरताका भी ज्ञान सरल होता। केवल बाह्य स्वरूपको देखकर ही उसके विषयमें पूर्ण निर्णय करके सत्य आत्मीय बुद्धि स्पष्ट न आवेगी। भगवानकी मूर्तिके आगे पूजा ही पढ़कर उनके गुणोंका स्मरण कर इन कार्योंके रहते हुए भी यदि हमारे अनादि अनन्त चैतन्यभगवानका दर्शन न हो तो हम टोटेमें ही रहेंगे। कोई व्यवहारपदवीमें व्यवहारके निषेधकी बात नहीं कही। वहां रहकर भी निश्चयस्वरूपकी दृष्टि दृढ़ बन जाय इसका प्रयास रहे। पूजनमें मूर्तिके समक्ष भगवानके गुणों का स्मरण कर रहे हो, वहाँ अपने अनादि अनन्त अहेतुकभावका लक्ष्य करते जावो, जितना भी बन सके उसकी ही दृष्टि लगाते जावो। क्या यह पूजा नहीं कहलावेगी ? यह तो भगवान के रहस्यकी बात पाने वाले की उत्तम पूजा होगी। यह व्यवहार धर्म तो तीर्थकी रक्षाके लिये है। व्यवहारसे निश्चय नहीं मिलता, ऐसी बात सुनकर व्यवहारमें आवे ही नहीं या व्यवहार आवे ही नहीं, इसका यह मतलब नहीं। तथा यद्यपि यह ठीक है कि व्यवहारधर्म तीर्थका रक्षक हैं उसे वहाँ करना चाहिये किन्तु धर्म तो निश्चयसे अपने अंतरंगसे प्रगट होता है। अनादि अनन्त अहेतुकज्ञान स्वभावका अवलंबन ही सर्व कल्याणका मूल है। इसके अन्दर बड़ा रहस्य भरा पड़ा है। समस्त मोक्षमार्गको यहीं बतला दिया है। तुमको सुखी होनेके लिये क्या करना है ? यह इस पंक्तिने बतला दिया "समस्तावरणक्षय क्षण एवानाद्यनंताहेतु-कासाधारणज्ञानस्वभावकारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविशत्केवलज्ञानोपयोगीभूय स्वयमेवात्मा

विपरिणमते" यह किसी अन्यकी तो कोई बात नहीं है, इस शुद्धतामें रहकर तत्त्वकी साधना करो, आपकी ही यह बात है।

परमतत्त्वकी भक्ति--परमात्मा तो शुद्ध हो गये, मात्र उनके गीतसे क्या ? व्यवहारमें हैं तो क्या करें ? वहाँ रहकर भी निश्चयकी साधना करो, दृढतासे स्वमें रहकर निश्चयकी साधना करो। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो ज्ञानस्वभावका लक्ष्य करो। यह तेरा पद है, यहाँ दृष्टि रख, इसका जानना ही तेरा मित्र है, रक्षक है। जगतके और कोई पदार्थ तेरे रक्षक नहीं हो सकते। करोड़ोंकी सम्पदा, पुत्र पिता स्त्री मित्र यह सब कोई तेरे रक्षक नहीं हो सकते, सुखके कारण ही हो न सकते। तेरे अनुपम सहज सुखका कारण निज चैतन्य भगवानका दर्शन ही है। सब ओरसे लक्ष्य हटाकर—जहाँ जहाँ दिमाग पहुंचा हो उन उनको सबको दूर कर अपने आपमें ज्ञानसामान्य स्वभावके लक्ष्यका प्रवाह उस स्वभावमें उपयोगी रहें तो निर्मल परिणाम आ आकर केवलज्ञानके रूपमें बना देगा।

विशुद्ध चैतन्यपरिणमन—केवलज्ञान ज्ञानकी परम स्वच्छ तरंग है यह अत्यंत स्वतंत्र परापेक्षारहित प्रभुकी महिमा है। केवली भगवान इंन्द्रियोंका भी सहारा लेकर नहीं जानते। जो इन्द्रियोंका सहारा लेकर जानता है उसके ज्ञानके विकासमें फर्क पड़ जाता है। पहिले अवग्रह फिर ईहा फिर अवाय पुनः धारणा। छोटीसे छोटी परिचित वस्तुके भी जहाँ सामने देखा कि क्रमशः अवग्रह ईहा अवाय धारणा उसके इन्द्रियज ज्ञानके होती है। एक अपरिईथ तक देखो तो वहाँ अवग्रह ईहा अवाय धारणाका स्वरूप स्पष्ट समझमें आता। सामनेसे कोई आदमी आ रहा····पहिले तो यह सोचा कि आदमी है, फिर यह सोचा कि यह तो दक्षिण देशका है परन्तु उसमें अभी पूर्ण निश्चय नहीं और न अभी कोई संशय है। जानने पर विशेष प्रयत्नशील हुआ। उसमें यह बोध आया कि यह दक्षिण देशका है। इस ही का निश्चय पूर्ण हुआ, यह अवाय है फिर उसे न भूले यह धारणा है। यहां अपरिचितमें अवग्रह ईहा अवाय धारणाका वर्तन स्पष्ट समझमें आता, परन्तु परिचितमें समझमें नहीं आता कि कब अवग्रह हुआ, और कब ईहा अवाय धारणा हुए, फिर भी वहां क्रम है। ये इन्द्रियां हमारे ज्ञानमें क्रम डाल देती है। परन्तु जिनके इन्द्रियाँ नहीं हैं इन्द्रियोंके कारणभूत भावेन्द्रियां भी जिनके नहीं रहीं अर्थात् जिनके केवलज्ञानावरणका अभाव हो गया ऐसे परम आत्माके केवलज्ञान प्रकट हो जाता है तो वह किस ढंगसे होता है, उसके सम्बन्धमें केवलज्ञानके कार्यका यह एक अलौकिक चित्रण किया गया है कि अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावको (यहां ज्ञानस्वभावको गुण समझना या सामान्य तत्त्व समझना) ग्रहण करके (यहां उपादान शब्द दिया है जिसे उपादान शब्द बनता है, यह उपादान निमित्त केप्रसंगमें भी प्रयुक्त होता है) उस चैतन्यभाव को कारणरूपसे उपादान करके उस स्वभावके ऊपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञानरूप उपयोगी

होकर आत्मा स्वयं शुद्धपरिणम जाता है। चैतन्यस्वभाव—ज्ञानस्वभावके ऊपर केवल ज्ञानोपयोगरूप होकर आत्मा परिणमता है अर्थात् इस शुद्धपर्यायमें ज्ञानमात्र भी चल रहा है और केवलज्ञान भी चल रहा है, ऐसा बुद्धिमें आनेकी बात है। वस्तुतः वहाँ दो पर्यायज्ञान नहीं है।

स्वभावविकासमें भी स्वभावका सत् भाव—यहाँ उपरि शब्द डालनेसे यह रहस्य अवगत हुआ कि केवलज्ञान हो जानेके बाद सर्वज्ञके ज्ञानमात्र खतम नहीं हो जाता। जो बात सामान्य स्वभाव पहिले कारणसमयसार नामसे व्यवहृत होता था वह ज्ञानमात्र यहां खतम नहीं हो जाता। 'ज्ञानस्वभावके ऊपर' ऐसा कहनेसे पुद्गलकी तरह—स्कंधकी तरह उसको नहीं समझना कि ज्ञानमात्र तो ऐसा नीचे है और उसके ऊपर केवलज्ञान शुद्ध तरंग आई क्योंकि स्कंधमें अनेक द्रव्य हैं परन्तु यहां तो एक वह ही है। ज्ञानस्वभावकी जो शुद्ध तरंग है वह केवलज्ञान है। तरंग तो अनादि सांत होती, कोई सादि शान्त होती, शुद्धात्माकी वह तरंग सादि अनंत होती। वर्णन प्रवाहकी अपेक्षा है। एक एक क्षणकी दृष्टिमें तो सब तरंग सादि सान्त एक क्षणस्थायी हैं। वह शुद्ध तरंग आई तो वह पर्याय रही, वह पर्याय किस आधारमें आई या है जिसके आधारमें वह पर्याय चल रही है उसे कहते हैं ज्ञानस्वभाव। यह ज्ञानस्वभाव चल रहा है और ज्ञानस्वभावका ही शुद्ध अवस्थारूप परिणाम—तरंग—केवलज्ञान भी चल रहा है। उस कालमें वहाँ उस केवलज्ञानरूप तरंगके आश्रयरूपको केवल-ज्ञानसे भिन्न लाक्षणिक ज्ञानस्वभाव कहते हैं। वहाँ स्वभावके अनुरूप ही पर्याय है, फिर भी प्रत्येक केवलज्ञानीमें उस प्रतिसमयकी सर्वज्ञताकी पर्यायोंमें अनन्यरूपसे चलने वाला जो ज्ञान स्वभाव है वह तो है ही। उस ज्ञानस्वभावका कारण रूपसे उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञानके उपयोगरूप आत्मा परिणमता है। कौन ? केवली आत्मा। इसलिये इस केवली भगवानके ज्ञानमें एक साथ समाक्रान्त कहिये आया सर्व जगत है।

प्रभुके ज्ञानमें सर्व जगतका समाक्रमण—आक्रान्तका अर्थ है आक्रमण किया हुआ और समाक्रान्तका भाव हुआ, केवलीके ज्ञानमें जगतके सभी पदार्थोंने तथा सभी शक्तियोंसे सभ्यतासे विनयसे मानो आक्रमण कर दिया अर्थात् वह सबके सब केवलीके ज्ञानमें झलकने लगे—ज्ञात हुए। इस तरहसे नहीं आये कि वे पिण्डसे आ गये हों अथवा आकर ऊधम मचा दिया हो, यही तो समका भाव है। ज्ञाता भी अपने अस्तित्वसे सुरक्षित है, सर्व अर्थ भी स्वयंमें सुरक्षित रहे फिर भी सब ज्ञानमें आये अर्थात् सर्वपदार्थोंको निमित्तमात्र करके जो ज्ञानमें ज्ञेयाकार हुआ वह समस्त विश्वके अनुरूप है। उनके ज्ञानमें तीनों लोकोंके पदार्थों का द्रव्य भी झलक रहा, क्षेत्र भी झलक रहा, भाव भी झलक रहा तो सब त्रिलोकके पदार्थों ने मानो भगवानके ज्ञानमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सबने एक साथ आक्रमण कर दिया।

लड़ाई नहीं हो रही है। यह प्रभुत्व है, सभ्यताका आक्रमण है। तत्त्वके स्वरूपको खेद न हो, भगवानके स्वरूपको धक्का न पहुंचे, प्रत्युत पूर्ण व्यक्ति पावे, ये सर्व द्रव्य गुणपर्याय ऐसी सभ्यतासे आये। कैसा अनुपम यह आक्रमण है। अर्थात् निमित्त पाकर ज्ञानमें यह सर्व ज्ञेय प्रतिबिम्बत हो गया है, इस कारण ये समस्त ज्ञानमें आलम्बन आता।

केवलज्ञानकी सर्वार्थप्रत्यक्षता—केवली भगवान् खरगोशके सींगको नहीं जानते, खरगोशके सींग ही नहीं, जाने कैसे ? परन्तु हमारे यदि अपनी कल्पनामें 'खरगोश है यह उसके ऊपर सींग लग गये' ऐसा विकल्प हुआ, तब यह तो केवली के ज्ञानमें आया ही क्योंकि यह विकल्प सत्का परिणमन है परन्तु खरगोशका सींग सत्ताका परिणमन नहीं, उसका ख्याल सत्ताका परिणमन है वह ख्याल जो कि ध्याताका परिणमन है। निष्कर्ष यह है कि जिसकी सत्ता होती है वह भगवानके सर्वज्ञपनाका आश्रयमात्र है। यह आश्रय भी ऐसा नहीं कि वर्तमानावच्छेदेन सामने हो तभी सामने रखकर ज्ञान जाने किन्तु जो है वही तो ज्ञानमें आया। पदार्थमें (पर्यायमें) सत्ताका सम्बन्ध चाहिये, वह किसी कालावच्छेदेन हो वह समस्त संवेदनके आलंबनभूत होकर वह सर्वद्रव्य गुणपर्याय केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। सर्व अर्थके प्रत्यक्ष होनेपर भी विकल्प न होने के कारण साधारण लोकोंकी दृष्टिमें प्रत्यक्ष होना ज्ञान होना न होने बराबर सा है। उनको सारा विश्व प्रत्यक्ष हो गया, इससे उनको लाभ क्या हुआ ? जितने लोग किसी चीजको जानना चाहते हैं वे किसी लाभके लिये ही तो जानना चाहते हैं, केवलीने सारा विश्व जाना वह किस लाभके लिये जाना ? नहीं, केवली ने समस्त विश्वको जाननेका प्रयत्न नहीं किया। ज्ञानकी स्ववृत्ति ही ऐसी है जो इस रूपको लिये हुए है। इसलिये किस लाभके लिये जाना यह प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो ज्ञानकी सहजवृत्ति हुई फिर भी हम अपने ख्यालसे उत्तर देवें तो यह सुनिश्चित होता है कि सर्वको जाननेपर इनका विकल्प आनेका कोई अवसर ही नहीं रहता। जो क्रमसे जानता है उसके विकल्प उठता है।

सम्यक्त्वका मूल प्रताप—जो सर्वको जानता है उनके निर्विकल्पपना—विरागत्व कायम है परन्तु यह उत्तर हमारी आदतके मेलका है, भगवानकी यह निर्विकल्पता सर्वज्ञपनाके कारण नहीं किन्तु वीतरागताके कारण है—रागद्वेष मोहके विनाशके कारण है, उनमें जो सर्वज्ञता आई वह सर्वज्ञता आती ही है। ज्ञान जब स्वच्छंद हो जाता है उस पर जब कोई आवरण नहीं रहता तब ज्ञानकी तरंग इसकी सर्वज्ञता रूप होती ही है, फिर भी निर्विकल्पता निराकुलताको सर्वज्ञता पुष्टि रखती है। यह सब किसका प्रताप है ? यह प्रताप है सम्यग्दर्शन का। यहां जो विशुद्ध ज्ञायक भावपर उपयोग लगाया, उसका लक्ष्य किया उसका यह फल है केवलज्ञान। शुद्ध अवस्थामें जो छिप गये—पहुंच गये, श्रेणियोंमें भी जो साधु चले गये वह सब यहाँके सम्यग्दर्शनका प्रताप है तथा वह भी सम्यक्दर्शनके पहिले, सम्यग्दर्शनके पहिलेके

करण परिणामका प्रताप है। तब आपने यह समझा कि अधिक मेहनत किसने की ? सो अर्हन् बननेमें सबसे अधिक मेहनत कहाँ हुई ? सबसे अधिक मेहनत सम्यग्दर्शनके पैदा होनेके समय अर्थात् करणत्रय परिणामोंमें हुई। यह लक्ष्यकी बात नहीं कर रहे हैं कि हमको लक्ष्य उन करण परिणामोंमें करना चाहिये जिनकी मेहनतसे हमें सिद्धि हुई। आदर्श तो शुद्धका स्वरूप ही रहना चाहिये क्योंकि उसका आदर्श या ज्ञान स्व-स्वरूपका आदर्श हुए बिना करण परिणाम ही होंगे कहाँसे ? परन्तु यहाँ तो कार्यकी बात बतला रहे हैं कि सबसे बडा काम उन करण परिणामोंमें रहा क्योंकि अनन्त संसारकी क्षति उन करण परिणामोंसे हुई, वे करणपरिणाम मिथ्यात्व गुणस्थानमें सातिशय मिथ्यादृष्टिके हुए। तब यह समझना कि मोक्षमार्गके लिये जो प्रथम प्रयास है वह सर्वोपरि महत्त्वका प्रयास है, आगेका प्रयास इसके समक्ष सरल है।

अन्तिम विकासका सहज परिणमन—अ आ क पढ़ने वाले शिष्यका बड़ा परिश्रम था और बी. ए. एम. ए. में पढ़ने वाले शिष्यका परिश्रम कम है। इसी प्रकार मास्टरोंके परिश्रमकी भी बात है। अभी भी बड़े बड़े विनयी जो हुए या होते हैं वे क का पढ़ने वाले मास्टरको उसी आदरसे अथवा महान् आदरसे देखते हैं जो बड़े मास्टरका होता है। यह बात पहिले कह ही चुके हैं कि आदरसे करणको लक्ष्य बतानेकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु यहां यह कह रहे हैं कि सबसे अधिक जो परिश्रम होता है वह आत्माका मोक्षमार्गमें चलनेके लिये अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंमें होता है। वह परिणाम कब पैदा होता, कैसी स्थितिमें पैदा होता ? तो भाई वह परिणाम भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञायक भावको कारण पाकर होता। सम्यग्दर्शनके बाद व्रत परिणाम कैसे होता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण पाकरके जो स्थिरता होती उसमें होता है। अच्छा ! महाव्रत का परिणाम कैसे होता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण रूपसे ग्रहण करके होता कि व श्रेणीयोंमें यह आत्मा कैसे पहुंचता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण रूपसे उपादान करके पहुंचता। अब क्षीणमोह कैसे होता ? तो अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको ही कारण पाकरके उस स्थिरतामें होता। और केवली कैसे होता ? तो भी यही उत्तर है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके केवलज्ञानोपयोगी होकर स्वयं परिणमता है।

परमपारिणामिक भावका प्रताप—देखो भैया ! यह परमपारिणामिक भाव एक ही अपूर्व मास्टर है, गुरु है, देव है, जो हमको सम्यक्दर्शनसे सम्यक्चारित्र तक और अत्यंत शुद्ध पर्याय तक ले जाने वाला है। इस ही की कहीं चर्चा, कहीं बोध, कहीं लक्ष्य, श्रद्धान, भावना, ध्यान, उपयोग, परिणमन होता है। इसही निज ज्ञानस्वभावका लक्ष्य—यही करना ही एक

हमारा अभी धर्म है। हमारे व्यवहार धर्मके अन्दर भी ज्ञानीको केवल यही करनेको होता है। सारे प्रकारके शुभोपयोगमें बसकर भी ज्ञानी जीवका काम यही रहा करता है। हमारी समझमें इसके चिन्तवनमें हमको परिश्रम करना चाहिये। यह परिश्रम नहीं, अपूर्व आराम है जिसका रहस्य या द्वार अब तक देखा भी न था। २४ घन्टेमें विषय कषायोंके परिश्रममें यह जीवन प्राणियोंका बरबाद हो रहा है। एक बार विषय कषायोंसे हटकर अपने आपमें आवो अथवा अपने आपके स्वरूपको देखो, इस ही में स्थिर होओ, उसे विषय कषायके परिणाम स्वयं हटेंगे ही। एक बार सहजसुखामृतका अनुमान करो। स्त्री पुत्र आदि सब उठकर प्रायः नहीं जाते, वे सब घरमें ही हैं आनन्दसे रहेंगे। उनके उपयोगमें अब तक इतने रहे, अब कुछ ५ मिनट हीं (आगे मिलेंगे यह भाव रखकर नहीं) तो उन बातोंका ख्याल छोड़कर अपने ज्ञानस्वभावमें आवो, लग जावो, रहो आधा सेकिण्ड भी, सेकिण्डके हजारवें भाग भी अथवा जैसे बिजली चमकती उस शैलीके क्षणसे अपने स्वभावके पास आजावो। यदि कोई अपने ६०–७० वर्षके जीवनके भीतर एकपाव सेकिण्डको भी यह बात पा लेवे तो वह सर्व दुःखसे पार हो सकता है। सारा समय तो रखा विषयके लिए। मन नहीं माने तो रागके लिये, कुछ समय स्वरूपचिन्तनसे लगावो और यदि आपको चिन्ता ही है उन सर्व अत्यन्ताभाववाले पदार्थोंकी, तो हम कहते हैं आपके बाल बच्चे सब ठीक रहेंगे। एक मिनट आधा मिनट सर्व बाह्यसे उपयोग हटाकर आरामसे तो बैठो, ज्ञानस्वभावका अवलोकन हो जायगा। देखो यह अनुभव होनेपर व्यवहार सत्य है, ज्ञान सत्य है, चारित्र सत्य है। अन्यथा वक्ताओंकी गाली ही खानेको मिलेंगी।

चित्स्वभावके परिचय बिना सिद्धिका अभाव—एक चैतन्यमात्रका अनुभवन किया हो तो उसे अन्य सब भार प्रतीत होता है, उस भावसे जो जाना कि उसे ज्ञायकभावका लक्ष्य आ ही गया। कभी किसी चारित्रमोहनीयकी प्रबल प्रेरणासे किसी कार्यमें लगे हुए भी उसके वियोगबुद्धि लगी रहती कि किस दिन वह समय आवे कि यह खटपट न करना पड़े, ऐसे भाववाला लोकमें भी रहता, अपने ध्रुवस्वभावके लक्ष्यमें रहता। इसही भावकी करामात है कि गृहस्थीमें रहकर भी ४१ प्रवृत्तियोंका संवर है। सम्यक्त्व होने पर प्रवृत्तियोंसे भी अनंत-संसार नहीं होता। ज्ञानी जीवकी शुभप्रवृत्ति व्यवहारधर्म कहलाता है। वहाँ ज्ञानीका क्या ध्येय है कहाँ लक्ष्य है इस रहस्यको न जान सकने वाला प्रवृत्तिमुग्ध प्राणी यदि शुभप्रवृत्तिको ही धर्म मानलें तो इस भावसे वह धर्म शान्ति आत्मविश्राम नहीं पा सकता। जैसे कोई सेठ धान्य खरीदने गया। १४ रुपये मनमें धान्य खरीद लिया। एक मूर्ख जो धनी बननेको चाहते सेठकी प्रवृत्तिको देख रहा था और सोच रहा था कि जो सेठजी करें वही हमें करना है। उस मूर्खने निश्चय किया कि इस मटमैले पदार्थोंको १४ रुपये मनमें खरीद लो। वह मिलमें

गया और वहाँ पड़े हुए चावल रहित मटमैले तुषको १४ रुपये मनमें खरीदनेको कहने लगा। अधिकारियोंने सोचा कि यह मजाक कर रहा होगा किन्तु उसके बार बार हठ करने पर और मूल्य आगे धर देने पर विवश होकर दे दिया। अब आप यह सोचें कि वह मूर्ख धनी बनेगा कि गाँठ की रकम खोवेगा। इसी तरह जीवका निज ध्रुव तत्त्वपर लक्ष्य गया—इस ज्ञानी जीवसे कर्मविपाकवश शुभोपयोग कार्य हुआ, इससे भी दूर न रह सका। यह किस अवस्थामें किस दृष्टिमें उसके हुआ इसे अज्ञानी न पहचान सका और ऊपरी ही बात देख ली, ऊपरी प्रवृत्तिमें ही धर्म है इसे करनेसे ही कल्याण है—इस श्रद्धाको रखकर बाह्य प्रकृतिमें तन मन लगाने लगा तो क्या बाह्यप्रवृत्तिमात्रसे अर्थात् ज्ञानियोंकी ऊपरी औपाधिक प्रवृत्तिकी नकल-मात्रसे अज्ञानी अंदरके वैभवको पा सकता है, धर्म शान्ति आत्मविश्वास कर सकता है या संसारका ही बंध करता है।

शुद्ध दृष्टि होनेपर व्यवहारकी भी सहायकता—सिर्फ दृष्टिका फेर है, व्यवहारका निषेध नहीं, यह व्यवहार धर्मका भी आचाराङ्ग, उपासकाध्यपताङ्ग विषय है। क्योंकि निर्मल अवस्थामें शुभ प्रयोगसे अलग रहकर तो स्वच्छंद हो सकता है जीव, परन्तु इन कर्त्तव्योंमें रहकर भी देखो अपने अंतरङ्ग भावको। निज ज्ञानस्वभावको ही कारण बताकर अपने उपयोगकी पर्याय करो। देखो भैया! धर्मका मूल क्या? चौथे गुणस्थानसे लेकर अत्यन्त शुद्धपर्याय प्रकट होने तक यही होता, दूसरा काम नहीं। ज्ञानस्वभावका कारणरूपसे उपादान लक्ष्य, श्रद्धा, भावना, उपयोग परिणमन रहा। कहीं अनुभव हुआ तो कहीं परिण-मन हुआ, परन्तु रहा सर्वत्र ज्ञानस्वभावका ही सम्बन्ध। ज्ञानस्वभाव तो वह कहलाता जो प्रत्यक्ष ज्ञानपर्यायमें रह सकता है व जघन्य परोक्षपर्यायमें भी रहता, सामान्यमें भेद कहाँ? ऐसा वह ज्ञानस्वभाव अर्थात् आत्मद्रव्य है तो अपने ध्रुव स्वभावसे रहता ही है। द्रव्यका स्वभाव ऐसा नहीं कि कहीं कम या ज्यादा रहे ऐसा रहने वाला तो स्वभाव ही नहीं, व्यक्ति है। वह स्वभाव निगोदमें अपूर्ण हो और केवलज्ञानमें पूर्ण हो नहीं क्योंकि स्वभावकी अव-स्थामें तो अन्तर होता किन्तु द्रव्यमें व उसके स्वलक्षणमें अन्तर नहीं होता।

आस्तिक्य—जो स्वभाव द्रव्यमें अनादिसे अनंत काल तक पूर्ण है उस निज स्वभाव को जिसने नहीं जाना उसे कहते हैं परमार्थसे नास्तिक। उस स्वभावको जिसने जाना उसे कहते हैं आस्तिक। आस्तिक अन्तरात्माके अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावमें अनुभवसे परिणामोंमें निर्मलता बढ़ने लगती है तब श्रेणीगत अन्तरात्माके एक ही पदार्थमें एक योगसे ठहरे हुए ध्यानमें १२वें गुणस्थान तक वीतरागभाव था, सर्वज्ञता नहीं थी। १२वें गुणस्थान के अन्तमें ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय कर्मका क्षय होते ही एक ही समयमें उस ज्ञानकी यह हालत होती है कि तीन लोकके तीन कालके सर्वद्रव्य गुण पर्याय एक साथ उस केवल-

ज्ञानमें आ जाते हैं, मानो उन सबका उस ज्ञानभूमिकामें एक ही साथ समाक्रमण हो जाता है। देखो भैया! १२ वें गुणस्थान तक तो सर्वज्ञता नहीं थी, फिर वह ज्ञान कितने रूप था, कैसे कर रहा था, किस पर केन्द्रित था, जो वहाँ एकके बाद एक समयमें एक साथ ऐसा हो गया। वह है निर्विकल्प ज्ञानानुभव। यह ज्ञानका स्वभाव है कि सबको जान, यहां अचानक यदि ऐसा कोई अद्भुत काम हो जाय तो घबराहट आजाय वहाँ अनन्तवीर्य प्रकट है, अनन्त-ज्ञान प्रकट है। इस केवली भगवान्के एक सस्यमाक्रान्त व समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव होनेसे समस्त संवेदनके आलम्बनभूत जो यह सर्व द्रव्य गुण पर्याय हैं वे सब प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस तरहसे गाथामें यह बात सिद्ध की कि केवली भगवान् का जो ज्ञान है वह अतीन्द्रियज्ञानके परिणमन होनेके कारण सर्वका प्रत्यक्ष करने वाला हो जाता है। इस अद्भुत किन्तु सहज महिमाका उपाय क्या है? धैर्य धरो, जगतके पदार्थोंको समझनेके लिये उतावली न करो, अपनेको समझो और अपनेसे भिन्न शरीर आदि हैं ऐसा समझो, इसमें ही सारा जगतका ज्ञान सामान्यरूपसे हो गया। अब उतावली न करो प्रत्येक भौतिक पदार्थके निरीक्षणकी। धैर्य धरो धैर्यका मीठा फल है। इच्छा न करो किसी अन्यके जाननेकी, इच्छा न करो किसी चीजके सम्बन्ध बढ़ानेकी। इच्छा न करो किसी प्रकारसे किसीको प्रसन्न करनेकी। इच्छा न करो यश अपयशके होने व छुपानेकी। किसी इच्छाका आदर मत करो, अपने ध्रुव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानस्वभावको देखो। वह स्वभाव अखंड है। यद्यपि उसे खंड ज्ञानरूप उपयोगमें ही देखते हो तथापि खंडमें अखंड विराजमान तो रहने दो, भूमिका भी अल्प समयमें पूर्व व्यापक अखंड हो जायगी।

सत्की प्रमेयताका अप्रतिघात अभ्युदय—हम किसी भी पदार्थको पूर्ण तौरसे नहीं जान रहे। जो हम एकदेश देखते हैं उतने ही हम जानते हैं परन्तु शुद्ध आत्मद्रव्यका वह ज्ञान त्रिलोक सर्वका ज्ञाता होता है। द्रव्यदृष्टिसे तो वह देहाकार असंख्यप्रदेशोंमें ही बिराज रहा परन्तु भावदृष्टिसे देखो वह केवलज्ञान सर्वव्यापक है। वह इतना ही व्यापक नहीं कि लोक में ही रहता हो, अलोकमें भी है। वर्तमानमें ही वर्तमानकी पर्यायोंमें ही व्यापता हो ऐसा नहीं, किन्तु इसकी व्यापकता अतीतकालकी सर्व अनंत पर्यायोंमें है, भविष्यकालकी सर्व अनंत पर्यायोंमें है। कारण कि वह सत्सम्बन्धको जानता ही है चाहे वह सम्बन्ध पर्यायरूपमें हो या होगा या था। यह सम्बन्धकी बात पर्यायोंके लिये कह रहे हैं। जो भाई केवलज्ञानको व्याप-कतामें प्रादेशिक जैसी दृष्टि लगाकर क्षेत्रसे ही व्यापक मानते हैं उनको केवलज्ञानके विषयके इतने ही आधारसे चलकर सर्वथा अद्वैतवाद जैसी श्रद्धा हो सकती है अर्थात् और कुछ नहीं है बस मात्र एक ज्ञान ही ज्ञान है। परन्तु पहिले यह निश्चय करके चलो कि केवलज्ञान भावदृष्टिसे व्यापक है और भावकी दृष्टिमें इतना ही व्यापक नहीं कि वह लोकमें ही वर्तमान

की पर्यायोंमें ही व्यापक हो। वह तो त्रिलोक त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य गुण पर्यायोंमें व्यापक है। ये पर्यायें कबसे हैं ? यदि कहो अमुक समयसे तो वह एक पर्याय आदिरूप हुई तो वह पर्याय किस सामान्यकी—द्रव्यकी तरंग है ? उसका जो उत्तर होगा वह क्या पहिले निस्तरंग था ? नहीं, तब पर्यायें अनादिसे हैं और अनंत काल तक पर्यायें चलती रहेंगी क्योंकि यदि अमुक दिनसे ही चलें, रहें तो किस हालतमें द्रव्य रहेगा ? इससे सिद्ध है भविष्य भी अनंत है।

केवलज्ञानका प्रताप—देखो केवलज्ञानीके प्रतापको कि सर्वपदार्थका ज्ञाता है, किन्तु वह हमारी तरह छाँट करके जाने तो उसको सर्वज्ञातृत्वसे स्तीफा देना पड़े, किन्तु यह दोनों असंभव हैं अर्थात् वह सर्वज्ञाता न हो यह असंभव है और छांट याने विकल्प करके जाने यह भी असंभव है। देखो केवलज्ञानीके तेजको, एक ही समयमें अनादिकालकी पर्यायोंमें व्यापक हो गया, भविष्य अनंतकालकी पर्यायोंमें भी व्यापक हो गया। यह सब भावदृष्टिसे कसने पर सब सही उतरता है। मात्र क्षेत्रकी दृष्टिसे ही व्यापक मत देखो। ऐसा ज्ञानमें व्यापकत्व देखने पर कहीं गलती हो सकती है, उस गलतीका परिणाम अद्वैतवाद है। अद्वैतवाद सत्य है परन्तु वह अखंड एक द्रव्यमें। इस तरह वह केवलज्ञान इतना व्यापक है। जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थको उस रूपमें जानो। यह बात इसलिये कही कि केवलज्ञानमें इतनी लम्बी व्यापकता समझमें आने पर यह बात सहज समझमें आयेगी कि केवलज्ञान जिस आत्मद्रव्यके आधारमें है वह आत्मद्रव्य पिण्डसे देहाकार निज प्रदेशोंमें ही है। क्यों ? देखो यदि हम इस ज्ञानको क्षेत्रमें ही व्यापक मानें तो यह प्रतीत हो सकता है कि केवलज्ञानका आधारभूत जो आत्मा है वह भी इतना ही फैला हुआ होगा। और जब केवलज्ञानकी व्यापकता भूतकालकी पर्यायोंमें भी चली गई, भविष्यत्कालकी पर्यायोंमें भी चली गई तो वह आत्मा पिण्डको छोड़ कर इनमें कहाँ कहाँ कैसे विचरता होगा, भविष्यत्कालकी पर्यायोंमें व भूतकी पर्यायों आदिमें कहां जावेगा ? तब कमसे कम इतना तो निश्चित हो गया कि जितना केवलज्ञान व्यापक है उतना व्यापक आत्मद्रव्य नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे पिण्ड दृष्टिसे इतना व्यापक आत्मद्रव्य नहीं है।

ज्ञानपरिमाण व आत्मप्रदेशपरिमाण—देखो यह एक लक्ष्यकी बात बतलाई जा रही है तभी तो आगेका कथयिष्यमाण यह विरुद्ध नहीं होगा कि जितना बड़ा ज्ञान है उतना ही बड़ा आत्मा है। यदि ज्ञानसे कम आत्माको माने तो क्या दोष होगा ? ज्ञानको आत्मासे कम माने तो क्या दोष होगा ? समाधान देकर निर्णीत होगा कि ज्ञानप्रमाण आत्मा है। न यह कम है, न वह कम है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि देहसे मुक्त होनेपर वह आत्मा देहके प्रमाण क्षेत्रावगाही ही क्यों रहता है ? तब वह समाधान है जिस आकारमें अवस्थित आत्मा अन्तमें मुक्त होता है व देहसे अलग होता है, वह जितना था उतना ही रहा, घटा नहीं

बढ़ा नहीं। इसमें तो हेतु आनेकी जरूरत नहीं किन्तु यदि घटे या बढ़े कुछ तो उसमें हेतु पूछा जायगा कि क्या कारण है जो बढ़ गया अथवा घट गया ? नवीन बात होनेमें हेतु पूछा जायगा। जो जैसा था वैसा ही रहा। इसमें क्या खोजनेकी व्यग्रता की जाय ? अपने व्यवहारमें भी देखलो, कोई मामला घरमें, संस्थामें आजाय जिसमें कुछ घटाया बढ़ाया जाय, कुछ लोगों के खिलाफ हो तो निश्चय होता है कि जैसा है वैसा ही रहने दो उसमें कुछ अंतर मत करो। वह अरहंतकेवली जिस देहाकारसे मुक्त हुआ है उस देहाकारके प्रमाणसे आत्मा घट गया या बढ़ गया तो कारण बताओ। अतः शुद्ध आत्मद्रव्य देहसे जब मुक्त हो जाता है तो जिस देहसे मुक्त हुआ उस प्रमाण वह सिद्धलोकमें भी विराजमान रहता है।

देहप्रमाणसे आत्मप्रदेशोंका न्यून आकार—यदि यह कहा जाय कि ऐसी भी कुछ प्रसिद्धि है कि पूर्व देहाकारसे कुछ कम आकार रहता है जो वैसा कम तो इस समय भी है, जो देहमें छिद्र है ऊपरको सूक्ष्म त्वचा है नख है बाल है वहाँ आत्मप्रदेश नहीं। फिर क्षेत्रकी दृष्टिमें विशेषता क्या रही ? अर्थात् जितने कम आकारमें रहेंगे, रहते हैं, देहमें उतने कम आकारमें हम भी रहते हैं। अभी शरीरके ऊपरकी चमड़ी जो मक्खीके परकी तरह पतली है जिस पर कदाचित् जरा सी रगड़ लग जाय तो मैल ही निकले, किन्तु तकलीफ रंच भी नहीं होती। यह त्वचा आत्मप्रदेशरहित है। यहाँ जितने बाल निकल रहे यह भी अंग बन रहे, इनमें भी आत्मप्रदेश नहीं है, तभी देखो जब कोई कैंची आदिसे बाल काटे तो जरा भी हमें ख्याल नहीं रहेगा, रंच भी दुःखका अनुभव नहीं होगा। यही बात इन नखोंकी है, यह भी हड्डीका मलमात्र है जो ऊपर निकले हैं। तब जो जो इस आत्मप्रदेशसे बाहरकी चीज है अर्थात् जिनमें प्रदेश नहीं है वहाँ तो आत्मप्रदेश अब भी हमारे आपके नहीं हैं।

केवलज्ञानकी निरपेक्षता व स्वाभाविकता—इस तरहसे देहप्रमाण क्षेत्रस्थ भी इस आत्मामें वह ज्ञान प्रकट होता, उस केवलज्ञानमें कोई भी प्रतीक्षा नहीं होती। भावदृष्टिसे वह इतना व्यापक है कि वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक है। इससे कहते हैं कि इस भगवान केवलीके अतीन्द्रियज्ञान होनेसे ही पूर्वज्ञान सुख है। 'ही' शब्द इसलिए कहा कि शंकाकार कहता था कि जिनके इन्द्रिय नहीं उनके और आनन्द कैसे होगा, उसके लिये निर्णय हो पर कहा कि इन्द्रिय नहीं है इसलिए ही पूर्णज्ञान और सुख है जिसको कि किसीकी सहायता या प्रतीक्षा आदि नहीं करनी पड़ती। अब कहते हैं कि इस भगवान आत्माके अतीन्द्रिय ज्ञानमें परिवर्तन होनेसे ही कुछ भी नहीं रहता, अज्ञान नहीं रहता, इस बातको अभिप्रेति अर्थात् कहते हैं। यहाँ अभिप्रेति शब्द कहा जिसका रहस्य है कि आचार्य अपने मनका भिदा हुआ अभिप्राय कहते हैं अथवा यही इष्ट है उसकी शक्तिसे कहते हैं।

णत्थि परोक्खं किंचिवि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीतस्स सदा सयमेव हि णाणाजादस्स ।।२२।।

प्रभुकी समृद्धता—प्रभु समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे समृद्ध हैं । देखो केवली भगवानका वर्णन चल रहा है । शब्द यह है कि जो समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे समृद्ध हैं—युक्त हैं, इन्द्रिय के ज्ञानकी वृत्तिसे युक्त नहीं, परन्तु इन्द्रियाँ जिन जिनको विषय करता था उन सबका ज्ञान तो पूर्णज्ञानी अक्षातीतके है ही, सो देखो इन्द्रियकी जो करामात है वह तो उनमें है परन्तु वहां उन विषयोंका विकार स्वाद नहीं और विकल्प नहीं । क्योंकि जिनके मोह व इन्द्रियज ज्ञान ही नहीं तो विकार स्वाद कैसे हो ? उन पदार्थोंका भी जो भगवानको ज्ञान है वह भी ज्ञानकी स्वच्छतासे ही है । उस ज्ञानके लिये उन आत्माको कोई प्रतीक्षा नहीं करनी होती ।

ज्ञानसमृद्धि और उसके निरन्तर यत्नका कर्तव्य—केवली—जो इन्द्रियोंसे रहित ज्ञान वाला है सब आत्माके देशोंमें सब इन्द्रियोंके गुणके अथवा आत्मगुणोंसे पूर्ण है, इन्द्रियज्ञानसे पूर्ण नहीं, किन्तु इन्द्रियावस्थामें जितना जानन हो रहा था वह तो उनको है ही, इससे भी अनन्तानंत गुण ज्ञान हो गया ऐसा जो केवली भगवान है उनके ऐसा ज्ञान प्रकट होता कि जिसमें त्रिलोक त्रिकालके सर्वद्रव्य गुणपर्याय प्रकट होते ही हैं । हम देखते हैं अपने विकल्पके ढंगसे कि सही क्या होगा ? परन्तु भैया ! विकल्पके होनेके अनुसार उनके ज्ञान नहीं, उनका ज्ञान निर्विकल्प होनेमे है क्योंकि इस अवस्थाके होनेका कारण—मूल कारण निर्विकल्प ज्ञान स्वभावका लक्ष्य है यह बात इक्कीसवीं गाथामें कही गई थी । उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मेरा सत्यार्थ काम केवल अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावका लक्ष्य करना ही है । इस कामको करते रहो । जितने भी प्रयत्नमें रहो वह इस कामके लिये रहो तो कोई न कोई ऐसा समय आवेगा ही कि हम उस विशुद्ध स्वरूपके अनुरूप परिणम ही जावेंगे । कार्य बस यही है—ज्ञानस्वभावकी ही चर्चा, ध्यान रहे । एक जुलाहा था । उसे एक साहबने पतलून दिया इनाममें । वह उसे पहिनना नहीं जानता था । उसने कभी तो पतलूनको सिरसे बाँधा, कभी कमरेमें तो कभी उसमें हाथ डाले, अनेक उपाय किये, इसही में कभी दोनों पैर डाल दिये तो वह पतलून फिट बैठ गई, तब समझमें आया यह यहाँ ही पहिननेकी चीज है । यह तो मात्र दृष्टान्त है । तात्पर्य यह कि हम भी तत्त्वस्वरूपपर एकाग्रध्यान बनाये रहते रहें, कभी वह ध्यान फिट बैठ जायगा । व्यवहारमें भी पूजा वंदना चिन्तन आदि होते रहें व यहाँ भी अंतरंगदृष्टि ठीक रखनेका प्रयास रहेगा तब वह दिन दूर नहीं, जब इस ज्ञायक भावका स्थिर अनुभव होगा । अपना अन्तरंग लक्ष्य न छोड़ो ।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी अभिप्रेतता—इस गाथाकी उत्थानिकामें "अब इस भगवान कार्य समयसारमय परमात्माके अतीन्द्रियज्ञानमें परिणत होनेसे कुछ भी परोक्ष नहीं है अस्पष्ट नहीं,

है ऐसा अभिप्रेति अर्थात् कहते हैं" इन शब्दोंमें अभिप्रेति शब्दसे अभिप्राय ही बना दिया क्योंकि जब कोई बात अतिशय कर उपयोगमें बैठ जाती है तभी वह अभिप्राय बनता है। कहते कहते तो बहुतसा समय व्यतीत हो जाता है परन्तु अभिप्राय बने बिना उसका लेश भी प्रयत्न नहीं हो सकता। आध्यात्मिक सूरिको मात्र कहना ही इष्ट नहीं होता उनका वैसा अभिप्राय होता है। ज्ञानकी ऐसी निर्मलता जिसमें सर्वद्रव्य गुणपर्यायें प्रत्यक्ष हों, इसका ही अभिप्राय—अवलोकन बोधि प्राप्त पूज्य आत्माओंके रहता है जो कि उस पूर्ण व्यक्तिके मूल आधार ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यमें गर्भित है। यहां सर्व प्रत्यक्ष हों इस पर भी लक्ष्य नहीं है, किन्तु यह तो उस निर्मल ज्ञानकी पहिचानके लिये कहा गया जिसकी इस लक्षणसे पहिचान की उस निर्मलज्ञानका ही अभिप्राय है अथवा निर्मलज्ञान पर्यायपर भी दृष्टि नहीं है किन्तु अनादि अनंत अहेतुक असाधारण एक ज्ञानस्वभावपर ही दृष्टि है। जिसके लक्ष्य–अनुभव-परिणमनके प्रसादरूप जो निर्मल अवस्था होती है उसका प्रशंसापूर्वक अभिप्राय व्यक्त किया जा रहा है। अभिप्रेति शब्दमें अभि प्र एति—ये तीन शब्द हैं, जिनके शब्दार्थ हैं चारों ओर प्रकर्षतापूर्वक गमन करता है, जिसका भावार्थ है अभिप्राय करता है अथवा इष्ट करता है। इस भगवान आत्माके कुछ भी वस्तु परोक्ष नहीं है।

प्रभुनामोंकी अन्वर्थता—इस आत्माका नाम ही भगवान है। भग याने ज्ञान उसका जो स्वामी होय वह भगवान् अर्थात् ज्ञानवान। यही चैतन्य चेतन आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। जैसे—विष्णु–जो इस ज्ञानभावसे व्यापक होय सो विष्णु, आत्माका ऐसा ज्ञान जो लोकालोकमें व्यापक है विकास रूपमें ऐसा पूर्ण आ सकता है, आता है तब यही आत्मा विष्णु है। बुद्ध—जो जाने सो बुद्ध। हरि—जो पापको हरे सो हरि, पापोंको कौन हरेगा ? पापको मैं ही हरूंगा। यद्यपि भगवानके स्वरूपका लक्ष्य होनेपर वह आश्रय है तथापि उनका कोई अंग गुण मेरे पापको हरनेमें समर्थ नहीं। मैं ही हरि हूं। ईश्वर—जो निजके ऐश्वर्य का स्वतन्त्र स्वामी हो वह ईश्वर है। वह भी मैं हूं। जिनका ऐसा काम है, जिससे वे ही अपने आप अपने आपसे आपको करले उसे कहते हैं ऐश्वर्य। हम भी सारे काम अपनेमें अपने लिये अपनेसे अपने द्वारा करते हैं इस लिये मेरे कामका नाम ऐश्वर्य है। निज द्रव्यमें जो सत् शुद्ध है वह है ईश्वर, ईश्वरके भावका नाम ऐश्वर्य। स्वयं यह कल्याणमय आत्मा पवित्र है आदर्श है, अनंत सुखमय इसकी प्राकृतिक शक्ति है। संयोगाधीन दृष्टि छोड़कर द्रव्यसे देखो मैं और भगवान एक ही बिरादरीका तत्त्व है। परलक्ष्य हटने पर आत्मा अनंतसुखमय हो जाता है।

मतोंके नामोंकी अन्वर्थतामें मूल एक लक्ष्य—देखो भैया ! ऐसा परमपवित्र निज आत्मनिधानको भूलकर थोड़े सुखाभास—जो सुखका विकृत अंश है–के लिये वैभाविक सुख

के अर्थ परके लक्ष्यसे अपना विनाश कर रहे हो। देखो धर्म आत्माके स्वभाव रूप होता है तभी लोगों ने अपने अपने मतोंका जो धर्मके लक्ष्यसे बननेकी बात थी—जो जो नाम रखा है वह ऐसा नाम रखा है जो आत्मस्वभावको छूने वाली बातको बतलावे। जैसे जैन—जो कर्मों को जीते सो जिन, उन्होंने जो मार्ग बतलाया सो जैन, जो विषय कषाय कलंकको जीतनेका मार्ग है सो जैन। वैष्णव—विष्णु नाम है ज्ञानका, जो व्यापक है, उस विष्णु तत्त्वकी बात को जो माने सो वैष्णव। आत्माके तत्त्वको बतावे वह धर्म है, उस समय जो हो सो भगवान आत्मा यह वैष्णव। मुसलमान—मुसले ईमान—जो अपने ईमानपर कायम रहे सो मुसलमान। आत्माका ईमान सत्य क्या है ? ज्ञान स्वभाव व उसमें रहनेकी स्थिति उसमें दृढ़ रहना यह शब्द कहता है। पारसी—पार्श्वी। पारस–पार्श्व कहते हैं समीपको, जो समीपवाले की आत्माकी आराधन करे पारसी। संस्कृतमें पार्श्व नाम समीपका है। इस पारसकी बातको माने, अपने अन्दरकी बात देखे जाने उसका नाम पारसी। हिन्दू—हिन्दू जो हिंसासे दूर रहे सो हिन्दू। हिंसासे दूर रहना अथवा विशुद्धज्ञान स्वभावमें समवस्थित होना, विधि व प्रतिषेधमुखेन एक ही आत्मतत्त्वका बोधक है। ऐसे ही धर्मकी किसी भी भूमिकामें वे शब्द रखे जाते जो कि धर्मकी बातको प्रकट करे। निजधर्म करि विशिष्ट यह आत्मस्वरूप भगवान—इस भगवान आत्माके एक क्षेत्रावगाही समस्त आवरणोंका क्षय होते ही उस ही क्षण संसारिक ज्ञानकी उत्पत्तिमें जबर्दस्त कारणरूप बनी रहने वाली इन्द्रियोंसे रहित अतीन्द्रिय परम केवल ज्ञानमय हो जाता है।

इन्द्रियोंकी परिमित विषयता—ये इन्द्रियाँ इन अस्पष्ट अनर्थ व्यर्थ आदि अनेकविध बोधके उत्पन्न करनेमें आवश्यक कारण हमारे बेहोशपनसे बन रही हैं जो कैसी इन्द्रियां हैं कि परिमित विषयको ही ग्रहण करें। उन इन्द्रिय रूप आपदासे मुक्त अतीन्द्रिय ज्ञान है। यह जिसके प्रगट हुआ उसके कुछ परोक्ष नहीं है। इन्द्रियज्ञानमें ही सारी कैद है, इस विषयमें एक दृष्टान्त है—एक मनुष्य अपने ४–५ गामोंको जाने वाला था कि विशिष्ट अधिकारीने हुक्म दिया कि तुम एक दिनमें एक ही गाँव जावो और इन ५ प्रतिष्ठित लोगोंके ही साथ जा सकोगे। इस दृष्टान्तका प्रयोजन इतना ही है कि देखो उसको अपने काम करनेमें कितनी पराधीनता आई। इसी तरह इस पर्याय मूढ़, बाह्यमूढ़ आत्माको ज्ञानमें कितनी परतन्त्रता है कि बन्धन कह रहा है कि तुम एक बारमें एक ही विषय जानो और अन्तरंग बाह्य अनेक कारणोंकी समग्रताको साथ पाकर ही जानो। सो देखो भैया ! यह मनुष्यभवगत विशिष्ट भी आत्मा इन पाँच ५ इन्द्रियोंका आस्रव रखकर जान पाता है। इसमें भी प्रकाश तंदुरुस्ती आदि अनेक बाह्य साधन भी अपेक्षित हैं। इतने पर भी वह एक साथ सब विषयोंको नहीं जान पाता है। जब सुननेका यत्न है तब देखने आदिका नहीं, इसी तरह ५ विषयोंके बाबत यही

बात है। इन सबका ज्ञान करने वाला यद्यपि आत्मा ही है तथापि निमित्तदृष्टिसे कथन यह हो रहा है।

इन्द्रियज ज्ञानोंमें क्रमिकता व परतन्त्रता—शब्द रूप गंध रस स्पर्श इनका काम क्रमशः कर्ण चक्षु घ्राण रसना स्पर्शन इन्द्रियाँ कर रही हैं अर्थात् इन विषयोंको क्रम क्रमसे जाननेमें निमित्तस्वरूप काम कर रही हैं। ये इन्द्रियाँ एक साथ काम करनेको तैयार नहीं हैं। जल्दी जल्दी जानते हैं इससे भ्रम हो जाता है कि हम एक साथ कई विषय भोगते। चाहे इसे समझने के लिये तैलमें पकी हुई बेशनकी पूरी भी खाकर देख लो अर्थात् खाई हुई का दृष्टान्त लेकर देखलो। सब इन्द्रियाँ एक साथ ज्ञान करती हुई मालूम होती हैं। ख्याल हो रहा न ? नाकसे गंध भी आ रही है, आँखसे उसे देख भी रहे हो, कानसे चुर्र चुर्र आवाज भी आती है, जीभमें स्वाद भी आ रहा है। कड़ी कड़ी भी लग रही है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है परन्तु वहाँ भी बात ऐसी नहीं है। उन इन्द्रियोंका विषय उपयोग इतने जल्दी क्रमसे हो रहा है कि उस क्रमका पता नहीं रहता। इन पाँचों विषयोंका ज्ञान बिल्कुल क्रम से होता है। यह इतना पराधीन हमारा ज्ञान है। हमारी आजादी सारी छीन ली विषय विकारके स्वाद ने। हम जगतमें आशा कर भिखारी रहे आये। परका लक्ष्य करके अपने आपको पतनकी ओर लेते गये परंतु यह भगवान आत्मा इन इन्द्रियोंसे अतीत है, ऐसे उपयोग में ये सारी आपदायें समाप्त हैं। ज्ञान और सुख वहाँ परिपूर्ण है। विषयेच्छुवोंको ही यह शंका होती है कि जिनके इन्द्रियाँ नहीं होतीं उनके ज्ञान और सुख कैसे होगा ? किन्तु भाई इन्द्रियां ही ऐसे अवगुणमूलक हैं कि जिनकी लपलपीके कारण ही हमारा ज्ञान सुख स्वच्छ पूर्ण प्रकट नहीं हो पाता।

अतीन्द्रिय ज्ञानमें निर्विकल्प सर्वप्रत्यक्षता—इन्द्रियोंसे जो अतीत है—दूर है उनके वह जानना नहीं मिट गया। जो इन्द्रियाधीन दशाओंमें जानते थे, मात्र रागद्वेष नहीं है तथा उससे अनन्तगुणा और जान रहे हैं, इसीसे इन्द्रियोंके व केवलज्ञानमें जातीयताका भी महान् अन्तर कहा गया है। क्योंकि सर्व जानते हुये भी केवलीके वह अनुभव नहीं जो इन्द्रियोंके भोगमें मूढ़को आता था। वह परिणाम न रहनेसे विषयस्वादी जन ज्ञान और सुखकी कल्पना तक भी केवलीमें नहीं कर पाता। इस तरह केवली इन्द्रियातीत हैं फिर भी स्पर्शका ज्ञान, रसका ज्ञान, रूपका ज्ञान, शब्दका ज्ञान जैसे कि अनेक द्रव्य गुण पर्यायों का ज्ञान वैसे ही निर्विकल्पतासे सर्वज्ञके हो ही रहा। अर्थात् सर्वज्ञ अमूर्त सर्व आत्मा अमूर्त धर्म अमूर्त अधर्म अमूर्त आकाश अमूर्त काल अमूर्त पुद्गल—इन सबके गुण अनन्त, इन सबकी अनन्त पर्यायें, भूत, भविष्य वर्तमान सबको केवली विकल्पन करता हुआ जान रहा है। कैसे ज्ञान हो गया ? स्वयं ही समस्तरूपसे जैसा पर हैं वैसा अपनेमें ज्ञेयाकार द्वारा परका प्रकाश करता है व

अपना प्रकाश करता है ।

ज्ञानमें स्वपर प्रकाशकता—यहाँ पर भी हम सबका जो ज्ञान है जितने विकासको लिये हुये है, इस ही शैलीसे जान रहा है । जैसे पुस्तकका ज्ञान हुआ कि यह पुस्तक है । सो पुस्तकको जानने वालेके यह घबराहट नहीं होती कि जिस ज्ञानमें हमने पुस्तक जानी वह ज्ञान सच्चा है कि नहीं । यदि वहां असन्तोष हो जाय तो इसका निर्णय करना पड़ेगा । जिस ज्ञानके द्वारा हमने पुस्तकको जाना उस ज्ञानका निर्णय करो तो उसके लिये दूसरा ज्ञान पैदा करो, फिर द्वितीय ज्ञान भी सच्चा है कि नहीं इसके निर्णयके अर्थ तृतीय ज्ञान पैदा करो, उसकी सच्चाईके लिये चौथा—इस तरह एक वस्तुके जाननेको अनगिनते ज्ञानोंका सौदा ही करते रहो उन ज्ञानोंका ही झगड़ा नहीं निपट पायगा । परन्तु यहां तो वस्तुस्वभाव कैसा प्राकृतिक अविरोधी है ? देखो जिस ज्ञानके द्वारा ज्ञात किया कि यह पुस्तक है उसके ज्ञानका निर्णय स्वयं है, चाहे वह ज्ञाता इन शब्दोंमें नहीं कहे कि मेरा पुस्तकका ज्ञान करने वाला ज्ञान ठीक है तो भी वह समझता है कि ज्ञान ठीक है । यदि किसी ने कहा कि पुस्तक नहीं तो यह भी अवश्य कह देता कि मेरा ज्ञान ठीक है । ज्ञाताको दोनों जगहकी दृढ़ताका निर्णय एक ज्ञानपरिणतिमें है । जिस ज्ञानके द्वारा जाना वह भी ठीक और जिस वस्तुको जाना वह भी ठीक, अतः ज्ञान स्वपरप्रकाशक है । जैसे दर्पणका यह स्वभाव है कि अपने आपकी भी झलक और प्रतिबिम्बकी भी झलक रख रहा । तात्पर्य—जैसे दर्पणमें ये दोनों चीजें हैं कि अपनी झलक भी रखता है और बाह्यकी झलक भी रखता, इसी तरह ज्ञानमें भी स्वतन्त्रता है कि अपना प्रकाश भी रखता है और परका प्रकाश भी करता है । ऐसा ज्ञान स्वभावतः व्यापक है । केवलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि जो उसे ढक सके । केवलज्ञान जैसी सर्वज्ञता—यदि यह केवलज्ञान विकसित है तो ज्ञानावरण आदि कोई वर्ग उसका आवरण करनेमें समर्थ नहीं ।

ज्ञानस्वभावकी सिद्धि—कल एक प्रश्न आया था कि वह ज्ञान स्वभाव क्या है जो कि सामान्य स्वरूप है, जिसकी केवलज्ञान मतिज्ञानादि अवस्थामात्र है । अच्छा ! देखो यह अंगुली है इस समय सीधी है, अब अर्ध वक्र हुई है, अब टेढ़ी हुई, अब मुट्ठीमें बना दी गई । सारी दशा इसमें होती हैं परन्तु जिसकी यह सारी दशायें होती हैं ऐसी यह एक दृष्टान्ताभिमत ध्रुव हर दशामें एक है, हर दशाओंमें अंगुली सामान्यपर दृष्टि डालकर देखो जिसकी ये दशायें हो रही हैं वह एकरूप बुद्धिमें मालूम पड़ती हैं । इसी तरहसे जिस ज्ञानस्वभावकी ये सारी तरङ्ग चल रही हैं मिथ्यात्वमें, मिथ्याज्ञान सम्यक्त्वमें सम्यग्ज्ञान, मति श्रुत आदि, देखो इन सारी तरंगोंमें अनादिसे रहा हुआ जो अनन्त काल तक भी रहेगा वह ज्ञानसामान्य है । जैसे प्रत्येक पर्यायमें वही वही एक द्रव्य है, द्रव्य अभेद विवक्षासे गुणभेद विवक्षासे है ।

अच्छी तरहसे सोचलें—कोई पर्याय है वह किसीकी अवस्था ही तो है जब वह अवस्था न रही तो उसकी दूसरी अवस्था हो गई, ऐसे सर्व अवस्थावोंका अधिष्ठान तो एक ही है। जब जिन व्यक्तियोंमें उसका विकास होता है तब यह कहा जाता है कि इसकी पर्यायका विकास है। ज्ञानसामान्यमें शक्ति विकासका प्रश्न ही नहीं। यदि मानों सर्व पर्यायोंमें अनुगत जो एक तत्त्व है वह शक्तिरूप है तो इसकी एक विवक्षित पर्यायकी शक्तिरूप ही ज्ञानसामान्य नहीं होता या कहेंगे कि सर्वपर्यायकी शक्ति। तो सर्व पर्यायकी शक्तियाँ क्या हैं वह तो एक शक्तिमय है अतः शक्तिसामान्य कहलो। वस्तुतः शक्ति रूप भेद तथा उसके विकासका भेद मिटा कर सब पर्यायमें अनुगत जिसकी यह तरङ्ग चल रही है वह तत्त्व देखो। जैसा यहां अंगुलीमें स्थिर या वक्र आदि देखनेमें जो अच्छी तरहसे आये, यद्यपि उनसे अतिरिक्त नेत्रसे हमें कुछ नहीं दीखता तो भी उसे न देखो, ज्ञाननेत्रसे जिसकी ये सब अवस्थायें हों उस अंगुलिमात्रको निरखो। उसके निरखनेमें जरा कठिनता है। आपको डरसा भी लगेगा कहीं समाप्ति प्रलयकी बात तो नहीं हो जायगी। ऐसी अंगुलि हम आपसे कहेंगे कि टेढ़ी न देखो न सीधी, केवल अंगुली देखो तो कठिनाई होगी। फिर आप कहेंगे कैसे देखें ? तो ज्ञानसे ही यह समझ जावें। जब टेढ़ी थी तब सत्। जब सीधी है तब भी वह सत्—वही अंगुलि, अन्तरसे देखो। भैया ! यहाँ अंगुलिका दृष्टान्तमात्र लिया है वैसे तो अंगुलि भी पर्याय ही है। इसी तरह ज्ञानको पर्यायदृष्टि न डालकर देखो अर्थात् जिसकी अवस्था है वह है पर्याय।

आत्मस्वभावके दर्शनसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ—आचार्यदेव का कहना है कि जीवके संसारमें भ्रमते-भ्रमते परपदार्थोंका लक्ष्य करके अनन्त भव गुजर गये, परन्तु इस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका दर्शन नहीं किया। वैभव पर है, दूसरे आत्मा पर हैं, जिस शरीरमें अधिष्ठित है वह पर है। परका क्या सुधार बिगाड़ करेगा ? द्रव्यकर्मका भी तू सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं। उनकी सयोगाधीन दृष्टि को छोड़। वस्तुस्वरूपको देख। अच्छा और परीक्षा कर द्रव्य कर्मको निमित्त पाकर जो रागद्वेषादि विकृत तरङ्ग होती है वह भी पर है कदाचित् आवरणके क्षयोपशमवश जो आत्मामें अल्प अल्प, अपूर्व ज्ञान प्रकट होते हैं ऐसा ज्ञानविकास भी पर है क्योंकि तू तो ध्रुव है। इन सब परद्रव्य परभावोंसे अतीत भी ज्ञानका पूर्ण विकास शुद्ध तरङ्ग, अहो यह भी मैं नहीं, आत्मस्वभाव नहीं यह तो सादि पर्याय है। तब सब भेदोंसे अतीत सब पर्यायोंमें रहता रहने वाला जो ज्ञानसामान्य है जो दिखता तो नहीं परन्तु प्रज्ञासे ग्रहण किया जाता है उसे अनुभूत करो। धर्मके नाम पर अनेक लड़ाइयां या व्यायाम करते हो, करलो परन्तु जिसके अन्तरमें शुद्ध ज्ञानभावका लक्ष्यमात्र भी नहीं हुआ तो कुछ भी कष्ट सह लो, कोई त्याग नहीं किया उल्टा विकल्पका परिग्रह ही रखा। हाँ विकल्पोंकी जातिमें भेददृष्टिसे अन्तर हुआ, मोक्षमार्ग नहीं हुआ।

स्वयंकी धर्मरूपता—निज अन्तरमें इस ज्ञानस्वभावको देखो—यह धर्मकी मूर्ति यहीं बिराजमान है, यह आत्मा ही धर्मरूप है। भगवानकी पूजा तो अपने पाप मिटानेके लिये है, भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन अपने दुःखको मिटानेके लिये है। कहीं भगवान अपने रिश्तेदार या कुटुम्बी नहीं हैं जैसे कि यहाँ लोग कहा करते दादा बाबा आदि तो हमारे भगवान् दादा आदि कोई नहीं। वह तो साक्षी ज्ञाता द्रष्टा शुद्ध परमात्मा है। हम भी वैसे ही द्रव्य हैं। कोई हमारा ऐसा ठेका नहीं कि हम उसकी पूजा करते रहें और वे पुजते रहें! किन्तु है क्या? कहते हैं—भगवान्! जितने भव्य जीव आपकी शरणमें आते हैं वे आपके स्नेहसे नहीं आते क्योंकि यदि स्नेहसे आवें, स्नेहके लिये आवे तो घरके पुत्रादिने क्या बिगाड़ा? वे सब ज्ञानी स्नेहसे आपके पास नहीं आते—आपकी जो पूजा वंदना आदि करते हैं वे भव्य जीव आपके स्नेहसे या स्नेहके लिये नहीं करते, तो भगवान् मानो पूछते हैं कि फिर आते ही क्यों हैं? हमसे स्नह नहीं तो आते क्यों हो? तो भगवान् हमको निरुत्तर नहीं कर सकते, क्योकि भगवान्‌के शासनका ही शिष्य हूं। हे भगवन! आपकी शरणमें आनेका कारण एक है वह क्या है? यह सारा संसार दुःखोंसे भरा है। इस संसाररूपी दावानलमें जल रहे हैं लोग। ऐसे इस दुःखसे विह्वल होकर संसारसे भयभीत होकर उनको कोई सहारा नहीं दीखता इस दुःखसे बचनेके वास्ते। इसलिये भगवान जब कोई सहारा ही नहीं मिलता–दीखता इस ज्ञानी अवशिष्ट दुःखी को तो वह आपके गुण स्मरण रूप छायामें आ ही जाता और वह करता भी कुछ शांतिका अनुभव।

भगवच्छरणग्रहणका प्रयोजन—जैसे कि कोई नंगे पैर नंगे सिर दोपहरीकी ग्रैष्म धूपमें किसी सड़क पर किसी ग्रामकी यात्राके निमित्त जा रहा हो। तब उसकी स्थितिको विचारो–पैर जल रहे हैं, सिर भी जल रहा है, कड़ी धूप भी लग रही है तथा रास्तेमें उस धूपको बर्दाश्त न कर सकने के कारण उपायकी खोजमें भी चित्त व्यायाम कर रहा है। उसे पासमें एक वृक्ष मिल गया तो वृक्षके नीचे छायामें पहुंच गया। वहाँ कुछ समय ठहर गया। उसके भावको देखो, क्या वह वृक्षके प्रेमसे वृक्षके नीचे गया? वृक्षके प्रेमसे नहीं गया क्योंकि थोड़ी देर बाद ही वृक्षको छोड़ देनेकी मनमें है और छोड़ेगा भी ऐसा कि फिर पीछे मुड़कर देखेगा भी नहीं वृक्षको। फिर क्यों गया? वह यात्री कड़ाके की गर्मीको न सह सकनेके कारण सहायमात्र—आश्रयमात्र देखता था। अन्य कोई सहारा तो दीखा नहीं संतापको मिटानेका। यह ही दिखा सो वृक्षके नीचे छायामें पहुंच गया। उसने शांति भी कुछ पाई। देखो भैया यह छाया भी उस ही पुरुषकी अवस्था है जो उस पुरुष पर है उसमें वृक्ष निमित्त-मात्र है। हाँ तो इस स्थितिमें आया वह। यदि वह वृक्षकी छायामें वृक्षके प्रेमसे गया होता तो वृक्षके नीचे ही उसे बैठे रहना चाहिये परन्तु २–३ घन्टे व्यतीत होते ही गर्मी कम होने

पर वृक्षको छोड़कर आगे बढ़ जाता है। इसी प्रकार गतिके वैभाविक दुःखोंको न सह सकने वाले और आत्माके ज्ञानस्वभावको देख लेने वाले जो ज्ञानी हैं उन्हें यह बड़ी विपदा मालूम मालूम होती है। विषय कषायोंमें संताप ही प्रतीत होता है। यह रागद्वेषके भावोंमें लगनेका साधन है, इसका फल दुःख ही है। उन्हें ये बड़े-बड़े वैभव दुःख मालूम हो रहे हैं। उनमें यह नहीं फंसना चाहता और विपदायें तो दुःख हैं ही। वह संसार–विभावके दुःखसे संतप्त है, अतः शाँतिके लिये ही उद्योग करता है सो उसे मात्र शान्त आत्माके अतिरिक्त कही शांतिका स्वरूप भी नजर नहीं आता। अतः शांत शुद्ध आत्माके गुणस्मरण रूप छायामें विश्राम करता है।

गुणस्मरणरूप छाया किसकी—देखो भैया! यह गुणस्मरण रूप अवस्था उसही भव्यकी है उसमें आश्रयमात्र परमात्मा है। हाँ तो इस स्थितिमें आया वह। इस प्रकार ज्ञानी भगवान्‌की शरणको प्राप्त होते हैं। घरका सहारा लो, वहाँ भी कोई तत्त्व नहीं दीखता तो छोड़ो नेहको। किसका सहारा लूं? मित्रका लो, राजाका लो, कहीं भी इसे सहारा नजर नहीं आता। तो जैसे अपने ज्ञानस्वभावसे देखा ऐसा ज्ञान स्वभाव जिनमें प्रकट हो गया उस स्वरूपके स्मरण करने रूप छायाका उसे सहारा हो जाता है। हे भगवन्! यदि स्नेहसे भव्यजन आपके पास आये होते उन्हें भगवान्‌का स्मरण ही सदा ही करते रहना चाहिये था, उन्हींके पास सदा बना रहना चाहिये था, अनन्तकाल तक माथा ही रगड़ते रहना चाहिये था परन्तु ज्ञानके स्वभावसे सोचना—जरा कर्म शाँत हुए, शुद्धोपयोगका मार्ग मिला शुद्धतत्त्वके लक्ष्यको बनानेकी प्रक्रिया पर निर्विकल्प ध्यान हो गया तब उस भक्तिरूप वृक्षको छोड़कर निर्विकल्पतत्त्वमें समा जाते हैं। यदि भगवान्‌के स्नेहसे भगवानकी पूजा की होती तो अनन्त-काल इस तरह जैसा पकड़े रहनेकी भावना करते? नहीं करते। जब ही विकल्पका दुःख आत्मामें आता है तो भगवानके स्मरणकी छायामें पहुंचते और जहाँ विकल्पकी गर्मी कम हुई तो गुणस्मरण रूप छायाको छोड़कर निर्विकल्प स्वरूपमें स्थित हो जाते। देखो भैया! गुणस्मरणरूप छाया उसही भक्त पुरुषकी है उसमें परमात्मा तो विषयमात्र निमित्त है। तत्त्वस्वरूपको ठीक निरखना चाहिये। भगवानने जो कहा वही कहा जा रहा है।

प्रभुभक्ति द्वारा निर्भार होनेका अनुभव—आत्मसम्बोधनमें मेरे एक कल्पना हुई, जो अब आत्मसम्बोधनके भक्तिप्रकरणमें निबद्ध है कि हे नाथ! मैंने अपना सर्व भविष्य आपको सौंप दिया, मुझे अब क्या परवाह? हाँ यदि मेरा पर्याय अशुद्ध झलका हो तो यह आपकी अशुद्धता मिट जावे। क्या मतलब? भगवान् अशुद्ध नहीं परन्तु भगवान्‌के ज्ञानमें, हम यह सोचते हैं कि यह अशुद्ध पदार्थ ज्ञेयाकारसे पड़ा है तो वह झलक अशुद्ध तो उनके ज्ञानमें आ गया। तब देखो—अपने निमित्तसे भगवानको हम किस स्थितिमें छोड़ रहे हैं? जहाँ यह

अशुद्ध झलक है, झलकसे आगेकी बात नहीं सोचना, सिर्फ उस दृष्टिकी बात जो भगवानके ज्ञानको ऐसी ज्ञानपर्याय रखना हो रही है। मैं तो बड़ेका सहारा पाकर निश्चित हूं, अब तो कुछ कह लो तो यह व्यथा है कि मेरे निमित्त भगवान्के ज्ञानमें इस प्रकार अशुद्धता न रहे। मेरे विषयक अशुद्ध ज्ञेय भगवानमें न झलके, इसका मतलब तो सही ही हो गया। यह भगवान्की भक्ति है। कहीं अशुद्ध पर्याय विषयक अशुद्ध ज्ञेय भगवान्के ज्ञानमें झलकता रहे तो केवली भगवानके हमारे जैसी बात नहीं होती, हमारा जैसा अनुराग उन्हें नहीं छूता। फिर भी भक्तकी भक्ति है। मानो ऐसी बात हो हमें तो भगवान् तुम्हारे भलेके वास्ते अनुराग रहा। जो ज्ञाताके स्वभावमें प्राप्त है भगवान्में ऐसा अनन्य हो जाता है उसके लिये सारी बातें साफ हो जाती हैं। यों तो मेरी अशुद्ध पर्याय मिटने पर भी भगवानके ज्ञानमें तो वह झलकती ही रहेगी क्योंकि ये वर्तमान मात्रको ही जाने ऐसा नहीं है और न ऐसा भी है कि केवली यह छांटनेका रोजगार करते रहें कि यह भूतमें पर्याय चली गई, अब यह वर्तमानमें आ गई आदि, फिर भी जिस क्रमसे पर्याय हैं उस क्रमसे व्यवस्थित पर्यायोंको जानते हैं।

शुद्ध ज्ञानमें पदार्थोंकी अनिवार्य ज्ञेयता—हाँ तो ऐसा जो भगवान् आत्मा शुद्ध व स्वच्छ···जिनके लगा तार सदृश ज्ञान तरंग शुद्ध प्रकट हो गये ऐसे उस आत्माके ऐसी उस ज्ञानपर्यायमें यह समस्त त्रिलोकवर्ती त्रैकालिक ज्ञेय एक साथ प्रकट प्रकाशमान होते हैं, क्यों कि ज्ञान स्वच्छ है। स्वभाव कार्य बिना खाली नहीं रहता। सन्दूकमें दर्पण रखा है तो यहाँ ही जो सामने है उसे झलकाता, बाहर निकालकर रखो तो ये सब पदार्थ एकदम झलक रूप हमला कर देते हैं। इसी कुछ प्रकारसे ज्ञानमें देखो, ज्ञान पर आवरण हो तो भी यह ज्ञान कुछ जानता और जब निरावरण हो जाता, तब वहाँ विश्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव सर्व रूपसे ज्ञेयहो जाता है। कहीं पदार्थ ऐसा हमला नहीं करते हैं कि अपना कुछ खो बैठे और दूसरे में कुछ घटा देवें। परन्तु देखो तो जितना नाटक यहां हो रहा है वहां भी झलक रहा है, मानो उस सारे विश्वकी स्थिति दोनों जगह हो गई। तथा जैसे एक साथ ज्ञानमें द्रव्य ज्ञेय होता है वैसे क्षेत्र, काल, भाव भी। इसलिये जगत्का कोई भी तत्त्व उनके लिये परोक्ष नहीं रहता। यहां ज्ञानका स्वभाव बतलाया कि भक्ति चल ही रही है जिसमें ज्ञानका स्वरूप बताया जा रहा है कि स्वरूप ऐसा है वहां लक्ष्य हो रहा है। इस ज्ञानके अन्दर जगत्का जो न आये वह कोई रूपसे नहीं होता अर्थात् असत् है कैसा ऐश्वर्य है मानो कहा जा रहा हो कि जो इस ज्ञानके दरबारमें न आवेगा उसकी सत्ता नहीं रहेगी। जैसे कि यहां ऐसा कहा जाय कि जो राजदरबारमें न आवेगा उसके घरबार सबको नष्ट भ्रष्ट कर दिया जायगा ऐसा राजका हुक्म हो तब वैसा ही यहां स्वाभाविक हुक्म है कि जो सर्वज्ञके ज्ञानमें न आया उसकी सत्ता नहीं। जिनको अपनी सत्ता रखनी हो वे ज्ञानमें पहुंचे। न कोई पहुंचने वाला

और न कोई पहुंचाने वाला। वहाँकी परिस्थिति जाननेके लिये चीज मात्र है।

इन्द्रियज ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञानमें अन्तर—भगवानके ज्ञानमें, जो भी सत् है, पर्यायमें था, है, होगा, सब ज्ञेय है। इस प्रकारका लगातार ज्ञानतरंग होता रहता है ऐसे शुद्ध आत्माके कोई भी परोक्ष नहीं रहता। कहाँ तो इन्द्रियजज्ञानी और कहां अतीन्द्रिय स्वभाव वाले परमात्मा। कहां तो इन्द्रियोंके संभाले वह और कहां जो अतीन्द्रिय हो गये, मात्र शुद्ध तरंगकी संभली संभलाई संभाल जिनके है वह, देखो इन दोनोंमें कितना अंतर है ? जैसे लोग कह देते जमीन आसमान बराबर अन्तर। असमान कहते किसे हैं ? जो समान न होवे वह असमान, आसमान जो अपनेमें चारों ओरसे समान होवे वह। इस तरह इन्द्रियजज्ञानी कैसे अतीन्द्रियकी बराबरी करे वह तो जमीनकी तरह नीचे है, अतीन्द्रियज्ञानी आसमान है और संसारी विषय है। फिर भी द्रव्यको देखो आसमान है, जो भगवान है सो मैं हूं। पर्याय दृष्टिसे ही उक्त महान् अन्तर है। जिस भव्यने परसे अपना लक्ष्य हटाया ऐसा आत्मशक्ति मय आत्मा इस द्रव्यसंधिको बनाकर समीप आता है तो वह परमात्मा हो जाता है। जैसे दीपकके पासमें पहुंचा हुआ तेल दीपक बन जाता है। लौ के पास पहुंची हुई बत्ती दीपक बन जाती है, इसी तरहसे शुद्ध आत्माके गुणके पास पहुंचा हुआ आत्मा शुद्ध बन जाता है और जैसे जंगलके बांसोंमें रगड़ पहुंचते ही आग पैदा हो जाती है इसी तरह निज शुद्धस्वभाव आत्माकी आराधनासे शुद्धात्मत्व प्रकट हो जाता है। समस्त आत्मा और शुद्ध परमात्माके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। व्यक्तिका भेद है। मैं वह हूं जो हैं भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ आप तो अपने स्वरूपका निर्णय करो भैया ! और भगवानके स्वरूपके निर्णयकी व्यवस्था कीजिये, यह ज्ञानी जीवकी कला है।

आत्मनिर्णय—अपने आपका जिसने निर्णय नहीं किया, अपने आपको जिसने नहीं समझा कितना ही बाह्य क्षेत्रमें परमात्मामें देखे, निजस्वरूप समझने में न आ पावेगा। वह तो अपने आपके अनुभवमें दिख पाता। जिसने अपने स्वभावको न देखा, अपने स्वरूपका जिसने अनुभव नहीं किया वह कितनी ही आंख गड़ाकर परक्षेत्रमें भगवान देखे स्वरूपकी समझ होगी ही नहीं। आपको अपना स्वरूप समझमें आया तब भगवानका स्वरूप समझमें आयगा। तब हृदय बोलता है आत्माका प्रतिनिधि बन कर मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान। यहां विनय रखा है कि पहिले भगवानसे अपनी उपमा की, फिर अपने स्वभावसे भगवानकी उपमा की।

ऊपरी अन्तर—अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहं रागवितान ॥ अन्तर यहाँ बही है जो कि ऊपरी है। ऊपरी क्यों है तो देखो भैया ! २१ वीं गाथाकी पंक्ति परसों पढ़ी थी, उसने तो ज्ञानस्वभावके ऊपर केवलज्ञान जैसी शुद्ध पर्यायका प्रवेश बतलाया। कहा था

कि अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे स्वीकार करके उसपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्मा स्वयं परिणमता है। उस ज्ञानस्वभावके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञानको बताया। फिर जहाँ ज्ञानस्वभावसे अनुरूप होने वाली पर्यायके विषयमें भी स्वरूपकी दृष्टिसे स्वभावपर प्रवेश ही कहा वहां आत्मामें यह राग अन्तरमें हो जायगा क्या ? स्वरूपकी चीज हो जायगी क्या ? स्वरूपकी वस्तु बन जायगी क्या ? नहीं। अन्तर यही ऊपरी जान। ज्ञान सामान्य स्वभावके भीतरमें यह बात नहीं है इसलिये ऊपरी अन्तर है। क्या अन्तर है ? वे विराग यहं रागवितान—शब्दका भाव यह है मैं राग नहीं हूं किन्तु यहाँ रागका फैलाव है यह स्वभावसे रागवितान नहीं है। किन्तु यह जो आत्मा है, इन प्रदेशों में वर्तमान रागका प्रसार है। विशेषतया आत्मामें ज्ञानस्वभाव, श्रद्धास्वभाव, चरित्रस्वभाव आदि अनंत शक्ति हैं। सामान्यतया सर्व ज्ञानद्वारा अनुभूत होनेसे ज्ञानस्वभाव है तब जैसे ज्ञान शक्तिके ऊपर ज्ञानतरंगका प्रवेश है वैसे उसही आधारमें चारित्रगुणके ऊपर वह रागप्रसार है। अब अभेद दृष्टिसे देखो चारित्र भी आत्मा ही है तब द्रव्यकी ओरसे कहा गया कि इस आत्मापर रागवितान है। ऐसा मानो कि मैं हूं, परिणमता हूं और प्रत्येक वर्तमान क्षण-मात्रमें एक ही तरंग हूं जिसकी तरंग वह तो मैं सामान्य स्वरूप है और जो तरंग है वह व्यतिरेकी अन्य रही। तब जैसे एक मकान वह तो वहाँ ही है परन्तु आदमी आये और गये। एक दृष्टिकोणमे इसी तरह यह आत्मा सामान्य है और इसमें क्रोध आदि राग द्वेष आदि आये और गये, आये व गये। इसलिये यह रागवितान कहा है। परन्तु यह रागवितान इतना ही ऊपरी है। यदि रागस्वभावके भीतर आये तो फिर विरागता ही नहीं हो सकती। स्वभावमें औपाधिक भाव न आ जाये ऐसी ही द्रव्यकी द्रव्यता है।

भगवद्भक्तिमें माधुर्य—भगवानके स्वरूपका स्मरण करने वाला भेदविज्ञानी व अभेद विज्ञानी अपने स्वरूपकी ओर, अपने भगवानके स्वरूपकी ओर दृष्टि करता हुआ भगवानसे अलग ही स्वमें आनन्द लिये हुए है। प्रत्येक जीव अपनी मानी हुई स्थितिमें आनन्द पाता है। जो स्वाभाविक स्थितिको अपनी समझे वह ज्ञानी है वह सहज आनंद पाता है और जो वैभाविक स्थितिको अपनी समझे वह अज्ञानी है और आकुलतामय शान्त आनन्द मानता है। यों तो लोकमें भी कहा करते हैं, कोई कहता दधि मधुर है, कोई कहता शक्कर मधुर है, कोई कहता दाख मधुर है जिसका जहाँ मन लगा वह उसको मधुर कहता है। वस्तुतः सहजज्ञानका संवेदन ही मधुर है। बाह्य भ्रमात्मक मधुरता तो विषय प्रसंगकी बात है, अतः जिसका जिस विषयमें मन लग गया उसको वही मीठा है। परन्तु ज्ञानकी बात तो निरपेक्ष है। जिसका भगवत् स्वरूपमें मन लग गया उसे भगवत्स्मरण ही मधुर है। इस मधुर स्थितिमें सत्यमधुरका निर्णय करलो। यह अकेलेका ही काम है निरपेक्ष काम है। भगवद्स्मरण निजशुद्धात्मचिन्तत

रूप आनन्द होता यह अकेले मेरा ही काम है, परिणमन है। इनमें पुत्र मित्रादि कोई साथ नहीं दे सकते।

सहजपरिणमन एक मात्र कृत्य—यह सहजपरिणमन अंतरंग बाह्य सर्वत्र एकका ही काम है। परका इसमें भार नहीं। परन्तु जगतके जितने भी सुखविकार भार रखते हैं। इतने साधन चाहें, ऐसी इन्द्रियां चाहें, ऐसा लोक चाहें, अनेक प्रकारकी वहां परतन्त्रता है। फिर भी मिटता है और आकुलता रखता है। यदि विषयसुखसाधन प्रयोग सदा मनचाहे मिलते होते किञ्चित् भी अन्तर न आता, न दैहिक मानसिक आदि दुर्बलतायें न आतीं तो ऐसी प्ररूपणा हो सकती है कि आत्माका धर्म व सुखमार्ग विषयसेवन है। ऐसा कहना संकोचका भी काम न था, क्योंकि आचार्यदेवको तो प्रयोजन यह है कि किसी प्रकार प्राणी शाश्वत सुखी हो जाय। यदि संसारमें विषय सुख साधन आदि शाश्वत रहे, एकरूपमें रहे निरंतर बना रहे, शक्तिकी प्रबलता बनाये रहे, पूर्व आनन्द रखे रहे तो लो ऐसा ही करना धर्म है। क्या हर्ज था ? परन्तु विषय सुख तो क्षणिक हैं, पराधीन हैं, वहां सुखका नाम भी नहीं, विषयाभिलाष विषयानंद अधर्म ही है। इसलिये जगत्के ये पदार्थ जिनको आश्रय बना कर मोह नाचता है जरा विचार करो, कुछ इष्टसे लगते ही उनमें न दौड़ो, अपनी शान्तिके मार्गका निर्णय करो। देखो अहो परकी इच्छामें ही सारा ज्ञान खो दिया, अपना स्वरूप बिगाड़ लिया। अपने आपके स्वरूपका निर्णय करो, अधिक समय लगावो विचारमें। इसका निरपेक्ष स्वयंका भाव क्या है ? अपने चरित्रके लिये पथगमनके लिये अपने निरपेक्ष स्वरूपका निर्णय करो, अपने ज्ञातृस्वभाव को पहिचानो। इसके पहिचाननेके अनन्तर ही यह बुद्धि जागेगी कि यहां मेरा ज्ञानस्वभाव विकसित होगा। नहीं तो जगतके जितने भी पदार्थ हैं यदि उनमें राग हो तो ज्ञान न जागेगा। कोई कहे कि परिवारको ठीक करके संन्यास लूंगा तो यह बहानामात्र है। जो इनमें बोलता है लगता है वह फंसता ही जाता है। अतः भैया सर्व उपद्रवोंसे बुद्धि हटावो, परमात्मस्वरूपको देखो। विशुद्ध दर्शनज्ञानस्वभावी निज परमात्मद्रव्य में रुचि करो, स्थिर होओ।

ज्ञानकी ज्ञेयप्रमाणताका उपोद्घाटन—अब उस आत्माके प्रमाण आदिके विषयमें वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है, इस प्रकार ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध करते हैं। ज्ञानकी दृष्टिमें आत्माको देखनेपर निर्विकल्पकताका मार्ग मिलता है, आत्मामें रहने वाले अन्य गुणोंकी दृष्टिमें नहीं। निर्विकल्पता ध्यानका जहाँ वर्णन किया गया व स्वरूपाचरण चारित्रका जहाँ वर्णन किया गया वहाँ यह बात स्पष्ट कही गई है कि यह स्थिति वह है जहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय वही एक है अथवा जहां ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयमें कोई भेद नहीं रहता। जिस ज्ञानने ज्ञानकी स्थितिको ही जाननेका काम किया उस ज्ञानका ज्ञेय वही ज्ञान हो जाता

है। इसके लिये ज्ञप्ति क्रियामें स्थिति जैसे आत्माका ध्यान हो वहाँ निर्विकल्पताका मार्ग मिलता ही है। यही कारण है कि आत्मामें अनन्त गुण होनेपर भी ज्ञानका वर्णन शास्त्रोंमें अधिकतया मिलता एवं वही असाधारण लक्षण कहा गया है। मानो मालूम होता है कि ज्ञानकी सिद्धिके ही वास्ते अन्य गुण है, आत्मद्रव्य एक चैतन्यपुञ्ज है, उस चैतन्य गुणकी सेवामें ही मानों अनन्तगुण हैं। वे अनन्तगुण आत्माकी सिद्धिके लिये हैं। मानो इस पद्धतिसे उन अनन्तगुणोंका समूह एक आत्मा है और आत्मा ज्ञानस्वभाव है। इस कारणसे अनन्त ज्ञानका प्रयोजन ज्ञानस्वभावकी आत्माकी सिद्धि है, इसलिये ज्ञानकी दृष्टिमें आत्माको देखा जा रहा है कि आत्मा कितना बड़ा है ? आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान कितना बड़ा है ? ज्ञान सर्वव्यापक है। इस बातको उद्योतयति अर्थात् प्रकाशित करते हैं, चमकाते हैं, तात्पर्य कहते हैं। उद्योतन करना तभी बनता है जब यह बात निज गुणके प्रकाशमें दृष्ट हो और बाह्यका भी प्रकाश देखा जा रहा हो। इस बातके वर्णनका प्रकाश करना वह जिस आत्मामें लक्ष्य है, उसी तरहका जिनको अनुभव है उनके कहनेका नाम उद्योतन करना है। देखो जैसे कहनेके अनेक शब्द हैं—कहता है, बोलता है, बकता है, भाषण करता है, व्याख्या करता है, हुवाता है, आलोचना करता है उद्योतन करता है आदि पर इन सबमें सूक्ष्मभाव एक नहीं है। इनके अर्थ अनेक हैं। जैसे—बकता है—निःसार कहता है, सुनने वाले सामने हों तो कहा जाता—बोलता है, भाषण करता है, स्पष्ट करके बोलता है, व्याख्या करता है, कोई एक विषयके आश्रयमें विवरण करता है, आलोचना करता है, गुण दोष दृष्टियोंके स्वरूप रखता है, आदि आदि। यहाँ उद्योतयति शब्द है, उद्योतयतिका अर्थ है—प्रकाश करता है ऐसे कहने का नाम जिसमें कुछ भी अनुभव करता है और वर्णन करता है। तब यहाँ आत्मा जो है ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है, इस प्रकारका वर्णन करते हैं—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

द्रव्यकी गुणपर्यायप्रमाणता—आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है। इसलिये ज्ञान भी सर्वगत है। आत्मा गुणपर्यायके सम है ऐसा कहा, तब आत्मा ही क्या सर्व ही द्रव्य प्रत्येक अपने अपने गुणपर्यायके बराबर हैं। जितने गुण हैं जितनी पर्यायें हैं उन सबका जो समूह है वह द्रव्य है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि तब क्या द्रव्य एक समयमें नहीं होता ? एक समयमें द्रव्य है परन्तु द्रव्य कितना होता, कबसे रहता, कब तक रहता ? इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करने वाला उक्त परिभाषण है। जितनी पर्यायें हैं उनका समुदाय द्रव्य है। परन्तु प्रतिवर्तमानमें जो सामान्य रूपसे रह रहा वह द्रव्य नहीं है, इसका खंडन नहीं है। किन्तु यह द्रव्य वर्तमानमात्र ही न रह जाय, आगे

रहने वाला है अनादिसे रहने वाला है—यह बात इसके रहती ही है, इसलिये अनंतपर्याय जितना है वह एक द्रव्य है, वह अनंतगुणोंका समुदाय एक द्रव्य है, द्रव्य खंड रूप नहीं है, कभी पैदा हो कभी नष्ट हो जाय ऐसी भी व्यवस्था नहीं है। इसी हेतु यह सिद्ध है प्राकृतिक है कि द्रव्य गुण पर्यायके समान है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी ज्ञानप्रमाणताकी सिद्धि—अब कोई दृष्टि बनाकर आमका दृष्टान्त लो, उसे रूपकी दृष्टिसे देखो तो आम रूपमात्र है। यह रूपमुखेन वर्णन है। तब आम रूपप्रमाण है। उसे सूंघें तो ज्ञान तो आपको आमका ही होगा किन्तु गंधमुखेन होता है, वहाँ आम गंध प्रमाण है। इस तरह जब रसनेन्द्रिय द्वारा उसका अनुभव होगा जहाँ आमके स्वाद रसका ही बोध है वहाँ आम तो जाना परन्तु वह आम रस प्रमाण है ऐसा अनुभव रहा। जिस समय आप अंधेरेमें आमको टटोल कर परीक्षण करते हैं तब आपको आम लगेगा—इतने आकार वाला ऐसा है, वहाँ आम स्पर्श आकार प्रमाण है। जिस गुणकी दृष्टिमें देखते हैं द्रव्य उस गुणरूप मालूम होता है। इस समय आत्मा अपने प्रधानगुण ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देखा जा रहा है तो आत्मा ज्ञानप्रमाण है। आत्माको प्रदेश संयुक्त दृष्टिसे नहीं देखना, नहीं तो यह प्रकरण समझमें नहीं आवेगा कि वह प्रकरण किस बातको सिद्ध करनेके लिये है? प्रदेशोंकी दृष्टिसे न लेकर ज्ञानदृष्टिसे आत्माको देखने के लिये कहा गया है—आत्मा ज्ञानप्रमाण है।

यदि यह आत्मा ज्ञान प्रमाणसे कुछ कम मानो तो देखो विडम्बना। ज्ञान तो रहा बड़ा और आत्मा रहा छोटा तो इस आत्मासे बाहरका ज्ञान तो आत्मासे निराधार रहा अर्थात् ज्ञान तो रहा बड़ा और आत्मा रहा उससे कम तो आत्मासे बाहरका जितना ज्ञान है वह तो आत्माके आधारसे रहित रहा। जो ज्ञान निराधार है, चेतन द्रव्यके संसर्गको नहीं लिये हुए है तो वह नामका ज्ञान अज्ञान अचेतन हो गया। इसी तरह यदि ज्ञानसे अधिक आत्मा मानो अर्थात् आत्मासे कम ज्ञान मानो तो वह विडम्बना देखो! ज्ञान तो रहा छोटा और आत्मा रहा बड़ा। अब ज्ञानसे बाहरका जो आत्मा है वह ज्ञानशून्य रहा और जिसमें ज्ञान नहीं वह आत्मा नहीं। तब अधसूखे वृक्ष जैसा केवली हो जायगा कि आधा है हरा, आधा है सूखा कि आधा आत्मा ज्ञानवान है और आधा ज्ञानरहित है। जो ज्ञानरहित है उस आत्माकी शुद्धि क्या तथा वह तो दो द्रव्य हो गया? जो तर्कसे बिल्कुल विरुद्ध है इसलिये आत्मा ज्ञानप्रमाण है। उसको न जरा कम समझो, न ज्यादह समझो ज्ञानसे। यह ज्ञानदृष्टि से वर्णन चल रहा है। ज्ञानके साथ न तो आत्मा हीन रूप परिणमता है और न अधिक विस्तार लेकर, अतः आत्मा ज्ञानप्रमाण है।

ज्ञानमें ज्ञेयप्रमाणताकी सिद्धि—आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है परन्तु ज्ञान कितना बड़ा है यह तो बतलाओ, देखो जैसे दो हाथ लम्बी लकड़ीमें आग लगी, सारी लकड़ीमें आग लग रही

है। कोई पूछे वह आग कितनी बड़ी है तो कहेंगे आग इस लकड़ीके प्रमाण है दो हाथ लम्बी आग है, परन्तु यहाँ आगका स्वरूप तो देखो, आगका स्वरूप क्या है ? जैसे कि लकड़ीका क्षेत्र है ऐसे इतने क्षेत्ररूप रहना ही क्या आगका स्वरूप है ? जैसे लकड़ी नापी जाती है, पकड़ी जाती है वैसे आगका स्वरूप पकड़ा जाता है, नापा जाता है क्या ? नहीं, आगका स्वरूप गर्मी गुणरूप है। वह गर्मी कितनी बड़ी है ? क्या गर्मीमें क्षेत्र है ? गर्मी तो भाव स्वरूप है, गर्मीमें लम्बाई नहीं, चौड़ाई नहीं, न अन्य आकार, फिर भी गर्मी ईंधननिष्ठ है। तब आधारके प्रदेशोंको संयुक्त दृष्टिसे देखकर कहो तो जितना बड़ा ईंधन है उतनी बड़ी आग है। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ अंतर्ज्ञेयनिष्ठ है। यहाँ विचार करें—वह ज्ञान क्या है जो जानन रखता है जिसके जाननपन है। वह जानता है ऐसा कहनेमें यह बात आ जाती है कुछ कुछ जानता है, किसीको जानता है, इस तरह जानता तो ज्ञेयको लिये हुए है, विषयको लिये हुए है। विषयके बिना, जाननेके बिना ज्ञान क्या चीज ? वह ज्ञान तो ज्ञेयनिष्ठ मालूम होता है। जैसे आगको ईंधनके आधारमें बतलाया जायगा तब व्यपदेश होता आग इतनी बड़ी है। इसी तरह जब ज्ञान गुणसे बतलाया जावेगा तब ज्ञानके लक्ष्यसे बताया जायगा कि ज्ञान इतना बड़ा है। तब ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से ईंधनमें निष्ठ आगके ईंधन प्रमाणकी तरह ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण सिद्ध हुआ अर्थात् ज्ञान कितना बड़ा है। इस प्रश्नके होनेपर यह उत्तर आया कि वह ज्ञेयके बराबर है। ज्ञेय कितना है ? लोक अलोकके विस्तारमें फैला हुआ जो अनन्त पर्याय और उसमें अनन्त समस्त द्रव्य जो उत्पादव्ययध्रौव्यकर सहित है वे सबके ही सब द्रव्य ये ज्ञेय हैं अर्थात् केवलीके अनन्त ज्ञान अनंत पर्यायमें सब ज्ञेय हैं अर्थात् इतना बड़ा है। जितना ज्ञेय है उतना ज्ञान है।

प्रादेशिक और ज्ञायक दृष्टि—यह ज्ञान भी स्वयं स्वयंके लिये ज्ञेय है, ऐसे ऐसे अनंत-ज्ञानी व उनकी पर्यायें भी प्रत्येक केवलीके ज्ञेय हैं। जब प्रदेशसंयुक्तदृष्टि साथ काम कर रही है ऐसी दृष्टि बनायें तब आत्मा देहाकार प्रमाण है और देहाकार प्रदेशोंमें आत्माके सर्वगुण हैं। किसी द्रव्यके कोई भी गुण द्रव्यके प्रदेशसे बाहर नहीं रह सकते, क्योंकि गुणका समूह-मय प्रदेश है गुण ही रूपमें इस मात्र है, जिसे हम प्रदेश कहते हैं ऐसी प्रदेश संयुक्त दृष्टि होने पर और ज्ञानके स्वरूप लक्षणके कार्यको भी निहारने पर ऐसा ज्ञात होता कि यह ज्ञात होता कि यह ज्ञान आत्माके उन प्रदेशोंमें रहकर सारी दुनियाको जान रहा है, यह है ज्ञानप्रकाश को प्रदेशके साथ देखकर समझनेकी दृष्टि। यहां प्रदेश सम्बन्धकी दृष्टि न रखकर ज्ञानके सम-झने को दृष्टि। यहां प्रदेश सम्बन्धकी दृष्टि न रखकर ज्ञानके समझने दृष्टि है। ज्ञान सर्वगत है। जितना ज्ञेय है उतना ज्ञान है। जैसे घटज्ञान घटमात्र घटप्रमाण है तब लोकालोकका ज्ञान लोकालोकमात्र लोकालोकप्रमाण है। फिर भी जो लोग इस बातको समझे हुए हैं कि

ज्ञान आत्मा सारे गुण आधारमें रहते हैं, इसका विरोध नहीं करता। परन्तु ज्ञानके स्वरूपमें तो ज्ञान ही प्रतीत है। इस दृष्टिके रखनेपर बीचमें अपेक्षा कहनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी कि यह भावदृष्टिसे वर्णन कर रहे हैं, अतः इस दृष्टिमें सर्वथा ऐसा समझकर ज्ञानदृष्टिसे निरीक्षण करने वाले ज्ञानियो! अन्यदृष्टिको गौण करके उसकी बीचमें अन्यापेक्षा न लेकर जानने की दृष्टिसे, ज्ञानकी दृष्टिसे संवेदन करो, अनुभव करो तो ऐसा अलौकिक अपूर्व समस्त व्यापक आत्मा ज्ञान अनुभवसे बाहर न रहेगा। स्याद्वादीके किसी कथनमें संदेह नही होता और जिस समय जो कथन किया जा रहा है उस कथनमें समझमें खूब आगे बढ़नेमें संकोच नहीं होता। यहाँ ज्ञानदृष्टिसे वर्णन चल रहा है और उस वर्णनमें समझमें व्यवहार खतम होते हो तो होने दो। ये तो जब जिस दृष्टिके विषयमें लग रहा उस दृष्टिमें देखेगा। उसके विषयमें उस रूप संवेदन करेगा। ज्ञानी जिस दृष्टिको लेकर चल रहा है उस दृष्टिसे उसके रहस्यको पाता है।

ज्ञानप्रकाशकी व्यापकता—इस हेतु ज्ञानी योगीन्द्र यह कह रहे हैं कि आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। यह कैसे? समस्त आवरणके क्षयके समयमें ही लोकालोकमें पड़े हुए समस्त वस्तुवोंके आकारके पारको प्रमाण करके वह केवली उस पदस्थितिसे च्युत नहीं होता। कारण—वह ज्ञान विपक्षरहित है, सर्वके जानने रूप रहता है, अतः वह ज्ञान सर्वगत है। कमरेको देखनेपर अभी आप भी कहेंगे कि मेरी दृष्टि इस समय सारे कमरेमें चल रही है। वह दृष्टि क्या है जो सारे कमरेमें चल रही है? ज्ञेयको आश्रयमात्र करके बता रहे हो कि मेरी दृष्टि सारे कमरेमें जा रही है। उस दृष्टिको ज्ञानका क्षेत्र या आकारसे बताया जा रहा है। आप कहते हैं कि मेरी दृष्टि तो सारे नगरमें है और बैठे हो घरमें। दृष्टि को पहिचानो। उस दृष्टिसे सचमुचमें आपकी दृष्टि सारे नगरमें पहुंच गई। वह दृष्टि क्या चीज है? क्या वह पिण्डात्मक मिलेगा, आकारात्मक मिलेगा? नहीं। तब वहाँ कहेंगे कि वह दृष्टि प्रदेशापेक्षा रहित है, आकार रहित है, फिर ऐसी तो दृष्टि है जो सारे नगरमें फैली रहे। यह तो यहाँकी बात बतला रहे। इसी तरह परमार्थमें लगावो, जिनका ज्ञान समस्त लोकालोकमें व्याप्त हो गया उस व्यापक ज्ञानके चिन्ह व्यक्त करो तो वह स्वयंके क्षेत्रसे नहीं बताया जा सकता, आकार रूपमें नहीं बताया जा सकता, प्रदेशके आधारकी अपेक्षामें नहीं बताया जा सकता। इसलिये यह ज्ञान निराकार है, निराधार है। जो ज्ञान सर्वव्यापक है उस ज्ञान स्वरूपसे जब आत्माके स्वरूपको कहें तो उनका भी ज्ञानस्वरूप देखने जाननेके कारण सर्वगत है। देखो यहां उस आत्माको भी प्रदेशसे भी छोड़ दिया तो वे प्रदेश सिद्ध लोकमें व केवलि दशामें देहके आकार प्रमाण है ऐसा होते हुए भी ज्ञान भावका वर्णन सोचते, चिन्तवन करते करते आत्माकी यह प्रदेशकी सीमा ज्ञानीके उपयोगमें खतम हो जाती है। यहाँ भी हम किन

किन आधार काल क्षेत्रमें बस रहे हैं ? यह खतम हो जाती है। वहाँ एक अद्वैत ज्ञान अपने आपको प्रतिभासित करता है।

ज्ञानमुखेन आत्माका अवबोध—यहाँ यह प्रश्न होता कि जब ज्ञानका ही ऐसा वर्तन करना था तो केवल ज्ञानमयका ही वर्णन कर लेते, ज्ञानके साथ आत्माका वर्णन करनेका क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान यह है कि जैसे हम इन्द्रियोंके द्वारा एकदम पूर्ण प्रतीत हो ऐसे आमको नहीं जान सकते किन्तु आममें रहने वाले रूपको, रसको, गंधको, स्पर्शको जान सकते हैं वहां केवल रूप आदिको भी नहीं जानते। वहां हम रूपके द्वारा उस पदार्थको जानते हैं इसी तरह हम ज्ञानकी दृष्टि छोड़कर आत्माको नहीं जान सकते और आत्माकी श्रद्धा दृष्टि छोड़कर आत्माके गुणको भी नहीं जान सकते। इस लिये जब हमें आत्मा जानना हो तो आत्माके गुणमुखेन आत्माका जानना होगा। कैसे जब हमें आमको जानना होगा तो रूप आदिके विस्तारमुखेन आमको जाना जावेगा. वैसे ही आत्माके परोक्षको कभी सुख गुणके द्वारा देखो, कभी ज्ञानगुणके द्वारा, कभी दर्शनगुणके द्वारा। जो आत्मामें असाधारण गुण हैं वे उनके द्वारा जानो। वहां सर्वप्रधान ज्ञान है। अन्य जो गुण हैं वे भी अपना अनुभव करानेके लिये मानो ज्ञानका ही मुख ताकते हैं, ज्ञान द्वारा अनुभूत होनेपर तन्मय आत्माका ज्ञान होता है। जब हम आत्माको ज्ञानगुणके द्वारा जानेंगे तो ज्ञेय भी ज्ञान हो जाता है और ज्ञान भी ज्ञान रह जाता है। तब वह अनाकुलत्व लक्षण वीतरागस्वसंवेदनरूप परमपदका अनुभव रहता है जो शान्तिस्वरूप है, सुखस्वरूप है। इसलिये हम ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय आत्माको जाननेका प्रयत्न करते हैं। यह शैली तो मोक्षमार्गमें चलनेके लिये तो उपदृष्टि ही है, आत्मा को जाननेकी भी अपूर्व शैली है।

ज्ञानगुणमें सर्वात्मगुणोंका गर्भ—यद्यपि ऐसा नहीं कि ज्ञानगुणको ज्ञेय करके उसके प्रथम आश्रयसे ही आत्माको जाने, आत्मामें रहने वाले और गुणके द्वारा आप जान सकते हैं परन्तु वह जानना तब तक परकी भांति है जब तक स्वसंवेदनमें गर्भित होकर ही वे जाननेमें न आयें, क्योंकि अन्य गुणोंके बोधमें ज्ञानकी दृष्टि नहीं। आत्मामें रहने वाले अन्य किसी गुणकी मुख्यतामें जाना तो आत्माको उसे गुणमय जाना। जैसे सुख या वीर्य आदिके ज्ञानमें वह गुण झलका, इसलिये सुख, वीर्य आदिके द्वारा जब आपने जाना तो केवल सुख आदिको जाना, परंतु ज्ञानमें आत्माके सब गुण प्रतिबिम्बित हैं। जैसे कि ज्ञानमें विश्व प्रतिबिम्बित है, इसी तरह आत्मामें ज्ञानमें अनन्त गुणका प्रतिबिम्ब है। तब ज्ञानके द्वारा आत्माके जानने पर सर्वगुणमय आत्माका जानना होता है, इसलिये ज्ञानगुणके जाननेका उपदेश है। ज्ञानगुणके अतिरिक्त आत्मामें रहने वाले और गुण, ज्ञानस्वरूप न होनेके कारण वे भी दीनसे हो रहे हैं कि हे ज्ञान ! तुम हमें मानो, प्रकाश करो, हमें भी अनुभवमें लो। ज्ञानराजासे आत्मामें रहने

वाले और गुण निवेदन कर रहे हैं कि हमें अनुभव किये बिना न रहने दो, नहीं तो सत्ता असत्ता मेरी बराबर हो जायगी। ज्ञान स्वयं अपने ज्ञानस्वरूपसे ज्ञानमें अनुभव करता और अनन्त गुण भी ज्ञानके होते ही अनुभवमें आते। ज्ञानकी इतनी विशिष्टता है, ज्ञानका इतना विस्तार है इसलिये आत्माको जाननेके लिये ज्ञानस्वरूपकी प्रधानता ही है। यहां बताया कि समस्त आवरणोंका क्षय हुआ था, उस क्षयके कारण सर्वलोक अलोकमें रहने वाली जो वस्तु है उस आकारके पार को पाकर अर्थात् सबको जान करके फिर उस संवेदनसे च्युत नहीं होते।

शुद्ध ज्ञानपरम्परामें उत्पादव्ययध्रौव्यकी सिद्धि—सर्व अर्थको—लोकालोकको एक समयमें प्रभुमें जाना, उसही सर्व लोकालोकको दूसरे समयमें भी जाना। उसीको तीसरे समय में भी जाना। इसी तरह अनन्तकाल तक जानते ही रहते हैं। कितने ही लोग यह संकोच करते हैं—जितने लोकालोकको केवली प्रथम समयमें जान गये उनको ही दूसरे समयमें जाना, उन्हींको तीसरे समयमें जाना तो वहां उत्पाद व्यय ध्रौव्य क्या हुआ? परन्तु आप यह देखो पहले समयमें लोकालोकको जाना, वहां पहिले समयमें शक्ति लगाई कि नहीं और दूसरे समय में जाना तब दूसरी शक्ति पर्याय लगी। समय समयमें शक्ति लग रही कि नहीं। जाननेकी शक्ति समय समयमें उस केवलीके लग रही। पहले समयका ज्ञान पहले समयमें लगाई हुई शक्तिसे हुआ, दूसरे समयका ज्ञान दूसरे समयकी शक्तिसे हो रहा है। जब भिन्न-भिन्न समय में शक्ति लग रही है तो उसका जो परिणमन है वह उसमें तब तक है। जो पूर्व समयका परिणमन है वह उत्तर समयमें व्ययसे व्यपदिष्ट है और उत्तर समयका परिणमन उत्पाद है। जैसे एक दीपक जल रहा है और वह इतने बड़े कमरेमें स्थित पदार्थोंको प्रकाशित कर रहा है, १० मिनट तक वह दीपक जला। १० मिनट तक उसने एकरूपसे प्रकाशित किया। वहां आप यह कहें कि जिस दीपकने पहिले मिनटमें जो प्रकाश किया जिसे प्रकाशित किया वैसे ही ९ मिनट भी प्रकाशित कर रहा तो उसने दूसरे मिनटमें किया ही क्या? अच्छा भाई यदि दूसरे मिनटमें दीपकने काम नहीं किया तो दीपकको खतम हो जाना चाहिये, कार्य-हीन हो जाना चाहिये। दीपक खतम हो जावे और काम होता रहे या काम न हो और दीपक बना रहे ऐसा माननेमें अनेक दोष आते हैं। अतः दूसरे मिनटमें भी दीपक वैसा ही प्रकाश करने वाली अपनी शक्ति लगा रहा है। तब परिणमन हुआ कि नहीं। सदृश परिणमन भी तो परिणमन है, व्यतिरेकी है। यही ज्ञानमें देखो वैसा ही जाना, परन्तु दूसरे समयमें दूसरी ज्ञानतरंग है, पर्याय है। वस्तुमें वस्तुसे होने वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्यको देखो। परपदार्थके परिणमनके सम्बन्धको लेकर कहे जाने वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्यका मूल्य नहीं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य तो द्रव्यमें होते, फिर परद्रव्यमें निमित्त क्यों घटाया जावे? केवल यह अशुद्धभावकी

बात है जो पर प्रत्ययक उत्पाद व्यय देखे जाते तथापि यह जो रागद्वेष पैदा होते हैं वहाँ भी वे परद्रव्यको निमित्त पाकर तो हुए सही, फिर भी स्वयंमें घटावो—वहाँ परके कारण उत्पादव्यय नहीं किन्तु जो पूर्वराग है वह उत्तरकालमें व्ययरूप है और उत्तरराग उत्पन्न है उन सब अवस्थावोंमें अनुगत तदभावोंके अव्ययरूप ध्रौव्य है।

शुद्ध ज्ञानपर्यायके प्रसंगमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य—इसी प्रकार शुद्धज्ञानपर्यायकी बात है। वहाँ भी पूर्व उत्तरकालकी अवस्था उत्पादव्ययरूप है। उन सबमें ज्ञानसामान्यरूप भाव ध्रौव्य है। यदि परपदार्थके निमित्तसे ही उत्पादव्यय करें तब यहाँ यह आलोचना करना होगा कि क्या भगवान्के भी विकल्प उठते हैं ? यह वर्तमान पर्याय है, यह भूतपर्याय हो गई यह अभी भविष्य है सो ऐसा विकल्प तो है नहीं। कदाचित् मान भी लो ऐसा विकल्प प्रकट न होकर अव्यक्तरूपमें ऐसा जान पड़ता हो तो भी उस अव्यक्तके फेरसे उत्पादव्यय ध्रौव्य सिद्ध करनेमें द्रव्यका मूल्य न आयगा। द्रव्यमें ही होने वाले स्वयंके परिणमनमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य करनेसे द्रव्यका असली मूल्य प्रतीत होगा। हां तो इस तरहसे केवलीका ज्ञान उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त होता है व केवली भी उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होता है। जैसे कोई आदमी वजनदार वस्तुको एक शैलीसे उठा रहा है तो यहाँ देखो कोई यह कह बैठे कि वह तो जिस शैलीसे उठा रहा है वस्तु उठ रही है या वह उठा रहा है कि इसमें दूसरे समय भी काम क्या हुआ ? तब कोई आपही उठाकर देखलो—दूसरे समयमें शक्ति लग रही या नहीं। अनुभव बताता है कि मैं प्रत्येक समयमें काम कर रहा हूं। यहाँ तो हमारी खुदकी शक्ति लग रही ना। जिससे हमें विश्वास है कि प्रतिसमयमें मैं काम कर रहा हूं। हम ही प्रतिसमय एकसा काम करें तो हमारे यहां भी अनुभव है कि मैं नया-नया परिणमन करता हूं।

केवलज्ञानकी सकलपारगामिता—इसी तरहसे केवलीमें देखें एकसा काम करते हुए भी केवलज्ञानोके प्रति समय नया काम हो रहा, इसी प्रकार जब शुद्ध आत्मामें ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय चारों घातिया कर्म नहीं रहे उस समयमें अपने आप ही समस्त लोकालोककी वस्तुके आकारके पारको प्राप्त हो गये। इसका भाव यह है कि सबका ज्ञान कर लिया। जैसे कोई नदीके उस पारको पा ले तो उस पार पहुंचनेपर यह कह देते कि नदी पार करली। उस पार करनेके मायने यह हैं सारी उस नदीका अवगाहन कर लिया। इसी तरहसे केवलीने समग्र वस्तुके आकारके पारको पा लिया, इसका यह भाव है कि केवली ने समस्त वस्तुवोंको पा लिया, जान लिया। यहाँ यह शंका उठती है कि जब भगवान सर्वज्ञने समस्त वस्तुको जान लिया तो इसमें तो पर्यायका अन्त आ गया। अच्छा भैया ! पर्यायका अंत आ जायगा इस डरसे हमें यह बतलावो ज्ञान कितनी पर्यायोंको जानता है ? शंकाकार यह कहेंगे कि मानो ज्ञानने १० के मानिन्द अनगिनते को जाना जिनको सीमा है तो उन दस पर्यायोके

अतिरिक्त जो अन्य पर्यायें हैं उनके ज्ञानका आवरण हो गया, यही सिद्ध हो गया ना। क्यों कि यदि ज्ञान है तो आवरण नहीं, ज्ञान नहीं तो आवरण है। यदि १० पर्यायको जाना तो जितनी पर्यायें जाननेमें न रहेंगी उनका आवरण अर्थात् ज्ञानावरण आत्मापर रहा सो तो सिद्धान्त विरुद्ध है, वह शुद्ध द्रव्य कैसा ? भगवानने तो यही बतलाया कि आवरणका उनके लेश ही नहीं। जब आवरणका लेश नहीं तो यह कहा जायगा कि केवलीने सर्व जाना। सर्व कितना है जिसका अंत नहीं इतना सर्व जाना। ज्ञान जब अपनी शुद्धावस्था पाता है आवरण का समूल नाश हो जाता है, तब उस ज्ञानके अंदर सीमा नहीं रह सकती। फिर या तो उस ज्ञानमें यह मानो कि उसने परको नहीं जाना, केवल अपने आपको जानता। यदि परको जाना तो वहाँ पर सीमा नहीं लगाई जा सकती कि इतना ही जाने। ज्ञानका स्वभाव ही जानना है। आवरणका अभाव होनेपर जाननेकी सीमा संभव ही नहीं ! ज्ञान स्वको भी जानता और परको भी जानता, अतः दोनों बातें निज स्वच्छता, अंतर्ज्ञेय व उपचारसे पर-पदार्थोंके जाननेकी बातें युक्त हैं। ऐसा वह ज्ञान जो लोकालोकमें विभक्त वस्तुवोके आकारके पारको प्राप्त हो गया फिर वह वैसे ही प्रकाश रूपसे होता रहता, च्युत नहीं होता, आगे चला ही जाता।

विश्वज्ञानाधिकारीका आनन्दाधिकार—अन्यच्च—इस विशुद्धज्ञानके साथ विशुद्धसुखका ही अनुभव होता है व वहाँ अनन्त शक्ति है। ऐसा नहीं है कि केवल जाने और सुख शक्ति आदि की बात ही न हो, क्योंकि यदि अनन्त सुख अनन्त शक्ति आदि न हो तो वह विश्वपर ज्ञानका अधिकार भी नहीं रख सकता। जैसे किसी आफीसरको कोई अधिकार दिया तो उसके मात्र एक ही अधिकार न समझना, वहाँ सम्बधित अनेकों अधिकार गर्भित हैं। यदि अनेक अधिकार न हों तो कामको नहीं कर सकता। यदि किसीको अधिकार दिया कि जिस पर शक हो उसे गिरफ्तार कर लो इस अधिकारमें जाँच करनेका अधिकार भी गर्भित है, किसीकी गवाही का भी अधिकार है, किसी अफसरको सूचना देनेका भी अधिकार है, अधीनस्थोंको आर्डर देनेका भी आदि अधिकार गर्भित है। कितने अधिकार साथ हैं तब वह एक कामका पूर्ण अधिकारी है। इसी कुछ तरहसे प्रतीति कर ले—केवली भगवानको मात्र जाननका अधिकार है। इतना ही नहीं है, उनमें अनंतशक्ति अनंत सुख आदि अनेक शुद्ध परिणामाधिकार हैं। देखो जैसे केवलीको अनंत सुखका अधिकार न दिया जाय तो जाननेका भी काम नहीं कर सकता। क्यों नहीं कर सकता ? आपको दुखी रखकर कोई क्या काम कर सकता है, नहीं ? वहाँ अनंत सुख नहीं तो प्रतिपक्ष विधि किसकी हुई ? दुःखकी। तो दुखी होकर उत्कृष्ट निर्मल काम नहीं कर सकता या किसीको दुखी रख कर करवा सकता अथवा उस ज्ञानका लाभ क्या रहा व इसका ज्ञान निर्बाध कैसे रह सकेगा ? अतः सर्वगुण

शुद्ध परिणमते हैं।

कैवल्यमें अनन्त अधिकार—देखलो एक जाननेके लिये एक कामके लिये कितने अधिकार चाहियें, चीज वह एक है उसमें विलास कितना हो रहा है ? वह हो रहा है अनंत। इसलिये एक आत्मद्रव्य कितना बड़ा है ? विचारो क्या भाव है ? इसको यदि देखो तो एक बड़े भारी नगरकी तरहसे भी देख सकते। यह एक बड़ा भारी शहर है। इसकी तरह मानों यह आत्मा ही एक बड़ा भारी शहर है। इस शहरके अन्दर यह ज्ञान यही तो राजा है, यह ही मंत्री है, यह ज्ञान ही कोटपाल है इसके अंदर जितने गुण हैं वह सारी प्रजा है। नगरमें जो जो तत्त्व हैं उन सब जैसा आत्मामें घटा सकते हैं। यह तो नगरसे भी विचित्र बात है अभेद रूप वस्तुका अभिन्न इतना परिकर। इसका काम देखो तो जैसे किसी मिलको देखते हैं वहाँ सब अपना अपना काम कर रहे हैं। यहाँ सर्वगुण अपनी-अपनी जगह स्वलक्षण कार्य कर रहे हैं। देखो सिद्धका सुख कहां रहा ? मानो मैं अनंतसुखका परिणमन करता रहूंगा, ज्ञान कहता है मैं सबको जानता रहूंगा, वीर्य कहता है मैं उन कामोंको पूरा कराऊंगा यही इसका व्यापार हो रहा है तो दर्शन कहता है मैं अपनेमें सामान्यरूपसे लोकालोकको अर्थात् अनन्त प्रतिभासको देखूंगा। दर्शनने किया यह तो ज्ञान कहता है, तू अपनेमें सामान्यरूपसे लोकालोकका प्रतिभास करले और मैं तुझे जानूँ तो सर्वज्ञ हो गया। इस तरह दर्शन भी कहता। देखो कितना चमत्कार है ? आत्मामें ज्ञान अपना काम कर रहा है और यहाँ शुद्ध अवस्था चल रही है। यहाँ ज्ञानका विस्तार भी अनंत हो रहा है, यह है भावका विस्तार। क्षेत्रका विस्तार प्रदेशको लेकर होता है, भावका फैलाव प्रदेशको न जगाकर होता है। इसी लिये उसमें किसी सीमाकी संभावना नहीं, ऐसा वह ज्ञान केवलीके है। वह ज्ञान सर्वगत है। इस तरह २३ वीं गाथामें आत्माको ज्ञान प्रमाण सिद्ध किया और ज्ञानको सर्वगत सिद्ध किया।

ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी एकतामें विडम्बनाकी समाप्ति—जो अपने आपको ज्ञानस्वरूपसे चलेगा उस ज्ञानस्वरूपके स्मरणसे आत्माकी अन्य झंझटें इस ज्ञानमें न रहेंगी और यह ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानमें ही अनुभव करेगा तो हमारी क्या पर्याय होगी ? वह पर्याय होगी जहां ध्यान ध्याता ध्येयका विकल्प भेद नहीं, चैतन्यकर्ता वही कर्म वही करण वही क्रिया हो। यह दशा अनुभवनीय है। समयसारमें लिखा है—यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत् तत्कर्म। या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ परिणमन कर रहा है जो परिणमन हो रहा है, जो परिणमति क्रिया होती है ये तीनों वास्तवमें एक वस्तु हैं भिन्न भिन्न बात नहीं। ऐसा सुनकर आप कहेंगे इस ज्ञानभावनामें विशेषता क्या ? वहाँ तो शुद्धता है सो प्रश्न वासना नहीं किन्तु यहाँ भी तो चाहे मोही हो सब कर्ता कर्म क्रिया एक ही है, यह तो वस्तुका स्वरूप है। फिर ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जाननेका उपदेश निर्विकल्पकताके लिये

युक्त है ही। जहाँ कर्ता भी ज्ञान है कर्म भी ज्ञान है, उस विषयमें क्या कहना है ? जो ज्ञान परपरिणतिके उपरागसे रहित है ऐसा ज्ञान ही सही ज्ञान है और जगह तो यह भी हो जाता है कि करने वाली यह ज्ञान है और ज्ञानका जो विषय है वह पर ज्ञेय है, ऐसा भी है तो भी एक वस्तुको देखो—कर्ता, कर्म, क्रिया एक ही है। निश्चयदृष्टिमें कर्ता, कर्म, क्रिया एक ही है, व्यवहार दृष्टिमें कर्ता, कर्म, क्रिया भिन्न भिन्न है। फिर जहां अन्तर्व्यवहारकी दृष्टिमें भी कर्ता, कर्म, क्रिया एक हो जाय उसका यह वर्णन है। वैसे तो ज्ञान, ज्ञानगुणकी क्रिया है ऐसा जानना तो हो रहा, पर जहां जानका विषय व्यवहार होकर ऐसा हो ज्ञान ज्ञेय हो, ऐसा ही वह अन्तर्व्यहारमें रहा। जहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय एक है उस एक ही बातको देखो, रहो फिर आपमें सब बातें आ ही जायेंगी।

एक उपयोगमें सर्वस्वसिद्धि—एक आदमी कुलदेवताको पूजता था—उसने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि जो तुझे मांगना हो मांग वह पुरुष घर आया स्त्रीसे कहा मुझे वरदान मिल रहा, बता क्या मांगे ? वह बोली बेटा माँगना। फिर माँ के पास गया, पूछा क्या मांगें ? वह अन्धी थी, उसने कहा मेरी आँख मांगना। फिर वह पिताके पास गया तो उसने कहा धन मांगना। वह विचारमें पड़ गया मैं किसकी बात मांगू और किसकी नहीं। इतनेमें उसे एक तरकीब सूझ आई और गया वरदान लेने, भक्ति की। तब कुलदेवताने कहा वरदान मांग तो वह कहता है कि मैं चाहता हूं कि मेरी माता अपने पोतेको सोनेके घड़ेमें दूध पीते हुवे देखे। तो देखो इस एक मांगमें सोनेका घड़ा आ गया पिताकी इच्छा पूरी हुई। माता पोतेको देखेगी सो मां को आंखें मिल गईं। पोतेको देखनेपर स्त्रीको बेटा मिल गया। एक मांग करो। यहां भी आप अनेक कुछ न सोचो—एक अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावको ही देखो। इस एक काम करनेमें सब काम आ जायगा। सब कामोंकी कषायें न करो। एक काम करो मोक्षमार्गके लिये। वस काम क्या है ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका उपादान रूपसे कारण पाकर अपना इस एक लक्ष्य रूप महान् पुरुषार्थ। यही एक उपयोगमें लो। इस तरह ज्ञानदृष्टिसे आत्माकी सिद्धि बतलाई।

आत्माको ज्ञानसे हीनाधिक माननेपर आपत्ति प्रदर्शनका उपोद्घात—अब कहते हैं कि आत्माको ज्ञानप्रमाण न माननेपर क्या आपत्ति है ? इस विषयक प्रश्नपर दो पक्ष उठाकर दूषण देते हैं समाधान करते हैं। किन्हीं दार्शनिकोंके किसी दृष्टिके कथनको किसी जगह मिला देने पर यह अब हो गया था कि आत्मा तो एक सर्वव्यापक है, उसमें चित्तका मनका संपर्क होनेपर ज्ञान होता है और ऐसी अवस्थामें ज्ञान आत्माके बराबर नहीं माना जा सकता या आत्माको ज्ञान बराबर नहीं माना जा सकता है अर्थात् ज्ञान व्याप्य है। यहां किन्हीं दार्शनिकों को यह आभास हो गया कि ज्ञान चैतन्य एक ब्रह्म वह सर्वव्यापक है। उसके प्रकाशमें

इस जीवको देहमें अभ्यास होनेपर अपनी सीमितता जानी और वही सीमामात्र रहस्यका ज्ञाता होते ही आत्मा कहलाता है तब आत्मा व्याप्य चीज है, ज्ञान व्यापक है। इसी प्रकार अनेक विकल्पोंमें भूलते हुए मुमुक्षुवोंको प्रतिबोधनेके लिये भगवान् कुंदकुंदाचार्य दो पक्षोंको उठाते हुए उपदेश करते हैं—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहियो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणदि।
अहियो वा णाणादो णणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

आत्माको ज्ञानसे हीनाधिक माननेपर आपत्ति—जिस वादीके मतमें आत्मा ज्ञान-प्रमाण नहीं है उसके मतमें वह आत्मा या तो ज्ञानसे हीन (कम) होगा या ज्ञानसे अधिक होगा। दोमें से कुछ एक निश्चित ही है। यदि वह आत्मा ज्ञानसे हीन अर्थात् ज्ञानप्रमाण न होकर उससे कम प्रमाणवाला है तब आत्मा तो हुआ छोटा और ज्ञान हुआ अधिक, तब आत्मासे बाहर रहा हुआ जो ज्ञान है उसका चेतनात्मक द्रव्य जो आत्मा है उससे संबंध तो रहा नहीं तब उस आत्माका वर ज्ञान अचेतन हो गया, फिर जो अचेतन है वह जानेगा ही कैसे और जो जानता नहीं है वह ज्ञान ही क्या ? यों तो ज्ञान असत् ही हो गया। यदि आत्माको ज्ञानसे अधिक अर्थात् ज्ञान तो छोटा है उससे आगे भी आत्मा है ऐसा मानोगे तब जो आत्मा अधिक है वह ज्ञानसे रहित है, जो अचेतन है। इस तरह अचेतन आत्मा जानेगा क्या ? जो नहीं जानता वह तो पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल है इनसे अतिरिक्त अचेतन अन्य क्या ? इस तरह आत्माका ही अभाव हो गया।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी ज्ञानप्रमाणताकी सिद्धि—जैसे अग्नि उष्णप्रमाण है। यदि वहां कोई कहे कि हम अग्निको उष्णप्रमाण नहीं मानते तब दो ही तो पृष्टव्य पक्ष होंगे। क्रिया तो वह अग्नि उष्णतासे कम होगी या अधिक होगी। यदि अग्नि उष्णतासे कम है अर्थात् अग्नि छोटी है और उष्णता बड़ी है तब वह उष्णता जो अग्निसे अधिकमें है वह अपने आश्रयभूत उष्णात्मक द्रव्यके समवायमें तो रही नहीं, फिर आश्रयरहित उष्णता उष्ण न होकर शीतल ही रही सो अयुक्त है। इसी तरह यदि अग्निको उष्णतासे अधिक मानो तब जो अग्नि उष्णतासे आगे है अर्थात् उष्णताके स्वभावसे रहित है वह अग्नि शीतल ही हो गया। अब वह अपना काम जो दाह आदि है वह कैसे कर सकता ? इस तरह तो अग्नि असत् ही हुआ। तब अनुभव युक्ति उपदेश पुस्तकोंके मिलान करने पर यह ही बात निर्विवाद सत्य है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण ही है। कितने ही लोक आत्माको अङ्गुष्ठके पर्वके बराबर मानते हैं या वटवृक्षके बीजके बराबर सूक्ष्म मानते हैं। ऐसी क्या यह आत्मा दवाईकी गोली है क्या ? अनुभव तो इसका मजाक ही करेगा।

आत्माकी अखण्डता व स्वव्यापकता—यहां आत्माके ज्ञानप्रमाणकी बात चल रही थी। वह भावकी अपेक्षा वर्णन था। अब कुछ समय थोड़ी देरके लिये जरा प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मा कितना है—इस विषयको ही लीजिये। इस आत्माके बारेमें कितने ही लोग तो यह कहते हैं कि वह एक विश्वव्यापी है, उसके प्रकाशमें देह मन जुदे ही काम करते हैं अथवा एक आकाश है और जुदे-जुदे घटकी कैदमें घटाकाश न्यारे-न्यारे हैं तो यहाँ परीक्षा करें, जो वस्तु एक है वह अखंड होती है। अखंडमें यह प्राकृतिक चमत्कार है उसके किसी अवयवमें जो परिणमन हो वह पूरेमें परिणमन करता है परन्तु हम यहाँ देखते हैं एक देहधारी आत्मा सुखी है तो कोई दुःखी है, एक ज्ञानी है तो एक मूर्ख है और उसमें भी अनेक तरतमताके साथ। इससे यह आत्मा सर्व एकव्यक्तिरूप हो यह प्रसिद्ध नहीं होता। यदि यह कहो कि घटबद्ध आकाशकी तरह न्यारे न्यारे हैं तो देहबद्ध भी हो तब भी आकाशकी तरह सब आत्माओंका तो एक परिणमन एक ही रहना चाहिये। तीसरी बात—देह मनपर आत्माका प्रकाश क्यों पड़ा, अन्यपर क्यों नहीं ? क्या देह या मन चेतन है इसलिये प्रकाश पड़ा तब देह मन स्वयं ज्ञानवान हो गये तो वह चेतन आत्मा ब्रह्म आदि कुछ कहो, हो गया। इस तरह अनेक युक्ति अनुभवोंसे यह ही सिद्ध होता है कि आत्मा अनेक हैं और वह देह व द्रव्य-मन रूप भी नहीं अर्थात् ये आत्माकी पर्याय भी नहीं है।

आत्माका प्रदेशपरिमाण—अब विचारना है कि प्रत्येक आत्मा प्रदेशापेक्षया कितना बड़ा है तो इसका सीधा उत्तर तो यह है कि जितनेमें आत्माको सुख है, दुःख है, अनुभव है उतना है और यह देहप्रमाण जैसे प्रमाणमें प्रतीत हो रहा है। हाँ देहमें जो ऊपर बाल निकले हैं नख निकले हैं या मक्खीके पर जैसी सूक्ष्म ऊपरी त्वचा है वहां आत्मा नहीं। कभी कभी आत्मा देहसे अधिक प्रमाणमें फैल जाता है परन्तु किसी भी स्थितिमें स्वप्रदेशसे बाहर हो ही नहीं सकता है। जिन परिस्थितियोंमें आत्मा देहके प्रमाणसे अधिक क्षेत्रमें रहता है उन परिस्थितियोंका नाम समुद्घात है। समुद्घात ७ होते हैं—१ वेदनासमुद्घात, २ कषायसमुद्घात, ३ मारणान्तिक समुद्घात, ४ विक्रयासमुद्घात, ५ आहारकसमुद्घात, ६ तैजससमुद्घात, ७ केवलिसमुद्घात।

वेदना, कषाय, मारणान्तिक व विक्रियासमुद्घात—जब देही किसी अधिक वेदनामें होता है, यदि पुण्योदय हो तब वह आत्माको न छोड़कर देहसे बाहर फैलता है और औषधि का सूक्ष्म शरीरसे स्पर्श करके देहमें पूर्ववत् प्रविष्ट होता है। इस क्रियासे वह निरोग भी हो जाता है इसे वेदनासमुद्घात कहते हैं। कोई न भी स्पर्श करे व मात्र समुद्घात ही रहे। प्रत्येक समुद्घातोंमें यह भाव नियमित लेना कि वह आत्म अपने मूल देहको न छोड़कर बाहर विसर्पण करता है। इसी तरह जब देही तीव्र कषाय करता है, संक्लिष्ट होता है तब कुछ

ही अधिक देहसे बाहरके क्षेत्रमें फैलता है। इस विषयमें तो कई कहावतकी परम्परा भी चल रही है—जब कोई तीव्र क्रोध करता है तब उसे कहते हैं कि आप आपेसे बाहर क्यों होते जा रहे हैं। फिर थोड़े ही कालमें संकुचित होकर पूर्ववत् रहता है। अब मारणान्तिक समुद्धातकी बात कहते हैं। जब देही मरणके समय विकल्पित होता है तब कोई कोई मरणसे पहिले ही जहाँ नव जन्म होगा उस क्षेत्र तक उस आत्माके प्रदेश फैलकर क्षेत्र छू आते हैं और वापिस पुनः पूर्ववत् देह प्रमाण हो जाता है। इसी तरह देव नारकी या विक्रिया ऋद्धि वाले मनुष्य अपना विक्रियासे देह बढ़ाते हैं या अन्य उत्तर देह बनाते, उस समय वह आत्मा मूल शरीरको न छोड़कर उससे बाहर होकर उत्तर देहमें व बीचके क्षेत्रमें फैला रहता है। विक्रिया समाप्तिके बाद पूर्ववत् देहमें प्रविष्ट होता है। यदि कोई देव २—४ घन्टेको उत्तर विक्रिया करे तो वहाँ भी अन्तर्मुहूर्तमें नया प्रयत्न योग करना पड़ता है यह विक्रिया समुद्घात है।

आहारक व तैजस समुद्धात—अब आहारक समुद्घात कहते हैं। आत्मज्ञानी बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह आरम्भसे रहित साधुके जब किसी विशिष्ट तीर्थवंदना या तत्त्वचर्चणका परिणाम होता है तब आहारक ऋद्धिवाले साधुके ध्यानावस्थामें मस्तकसे एक हस्तप्रमाण धवलवर्ण आहारक शरीर प्रकट होता है। वह तीर्थ व तीर्थंकर केवली श्रुतकेवली दर्शन कर वापिस देहमें विलीन हो जाता है और आत्मप्रदेश भी जो कि सूक्ष्मशरीरबद्ध होकर मूल शरीरसे बाहर गये थे वे देहमें प्रविष्ट हो जाते हैं। यह आहारक समुद्घात है। अब तैजस समुद्घात कहते हैं—तपस्वी साधुके तपोबलसे तैजस ऋद्धि प्रसिद्ध होती है। इस ऋद्धिके कार्य स्वरूप दो प्रकारके शरीर व्यक्त होते हैं—१ शुभ तैजसशरीर, २ अशुभ तैजसशरीर। जब साधुके प्रसाद होता है प्रजाके भले करनेका परिणाम होता है तब उनके दाहिने कंधेसे शुभ-तैजस प्रकट होता है और वह चारों ओर बारह योजन तक फैलकर प्रजाके अन्तरंग पुण्योदय से सुभिक्षका निमित्त बन जाता है। किन्तु जब साधुके किसी कारणसे क्रोधकी तीव्रता हो जावे तब बांये कंधेसे अशुभ तैजसशरीर प्रकट होता है यह बारह योजनके भीतर जहाँ तक फैलता है वहां वे प्राणी गृह आदि सब जलजाने का निमित्त बन जाते हैं। यह तैजस शरीर मूलशरीरसे भिन्न दूसरा सूक्ष्मशरीर है, इसका आश्रयकर आत्मप्रदेश भी मूल शरीरसे बाहर फौरन जाते हैं और पुनः अन्तर्मुहूर्तमें ही देहमें प्रविष्ट हो जाते हैं। अशुभ तैजसशरीर प्रकट करनेके निमित्तभूत कषाय तीव्रतासे साधु सम्यक्त्वसे भी च्युत हो जाता है।

केवली समुद्धात—अब केवली समुद्घात कहते हैं—कर्मक्षयके लिये अर्थात् विशुद्ध-चैतन्यसमवस्थितिके लिये उद्यत निष्परिग्रह अन्तरात्मा वीतरागस्वसंवेदनपरिणामबलसे जब घातियाकर्मोंसे रहित हो जाता है तब अनंतज्ञानी अनंतद्रष्टा अनंतसुखी अनंतशक्तिमान् केवली

हो जाता है। इस केवली भगवान्के शेष बचे हुए वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघातिया कर्मों में से जब आयुकी स्थिति थोड़ी और शेष तीनकी अधिक ऐसी स्थिति होती है तब आयुके बराबर सर्वकर्मोंकी स्थिति जिस क्रियामें हो जाती है वह केवलि समुद्घात है। केवलिसमुद्-घातमें— केवलीके आत्मप्रदेश पहिले समयमें दंडाकार होकर चौदह राजू ऊंचे देहकी चौड़ाई से तिगुने प्रमाण चौड़े फैल जाते हैं। दूसरे समय वे आत्मप्रदेश कपाटकी तरह चौड़ाईमें त्रस-नाली तक फैल जाते हैं, तीसरे समयमें प्रतररूप अर्थात् चारों ओर मात्र थोड़े वातवलयों को छोड़कर सर्वत्र लोकमें फैल जाते हैं। फिर चौथे समयमें सर्वलोकमें फैल जाते हैं। फिर पांचवे समयमें संकुचित होकर प्रतररूप, छटे समयमें कपाटरूप, सातवें समयमें दंडाकार व आठवें समयमें देहमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इस व्यापारमें बड़ी स्थितिके कर्मोंकी स्थिति कम होकर आयुके बराबर होने लगती है। जैसे घरी किये हुए गीले कपड़ेको इकहरा फैला दिया जाय तो उसका गीलापन जल्दी नष्ट हो जाता है। इस तरह उक्त समुद्घातोंमें तो आत्मप्रदेश देहसे बाहर भी कुछ क्षणोंको हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त सदा आत्मा प्रदेशापेक्षया देहप्रमाण ही है। यहाँ तक कि जो अष्टकर्मोंसे मुक्त हो गये ऐसे सिद्ध प्रभु भी यद्यपि उसके देह भी नहीं है तथापि पूर्व अर्थात् चरम देहके आकार प्रमाण ही रहते हैं।

ज्ञानप्रधानदृष्टिसे आत्माका परिमाण—अब आत्माको अपने प्रधान ज्ञान भावकी दृष्टि से देखें—तो यदि यह आत्मा ज्ञानसे कम माना जावे तो आत्मासे अतिरिक्त क्षेत्रमें पाया गया जो ज्ञान है वह अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्यके समवाय—तादात्म्यका अभाव होनेसे अचेतन हो गया और वह रूप आदि गुणोंकी तरह ही जड़ अचेतन होने पर वह जानना नहीं कर सकता; जैसे रूप, रस आदि गुण हैं वे चेतनद्रव्यके नाम ही ज्ञान तादात्म्यसे रहित हैं वे तो जानना नहीं रखते। फिर उसका नाम ही ज्ञान क्यों रखा? यदि आत्मा ज्ञानसे आगे भी हैं अधिक ऐसा हठ करो तो ज्ञानसे अतिरिक्त क्षेत्रमें व्याप रहा आत्मा ज्ञानसे तो रहित है अर्थात् अज्ञान है अचेतन है तब जैसे ज्ञानसे रहित घट पट आदिकी तरह हो गया और जैसे घट पट आदि ज्ञानशून्य होनेसे कुछ नहीं है, इसी तरह वह नाम मात्रका आत्मा कुछ जानेगा ही नहीं। ज्ञान बिना आत्मा क्या और आत्मा बिना ज्ञान कहाँ? इसलिये अनुभवमें भी अब आने वाला यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये।

ज्ञानस्वभावी सत्की सिद्धि—कितने ही अन्वेषक आत्मा एक पदार्थ है और मन भी एक पदार्थ है। दोनोंका सम्बन्ध होनेसे ज्ञानरूप विद्युत उत्पन्न होती है ऐसा कहते हैं वे पृष्टव्य हैं कि वह विद्युत अर्थात् ज्ञान चाहे दोनोंके सम्बन्धमें हो परन्तु है किसकी पर्याय? मनकी तो हो नहीं सकती, क्योंकि मनको अचेतन माना है वह आत्माकी पर्याय है तब फिलहाल यह तो सिद्ध हो गया कि ज्ञानशक्ति आत्मामें है, चाहे मनके सम्बन्धसे व्यक्त हो। अब मनको देखें

मन क्या वस्तु है ? मन एक जड़ पौद्गलिक पदार्थ है, उसको आश्रय करके निमित्तमात्र पा करके आत्मा ज्ञानशक्तिके विकासरूप कार्य करता है। मन अतिन्द्रिय है या अन्तःकरण है, भीतर की इन्द्रिय है। यों तो इस अशक्त अवस्थामें स्पर्शन रसना प्राण चक्षु कर्ण इन इन्द्रियों को भी आश्रय करके आत्मा जानता है तथा बाह्यमें प्रकाश आदि अनेकको निमित्तमात्र पा करके जानता है तो फिर आत्मा और अनेक पदार्थोंकी रगड़से ज्ञान बन बैठेगा। अतः यह मानना चाहिये कि आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानमय है, परंतु अनादिसे ज्ञानावरण सूक्ष्म कर्मस्कंध के विपाकको निमित्तमात्र पाकर हीनज्ञानकी अवस्थासे परिणम रहा है और उस अवस्थामें इन्द्रिय व मनको निमित्तमात्र पा करके आत्मा अपने ज्ञानस्वभावसे यथायोग्य पर्यायरूप परिणमता है ऐसा न मानने पर अर्थात् इस दृष्टिसे आत्माको ज्ञानप्रमाण न मानने पर भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं, अतः आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये। देखो अज्ञानकी महिमा स्वयं ज्ञानमय तो आत्मा है और अपने स्वरूपके ही निर्णय करनेमें बड़ा परिश्रम करनेपर भी सफल नहीं हो रहे हैं। अरे भैया ! सर्व इन्द्रियोंको संयमित करके भेदज्ञानसे सर्वविश्वसे भिन्न निज ज्ञानमय आत्माको निज एकत्व—अभेद स्वभावसे ध्यान करके स्तिमित अन्य लक्ष्यसे रहित अन्तरात्मा होकर तुझे ही जो क्षण करके ही सही, जो दिखेगा अनुभव होगा वही तो आत्माका रहस्य है। वहाँ पता होगा कि आत्मा तो सहजज्ञान सुखमय है। अतः आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानप्रमाण है।

आत्माकी ज्ञानस्वभावता—कितने ही अन्वेषक आत्मा एक पदार्थ हैं, ज्ञान एक पदार्थ है और ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी है ऐसा मानते हैं। वे कुछ देर सोचें कि जब ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी हुआ तो आत्मा तो स्वभावसे अचेतन अज्ञान ही रहा तो जैसे आत्मा है वैसे घट पट आदि पदार्थ हैं, फिर ज्ञानका समवाय आत्मामें ही क्यों होता घटादिमें क्यों नहीं होता ? इसके कुछ भी कारण खोजो। जैसे कि आत्मामें ज्ञान ज्ञान है यह प्रत्यय है सो वहाँ ही समवाय है आदि वहाँ भी यही प्रश्न है कि ज्ञानके स्वभावके अभावमें वहाँ ही ऐसा क्यों ? तथा ज्ञानसमवायसे पहिले आत्माकी क्या स्थिति है आदि अनेक दोषोंसे दूषित होनेपर यही मानना युक्त है कि आत्मा स्वभावसे ज्ञानमय है। यहाँ आप यह तर्क कर सकते—जब आत्मा ज्ञानस्वभाव है तब आत्मासे यह ज्ञान कभी दूर होगा नहीं तब निर्वाण कैसे होगा ? परन्तु भाई ज्ञानका स्वभाव मात्र प्रतिभास है, जो उसके साथ विकल्प लगे हुए हैं वह तो औपाधिक दोष हैं, तुम्हारे मतमें शायद संकल्प विकल्पज्ञान ही ज्ञान होगा, ऐसा ज्ञान तो वहाँ नष्ट हो ही जाता क्योंकि वह औपाधिक दोष है, ज्ञान तो वहाँ भी रहता है आवरणोंके क्षय होने पर वह ज्ञान सर्वका ज्ञाता हो जाता। यदि ऐसा न मानो अर्थात् आत्मा इस दृष्टिमें व वैसी निर्वाण दशाको देखते हुए ज्ञानप्रमाण नहीं है ऐसी धारणा करो तो अनेक दोष उपस्थित

होते हैं। अतः आत्माको ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये।

ज्ञानस्वरूप अनुभव करनेमें गौरव—देखो भैया! अभी किसीसे कहो कि तू ज्ञानरहित है, अज्ञान है तो वह बहुत बुरा मानता है। क्यों भाई उनके वर्तमानको जब बताया जा रहा है, प्रशंसा की जा रही है तो बुरा क्यों मानते? और यह कहा जावे कि तुम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञानवंत हो तो वह उसे रुचता, तो मालूम होता कि ज्ञान तो स्वभाव है और अज्ञान आत्माकी दुखावस्था है। जैसे किसीको कहा जाय कि तू क्रोधी मानी है तो वह सुनता नहीं चाहता और कहा जावे कि तुम बहुत शाँत हो तो वह ऐसी ही रुचि करता तो शांति स्वभाव ही है और क्रोध आदि विभाव हैं। यह विद्वानोंकी बातमें की बात है, नहीं तो विषयी जीवोंसे तुलना कर दोष देने लगो। सो ठीक नहीं अथवा विषयावस्थामें भी देखो तो स्वभावकी बात भीतरसे सुहाती है। बहुत विस्तार करके क्या? आत्माके ज्ञान प्रमाणकी बात सर्वके अनुभव की वस्तु है। यह बात कहने सुनने से नहीं उतरती किन्तु अनुभवसे पूर्ण प्रमाणरूप होती है। जैसे मिश्री का स्वाद कहने सुननेसे नहीं आता वह तो चखनेसे ही आती है।

ज्ञानानुभवमें तृप्तिका संदेश—अतः हे मुमुक्षुजनों! आत्माको ज्ञानमय ज्ञानप्रमाण मानकर श्रद्धा करके उसे स्वयं पूर्ण अखंड सर्व विश्वसे पृथक् एक वस्तुरूप निरखो, उसीमें रुचि करो, रत होओ, तृप्त होओ, स्वयं ही महान अनुपम स्वाभाविक सुख प्राप्त होगा। यह आत्मा स्वयं अचिन्त्यशक्तिक है। मात्र परके लोभ—संयोगाधीन दृष्टि रखकर ही स्वयंके उपयोगमें हीन बन रहा है। भाइयों! इस आत्मरहस्यकी बात अब न समझोगे तो और कब समझोगे? आत्मा तो इस शरीरसे बिदा होकर नये शरीरमें बसेगा। यदि असंज्ञी पर्याय पाई तब तो गये बीते ही हो गये, फिर क्या है? कोई पूछने वाला ही नहीं। यह मनुष्य पर्याय श्रेष्ठ पर्याय है। यदि मनका सदुपयोग नहीं किया तो कर्म मानो यह समझकर या जीव ही मानो यह समझकर इसे मनकी जरूरत नहीं तो क्षयोपशमके अभावसे आत्माकी अशक्ति से असंज्ञी पर्याय ही तो फिट बैठेगी। अतः भाइयों! चेतो, इस ज्ञानमय आत्माके निर्णयमें लक्ष्यमें उपयोगमें भावनामें परिणमनमें परिणत होकर स्वयं सुखी बनो।

अब आत्माको ज्ञानप्रमाण सिद्ध करके तथा ज्ञानको पहिले ही सर्वगत बताया, सो सर्वगतज्ञान प्रमाण आत्मा होनेसे यह भगवान आत्मा भी सर्वगत न्यायसिद्ध है ऐसा अभिनन्दन करते हैं, वर्णन करते हुए स्वयं आचार्य उस रुचिको दृष्टिको रखकर प्रसन्न होते हैं। आत्मा का सर्व व्यापकपना सिद्ध करते हैं।

सव्वगदो जिणवसहो सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

ज्ञानकी सर्वज्ञायकता—जिन वृषभ सर्वज्ञ भगवान सर्वगत हैं, क्योंकि वे ज्ञानमय हैं

उस ज्ञानमें सर्व अर्थ दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह व्यवहारसे पहुंच गये हैं क्योंकि वे सर्वपदार्थ उस स्वच्छ ज्ञानके ज्ञेय हो रहे हैं। जब जितना ज्ञेय हो रहा है उस अन्तर्ज्ञेयसे भिन्न ज्ञान क्या बताया जावे ? ज्ञान तो ज्ञेयनिष्ठ ही है, ज्ञेयज्ञान बिना ज्ञान नाम क्या ? ज्ञान—जानता, तब क्या जानता, किसका जानना—ये सब भाव प्रश्नमें होते हैं तो जो उत्तर है वह यही है कि ज्ञान सर्वका जाननहारा है और इसी हेतु ज्ञान सर्वव्यापक है।

अपनी त्रुटि—ज्ञान किसी भी संकुचित सीमामें नहीं है इस बातको देखें कि ज्ञानका स्वरूप क्या है तब उक्त बात निःसंदेह प्रतीत होगी ही। ज्ञानका स्वरूप है एक जानना मात्र, हमारे जाननेमें बहुत गलतियां हैं। जानते ही इष्ट अनिष्ट बुद्धियां चल उठती हैं जाननेका अर्थ है, यह ऐसा है यह इस प्रकार है ऐसा प्रतिभास, न कि विकल्प, क्योंकि जाननेमें विशेष विकल्प नहीं आये तो वह ज्ञान है। यदि हमारे जाननेमें ऐसा आये कि यह अच्छा है और यह बुरा है, ऐसा बना खावे, ऐसा बना नहीं खावे, ऐसा पहिने और ऐसा नहीं पहिने तो यह अज्ञान है क्योंकि इस जाननेमें विकल्प है वहाँ तो खाने पहिननेमात्रका भी विकल्प नहीं होता। जैसे तुरन्तका जन्मा बच्चा अपने कमरेमें बैठा सब चीज देख रहा है उसे अपनी आँखोंसे यह दीखता है परन्तु यह अच्छा है यह बुरा है कई प्रकारकी ये ऐसी चीजें हैं आदि विकल्प उसके जाननेमें नहीं हैं और वह प्रतिभास स्वरूपसा रहता है इसी तरह तो क्या, वह तो दृष्टान्त मात्र है कुछ दृष्टिको लिये हुए है, जो सब पदार्थोंको जानता है, परन्तु मात्र प्रतिभासस्वरूप ही रहता है वह है ज्ञानका शुद्ध परिणमन। स्त्री पुत्रका विकल्प हो, दुकान मकानका विकल्प हो, राग वैरागादिका विकल्प हो तो ज्ञानस्वभावके साथ विकल्प बना लिया। यदि ज्ञान स्वभावके साथ अन्याय होगा तो ज्ञानस्वभावका कैसे अनुभव होगा ? जिस पर्यायको लेकर हम बैठे हैं, जिन विचारोंको लेकर हम बैठे हैं उन पर दृष्टि रहेगी तो ज्ञान स्वभावका कैसे अनुभव होगा ? जब तक अंतरंगमें यह विकल्प होगा कि मैं हूं, ज्ञानका अनुभव नहीं होगा। जब यह समझने लगेंगे कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका अभेद स्वभाव ही मेरा स्वरूप है ऐसा अंतरंगमें विचार होगा तो अनन्तर अभेदानुभवके समय जरूर ज्ञानका अनुभव होगा। ज्ञानका अनुभव जिसे जिस कालमें होता है उसका आत्मतत्त्व प्रसन्न रहता है ऐसा तत्त्व भाव जिसका रहता है उसके तत्त्वभूत ज्ञानका अभाव नहीं। निजस्वभावकी स्थिरतामें आविर्भूत आत्मामें रहने वाला ज्ञान सर्वव्यापक है।

सर्वगतता व अभीष्टसिद्धि—ज्ञान सर्वव्यापक है। ज्ञान जब सर्वव्यापक है तो ज्ञानमय होनेके कारण यह भगवान भी सर्वव्यापक है, अतः इस भगवानको ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देख कर सर्वव्यापक कहा गया है। इस प्रकार जिसको ज्ञानस्वभावका पूर्ण निर्मल अनुभव है वह सर्वव्यापक है। सर्वगत ज्ञानका विषय होनेसे सर्व अर्थ भी सर्वगत ज्ञानसे अभिन्न जो भग-

वान उसके ये विषय हैं अतः आत्मा भी सर्वगत है, यह कहा जा रहा है कि पदार्थ बोधके बिना ज्ञान है क्या एवं सर्वगत ज्ञानके बिना भगवान है क्या और सर्वगत ज्ञानके बिना है क्या ? समस्त अर्थ या सर्व ज्ञेय ज्ञानके विषय हैं। ज्ञेय भी सर्वगत ज्ञानमें व्यापक हो जाता है तब विषयविषयी भावसे देखो तो ज्ञान अर्थगत है तो अर्थ ज्ञानगत है। एक काम देखकर और उसमें श्रद्धा करनेसे सारे अभीष्ट कार्य हो जाते हैं और जो दुनियाभरके काम देखेगा, दुनिया भरसे याचना करेगा तो उसका कोई काम सिद्ध नहीं होगा, अतः एक निज ध्रुव-स्वभावको देखो सर्व अभीष्ट सिद्धि है।

परमार्थ एकत्वके शरण ग्रहणसे लाभ व एक लोकदृष्टान्त—एक किंवदन्ती है कि एक हिन्दु और एक मुसलमान एक नदी पार करते थे। दोनोंने सोचा अपने-अपने भगवानका नाम लेकर नदी पार की जाय। हिन्दुने कहा हे ब्रह्मा मेरी रक्षा करो। ब्रह्मा आये तो उसने कह दिया कि हे विष्णु मेरी रक्षा करो। ब्रह्माको लौट जाना पड़ा। विष्णु आये तो उसने कह दिया कि हे महादेव मेरी रक्षा करो। विष्णु लौट गये और महादेव आये तो उसने कहा कि हे शीतला माता मेरी रक्षा करो, महादेव भी लौट गये और शीतला आई तो वह बोल उठा हे दुर्गा मेरी रक्षा करो। इस प्रकार देवता आते गये और लौटते गये और किसीने भी रक्षा नहीं की और वह डूब गया। उधर मुसलमानने केवल अल्लाका नाम लिया और उत्साहसे नदी पार हो गया। वहां उसके मनमें एक दृढ़ संकल्पने बल दिया। वस्तुतः हिन्दू अपनी रक्षाके बारे में शंकित था इस संदेहने डुबाया। मुसलमानके भाव निःशंक थे सो निःशंकताने पार कराया। देवताका वर्णन तो निःशंकता सशंकताका अनुमान करनेके लिये अलङ्कार है। यह तो मात्र लौकिक कहावत है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखना चाहिये। मूर्तिपूजामें भी ज्ञानदृष्टि, २४ तीर्थंकरोंके नाम लेने में भी ज्ञान स्वभावकी दृष्टि, पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते समय भी ज्ञान स्वभावकी दृष्टि, व्रत, तप, अनशन, कायक्लेश सामायिक बाह्य धर्म आदि सबमें निज स्वभावकी दृष्टि रखना चाहिये। बिना ज्ञानदृष्टिके सहज सुख स्वरूप पीयूष या अमृत नहीं प्रगट हो सकेगा। ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखनेपर ही अमर आत्मा व्यञ्जनामें भी अमर हो सकता है।

अमृत तत्त्व—देखो भैया ! अमृतको सब ललचाते अच्छा शर्बत पीकर मनुष्य कहता है कि यह तो अमृतसा मीठा है। पूछा जाय कि यह अमृत क्या है ? देवताओंके कंठसे झ त होगा सो ही अमृत होगा ? क्या झरता होगा अच्छा पानी या अच्छा रस झरता होगा। उस रसके झरनेके बावजूद वह अमर नहीं रहता है। अमर कोई नहीं रहता है। जो जन्मा है उसकी कितने सागरकी भी भले ही उम्र हो, यह मरेगा अवश्य। पुराने जमानेमें आध्यात्मिक मनुष्य जन्मते थे। उनका सुख क्या होगा ? कल्पना करो वे छोटे छोटे घरोंमें कुटियों

में रहते थे। उन्हें किसी चीजका अभाव नहीं था। वे लोक परलोकको मानते थे। उस समय साधु सन्तोंका सन्मान होता था। राजा महाराजा लोग अपनी बड़ी-बड़ी गुत्थियोंको सुलझाने के लिये विद्वानोंका आदर करते थे और उनसे राय लेते थे। सब लोगोंको यह विदित था कि आत्माके अन्दर रहने वाला ज्ञान स्वभाव अमृत कैसे है ? जो नहीं मरे उसे ही अमृत कहते हैं। ज्ञानस्वभाव आत्माके अन्दर ऐसा है जो कभी नहीं मरता। यह सर्वपर्यायोंमें एक स्वभावसे रहता है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की दृष्टिको अमृत कहते हैं। ज्ञानस्वभावकी दृष्टिका सुख और विज्ञानके लौकिक सुख क्या कहीं समान हो सकते हैं ? अब धीरे-धीरे लोक रहस्य को तो भूल गये और जो रुचा उसे ही अमृत कहने लगे। यह दृश्य कुछ भी अमृत नहीं। इस लिये यदि अपने को अमर होकर सुखी होना है तो ज्ञानस्वभावकी दृष्टिको धारण कीजिये। ज्ञानस्वभावके धारणके बिना सुख शाँति नहीं होगी।

स्वदयाका अनुरोध—देखो यदि हमारे कहनेसे महिलाओंके भय हो गया हो कि पुरुष ज्ञानी हो जायेंगे और हमारी उपेक्षा कर देगें तो क्या होगा, तो सुनो—महिलाओको भी चाहिये कि वे पुरुषोंसे भी पहिले ज्ञानस्वभावको धारण करें। धर्मके मार्गमें साराका सारा परिवार लगे। जगतके प्रति इतने मुग्ध मत बनो और न यह शंका किया करो कि अब क्या होगा ? जमाना बुरा आ रहा है अब क्या होगा ? ऐसा सोचो कि हमसे बुरे कितने ही अनगिणत लोग पाये जाते हैं, उनका क्या होगा ? उनपर दृष्टि नहीं देते और यह कहते हो कि मेरा क्या होगा ? चाहिये तो यह मात्र परपदार्थ परभावका लक्ष्य न रहकर सहज ज्ञान रहे। अरे उन सबका क्या हो रहा है ? चिन्ता अपने मस्तिष्कमें मत रखो। ज्ञानस्वभावकी दृष्टि किसी तरह पाली जाय तो यह सबसे बड़ा भारी काम है। अहो देखो स्वयं ज्ञानमय होकर भी स्वयंको नहीं परमार्थस्वरूप जानता और यह लोक इसी कारण बाह्यसे ज्ञान और सुखकी आशा करके बरबाद हो रहा है। भेदविज्ञानकी छेनीसे स्वभाव परभावका स्वलक्षण से भेद किया जावे तो अपने स्वरूप तक पहुंचनेमें क्या देर लगे ? क्षयोपशम तो है ही उसे परोन्मुख करके दुरुपयोगमें डाला जा रहा है। वह स्वोन्मुख हो तब सर्व स्वेष्ट मिल जावे।

यथार्थ ज्ञान होनेपर सर्व ज्ञानकी अनुकूलता—श्री पूज्य विद्यानन्द स्वामीजी अनेक वेद वेदान्तोंके परिपूर्ण ज्ञाता और पाँचसौ विद्वान् शिष्योंके गुरु थे। उनकी दृष्टि एकनयको लेकर बहुत गहरी विशाल थी किन्तु जब देवागम स्तोत्रके मननसे अनेकान्त दृष्टिकी साधकता ज्ञात हुई तो सर्वज्ञान स्वसाधकताकी पुष्टिका निमित्त हो गया। इसलिये भैया स्वपरविवेक करो। परका तो अपने में अत्यन्ताभाव है तथा परको निमित्तमात्र करके परलक्ष्यजन्य जो विभाव है यह भी स्वरूपमें नहीं है। मात्र सर्वशक्तियोंके अभेद स्वभावमय निज अपनेसे राग-द्वेष क्रोध मान माया लोभ दूर करो। जगतके बाह्य रिश्तेदारोंसे दृष्टि निजमें औपाधिक

उठने वाले रागादि विभावोंसे दृष्टि हटावोगे तब इस आत्माको सुख शांतिका अनुभव प्राप्त होगा। इसलिये ज्ञानस्वभावकी दृष्टि सुखकी देने वाली है—यह निःसंदेह निर्णय करलो। सम्यक्त्वके बराबर दुनियामें तीनों लोकोंमें तीनों कालोंमें सुख देने वाली कोई चीज नहीं। सम्यक्त्व नहीं है और वैभव है तो इससे सुख नहीं मिलेगा। यदि सम्यक् है तो यही सुखका स्थान है। सम्यग्दर्शन पानेका प्रयत्न करो। कितनी भी बाधा आये तो मनुष्यका साथ देने वाला कोई नहीं है, कोई भी पदार्थ उसके साथ नहीं जाता, किसी भी पदार्थसे उसका हित नहीं है। हित उसके ज्ञानके विकासमें ही है।

किसीके भी सहयोगी होनेका अभाव—बाल्मीकि ऋषिकी ऐसी एक कथा है। वे एक जंगलमें छिप कर बैठ जाते थे और जो भी आदमी उस रास्तेसे गुजरता था उसका माल असबाब रखवा लेते थे। एक दिन एक साधु आसन, डंडा और एक कमंडल लिये उधरसे निकला। लुटेरेने कहा कि जो कुछ तुम्हारे पास है रख दो। साधुने कहा कि लो भाई, तुम कौन हो? उसने जवाब दिया लुटेरा हूं। साधुने कहा कि लो भाई मेरा आसन डंडा और कमण्डल सब ले लो परन्तु मेरा एक सवाल है उसका अपने परिवारवालोंसे उत्तर पूछकर आओ और मुझे बताओ। बाल्मीकिने कहा कि बताओ क्या पूछकर आवें? साधु बोले उनसे यह पूछकर आओ कि मैं तुम्हारे लिये अनेक पाप करता हूं, तुम्हें धन लाकर देता हूं, इस पाप वृत्तिको लेकर मुझे जो पाप होगा उसमें तुम लोग भी हिस्सा बटावोगे कि नहीं। साधुजीका अपूर्व प्रश्न सुनकर बड़ी उत्कण्ठासे लुटेरा घर गया और परिवारवालोंसे पूछा तो सबने उत्तर दिया कि नहीं बाबा, वह पाप तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। यह जवाब सुनकर जब वह लौट रहा था तो रास्तेमें उसने सोचा कि मैं तो इन सबके लिये इतना पाप करता हूं और इन सबने मुझे यह उत्तर दिया। इस प्रकार जगतमें मैं अकेला, फिर मैं क्यों उन सबके लिये इतना पाप कमाऊं? वापिस आकर उन साधुजीसे उसने कहा कि यह लो तुम्हारी सब चीजें तुम ही रखो और मुझे भी एक आसन एक डंडा और कमंडल दिलवावो। इस प्रकार वह भी साधु बन गया और इसी बाल्मीकिने आगे चलकर रामायण आदि लिखी। इसमें क्या बात जानना है? जो मनुष्य जो भाव करता है उसका परिणाम वहा मनुष्य भोगता है, अन्य कोई साथ नहीं देता।

ज्ञानस्वभावके माहात्म्यका गीत—अपने-अपने परिणामोंको निर्मल बनानेकी चेष्टा कीजिये। निर्मलताके लिये द्रव्यदृष्टि स्थिर रखिये। ज्ञानस्वभावका स्वलक्षण मतिमार्गमें बना रहे। इस ज्ञानस्वभावका क्या महात्म्य है यह उसके विकासमुखेन इस गाथामें गाया है। यह ज्ञानस्वभावसे तो सर्वशक्तिमान है ही तथापि जब ज्ञान निरुपाधिक सहज निर्मल पर्यायकी निर्मलतासे रहता है तब त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य पर्यायके रूपमें व्यवस्थित जो ज्ञेय उस समस्त

का बोध होता है वहाँ निश्चयनयसे तो अनाकुलतारूप सुखका स्वसंवेदन हो रहा है सो उस स्वसंवेदनके अभिन्न आधारभूत जो आत्मा है उसके प्रमाण ही ज्ञान है, वह निज क्षेत्रका परित्याग कैसे कर सकता है ? यदि स्वभावकी निज क्षेत्रसे बाहर कल्पना करो तो वह पुष्पकी तरह असत् है । अतः निश्चयनयसे तो विश्वके ज्ञेयाकारोंमें आत्मा जाता ही नहीं है फिर भी जो सर्वबोध है वह आत्माके ही सत्स्वभावका महात्म्य है जो घर बैठे ही ज्ञान सर्वगत है । इसी सम्बंधको लेकर व्यवहारनयसे ज्ञान सर्वगत है और ज्ञानसे अभिन्न होनेके हेतु ज्ञान लक्षण लक्षित आत्मा भी सर्वगत है । देखो यह प्रताप उनके ही प्रगट होता है जो अखंड निजद्रव्य पर दृष्टि करके अपने स्वभावमें रमते हैं । निज स्वभावसे च्युत होकर बाह्य अध्रुव विषयमें रमनेका फल दुर्गमन ही है ।

प्रायः सारे मनुष्य मोहमें फंसे हैं । जो मुख आपको सुन्दर लगता है उसी पर मोही रीझते हों, परन्तु उस ही सुन्दर मुखसे जब लार टपकने लगे तो ग्लानि पैदा हो जाती है । नासिकासे मल निकले तो ग्लानि पैदा हो जाती है, इसी प्रकार ये अंग तो अशुचि हैं । यह अशुचि निजको और परको, सुन्दरता बुद्धिसे राग पैदा करने वाली है । इस तरह वह सौन्दर्य कितना अशुचि है ? इस सौन्दर्य नेहको छोड़ना चाहिये । घड़ी सुन्दर है, स्त्री बड़ी सुन्दर है । सुन्दर हर चीजको कहते तो हों, परन्तु सुन्दर शब्दका अर्थ क्या है ? व्याकरणमें सुन्दरका अर्थ है सु उन्द् अर्—यहां सु उपसर्ग उन्दी क्लेदने धातु है व अरच प्रत्यय है अर्थात् वह सुन्दर है जो तड़फा तड़फा कर मारे । दुनियांके लोग कहते हैं कि स्त्री बहुत सुन्दर है, हां बिल्कुल ठीक वह सुन्दर है क्योंकि वह तड़फा-तड़फाकर मारती है । वह नहीं मारती, उसका विषय पाकर रागी स्वयं मरते हैं । घड़ी बहुत सुन्दर है अर्थात् वह तड़फा तड़फा कर मारने वाली है । जगतके पदार्थ जो सुन्दर लगते हैं उन सबका यही अर्थ होता है । पदार्थ तो अपने आपमें मोजूद हैं, न वे सुन्दर हैं, न असुन्दर हैं, ऐसे जगतके बाह्यपदार्थका मोह ज्ञान स्वभाव की दृष्टिसे निकालकर ज्ञानस्वभावकी दृष्टिको निर्मल करो । उस दृष्टिके निर्मल होते ही सारे काम जो होनेके होंगे वे सब अपने आप हो जायेंगे । शुद्ध दृष्टिके फलमें अंतिम स्वरूप क्या होता है, उस विषयका यहां विवेचन है, ज्ञान इस प्रकार सर्वगत हो जाता है ।

निश्चय, व्यवहारसे जगतकी ज्ञानगतताका निर्णय—यद्यपि निश्चयसे कोई अर्थ आत्मामें व आत्मस्वरूपमय ज्ञानमें नहीं पहुंचता है तथापि ज्ञानमें वैसा ही तो ग्रहण होता है अतः विश्व भी ज्ञानगत समझिये, किन्तु निश्चय नयसे जगत ज्ञानगत नहीं है । व्यवहारनयसे जगत ज्ञानगत है । ज्ञान भी इसी प्रकार व्यवहारसे सर्वगत है । ज्ञान निजतत्त्वके आधारको नहीं छोड़ता अर्थात् निश्चयसे यह आत्मा अपने ही प्रदेशमें है और ज्ञान भी अपने ही प्रदेश में है, इसलिये निश्चयनयसे ज्ञानने आत्माके प्रदेशको नहीं छोड़ा तो भी समस्त पदार्थोंको

जान गया, ऐसे समस्त पदार्थोंमें नहीं मिलते हुए भी समस्त पदार्थ उसके जानने में आ गये। इसलिये ज्ञान सर्वगत कहलाता। हम भी कहते हैं हमारा ज्ञान इस कमरेमें है और यह कमरा कमरा हमारे ज्ञानमें है। निश्चय नयसे आकुलता या अनाकुलता जो कुछ भी हो रही है सो इस ज्ञानमें ही अभेद दृष्टिसे हो रही है। ऐसे अपने सुख दुःखके अनुभवमें रहने वाला यह अपना ज्ञान भी कमरेमें है, जगतके पदार्थोंमें यह ज्ञान घुस नहीं रहा तो भी उन्हें जान तो रहा। इसलिये व्यवहारनयसे हमारा और तुम्हारा ज्ञान इस कमरेमें होते हुए भी सब पदार्थों को जानता है और निश्चयनयसे यह ज्ञान केवल उस आत्मामें लीन है। जैसे सूर्यकी चमक अपने आकारमें ही है परन्तु उसके निमित्तसे प्रकाश सर्व पदार्थोंमें नहीं घुसकर भी पदार्थोंमें प्रकाश आनेके निमित्त होनेके कारण यह कहा जाता है कि सूर्यका प्रकाश सर्व पदार्थोंमें है। इसी तरह ज्ञान सर्वपदार्थोंको जानता है, इसलिये व्यवहारनयसे सब पदार्थोंके जानने कारण ज्ञान सर्वगत कहा गया है।

ज्ञानका ज्ञानस्वरूपमें मिलन—ज्ञान अपने आपके प्रदेशोंको नहीं छोड़कर भी सारे लोकालोकमें व्यापक है। सो यह ज्ञान मेरा मुझे ही मुझसे ही मिलता है—ऐसा मानकर ज्ञानस्वभावको पानेके लिये बाह्य पदार्थ खोजनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। बाह्य पदार्थों को उन्हींके तन्त्र स्वभाव जानकर अपनी दृष्टि उनपर न दीजिये। ज्ञानस्वभाव अपने आप पैदा हो जायगा। यह ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञताको लिये हुए प्रगट होता है। इसलिये कहा जाता है कि संसारके सारे अर्थ भगवान्में आ गये। अर्जुन कहता है कि कृष्ण हमारे भीतर रहते हैं, ठीक है, मैं अर्जुन अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि द्वारा ज्ञानस्वभावके विराटरूप को देख सकता हूं। सम्यग्दृष्टी अर्जुनने इस कृष्ण परमात्मापदार्थ विराटरूप को अपने अंतरंगमें देखा जिसमें अर्जुन खुद भी समा गया। यह दृष्टा भी समा गया। सिद्ध भगवानका भी ऐसा विराट रूप है। जिसमें ऐसे ऐसे विराट रूप धारण करने वाले समा गये अरे अब भी बहुत जगह है मानो उनकी चुनौती है कि ऐसे अनगिनते भी लोक हों तो उन्हें भी एक कोनेमें डाल दूंगा। ऐसे विराटरूपको ज्ञानी सम्यग्दृष्टि यहीं अपनेमें दर्शन कर सकता है। उस समय यह पता नहीं रहेगा कि मैं कहां क्या करता हूं, कहाँ पर बैठा हूं और क्या मुझे करना है? वहां भी ज्ञान आत्मामें ही है। यह स्याद्वादसे मुद्रित है, विश्वमें भी यही बात है, सर्वद्रव्य स्वतंत्र हैं, विश्व निश्चयसे अपने ही स्वयंके चतुष्ट रूप है, उसका द्रव्य या उसका गुण अथवा पर्याय कुछ भी उससे बाहर अन्य क्षेत्रमें नहीं होता। तब विश्वका एक अंश भी सर्वज्ञमें नहीं पहुंचा, फिर भी उस ज्ञानके द्वारा व्यवहारसे वह जाना तो जा रहा है। जैसा सत् गुण पर्याय यहां अर्थमें है उस प्रकारका बोध-ग्रहण तो ज्ञानमें है। इस प्रकारके ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धके कारण यह समझा गया है कि विश्व भी ज्ञानगत है। ऐसी परिस्थिति समझकर भी समझना

तो यही है कि सर्वद्रव्य अपने अपने स्वरूपमें निष्ठ हैं। वस्तु स्वभाव ही ऐसा है इसलिये यह सुप्रतीत है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं चला गया और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं चला गया। ज्ञानके आकार में यह ज्ञेय प्रतिबिम्बित होता है। ज्ञानने अपनी शक्तिसे ज्ञेयको जान लिया तो कहा कि यह ज्ञेय ज्ञानमें गया, यहाँ भी मात्र ज्ञान स्वभावदृष्टि रखो।

प्रथम धर्मपालन—जो आपमें ध्रुव है वही धर्मका मूल है, धर्ममें बड़ा सुख होता है, धर्म उत्साहित होकर पालन करना चाहिये। वस्तुके अखंडस्वभावकी दृष्टि आना प्रथम धर्म पालन है। घरमें भी जाकर व्यर्थ समय मत खोओ। इस समयमें भी हम कोई अच्छा लाभ निकाल सकते हैं। परिवारके लोगोंसे कहो कि विषय कषाय, मजाक गपशप आदिमें समय खोनेसे अपने आपको बचाओ। इसमें ही सारा समय खोया तो अपना हमारा दोनोंका जीवन व्यर्थ है। सो देखो भैया! अब तो उस ही आत्मस्वरूपको कहो, परस्पर उसकी चर्चा कर उसे ही पूछो, उसे ही चाहो उस ही में लीन होओ। इस ही उपायसे अविद्यामय स्वरूपको त्याग करके विद्यामय स्वरूपको प्राप्त होवोगे, स्वयं जैसे निरूपाधिक स्वभाव है उस ही रूपसे हो जावोगे।

अब आत्मा और ज्ञानके विषयमें अपेक्षा द्वारा परस्पर एकपने और अन्यपनेका चिन्तवन करते हैं। यह एक विचार है जिसका ध्येय वस्तुके पूर्ण स्वरूपको जानकर फिर विकल्पसे हटकर निजका अनुभवन रह जाना मात्र है। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य यही सिद्धान्त दिखाते हैं।

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं वा अण्णंवा ॥२७॥

आत्माकी भावाभावात्मकता—पहिले आत्मस्वरूपका विचार करो कि आत्मा कैसा तो अस्तित्व स्वरूप है और कैसा नास्तित्वस्वरूप है और ज्ञानका विचार करो कि वह किस स्वरूपात्मक है और अवशिष्ट किन लक्षणोंके अभावात्मक है? आत्मा तो चैतन्यप्रधान परिणामिक भावके साथ अनन्त धर्मोंका अधिष्ठानभूत है, वह समग्र आत्मातिरिक्त शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्योंके अभावात्मक है। आत्मा तो चैतन्य प्रधान पारिणामिकभाव के साथ अनन्तधर्मोंका अधिष्ठानभूत है। वह समग्र आत्मातिरिक्त शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश कालद्रव्योंके अभावात्मक है और ज्ञान समग्र अचेतन द्रव्योंमें किसी भी वस्तुसे तादात्म्य न रखने वाला अर्थात् किसी भी अचेतन पदार्थमें न पाया जाने वाला किन्तु केवल आत्माके साथ अनादि अनंत स्वभावसिद्ध तादात्म्यको रखने वाला अर्थात् आत्मद्रव्यका ही प्रधान शक्तिभूत एक गुण है। तब यह सुप्रतीत है कि भावापेक्षया आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है अर्थात् इस गाथामें आत्मा और ज्ञानके विषयमें यह बताया गया है कि आत्मा

और ज्ञान भिन्न-भिन्न भी हैं।

आत्माकी ज्ञानादिरूपता—पहिले कहा था कि आत्माको ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देखना चाहिये तब ज्ञानके सिवाय आत्मा और कोई चीज नहीं। अब कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान एक भी है और आत्मा और ज्ञान भिन्न भी है। ज्ञान मात्र आत्माकी रहस्यमय बात समझने से पहिले वस्तुका पूर्ण स्वरूप जानना परमावश्यक है। वस्तुकी एक दृष्टिकी मुख्यता से पूर्ण अवस्थाको पाया नहीं जा सकता, अतः वस्तुको पूर्ण जाननेके लिये आचार्यमहाराज २७ वीं गाथा कहते हैं। ज्ञान है सो आत्मा है। आत्माके बिना ज्ञान अपना स्वरूप कायम नहीं रख सकता। इसलिये ज्ञान आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है और आत्मा अन्य भी है क्योंकि ज्ञान गुण ही हो और अन्य गुण न हो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य गुणके अभावमें ज्ञान भी नहीं रह सकता। इस तरहसे आत्मामें और ज्ञानमें एकत्व और अन्यत्व सिद्ध करते हैं। आत्मा किसे कहते हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि असंख्य गुणका पिंड समूह आत्मा कहलाता है। ज्ञान आत्मा ही है परंतु आत्मा ज्ञान भी है, आत्मा दर्शन भी है, आत्मा अन्य गुण रूप भी है। पहिले आत्मद्रव्यको पूरा पहिचानो, सर्व प्रकारसे आत्माको समझकर फिर ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे आत्माको देखकर आत्मकल्याणमें लगो तो खुद ही आत्माको पहिचानो। ज्ञान जगतकी सारी इतर वस्तु अ से सम्बन्ध नहीं रखतीं। ज्ञानका पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, द्रव्यमें तादात्म्य नहीं है। ज्ञानका अनंतअनादि तादात्म्य सम्बंध आत्मा से ही है, जैसे अग्निके बिना उष्ण कहाँ व उष्णके बिना अग्नि क्या? अग्निका और उष्णका तादात्म्य सम्बन्ध है।

द्रव्य गुण पर्यायके अवगमकी आवश्यकता—जगतके अंदर तीन तत्त्व हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। तीनों तत्त्वोंको अच्छी तरह जाने बिना अध्यात्मशास्त्र जाना नहीं जा सकता। पर्याय उसे कहते हैं जो सदा नहीं रहता है अथवा जो नष्ट हो जाता है उसे पर्याय कहते हैं। सरल भाषामें पर्यायका यही अर्थ है। जो क्षणिक है और नष्ट हो जाती है उसे पर्याय कहते हैं अर्थात् पदार्थकी प्रति क्षण-क्षणकी जो अवस्था है उसे पर्याय कहते हैं। एक क्षणकी अवस्था दूसरे क्षणमें नहीं होती चाहे सदृश अवस्था हो या विसदृश। गुण वह कहलाता है जो तीनों काल रहता है और जिसकी कोई न कोई अवस्था रहती है उन गुणोंका एक पिंड अभेद वस्तु कहलाती है। देखो—क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब पर्याय हैं, क्योंकि ये सदा नहीं रहते। जो चीज दिखती है, अथवा जो चीज नहीं दिखती परन्तु क्षणिक है वह पर्याय है, उन सब पर्यायोंमें अनुगत एक जो हमारे ज्ञानके द्वारा गम्य है वह चीज कहलाती है गुण। शांति क्षणिक है वह भी पर्याय है, चारित्र गुणकी शुद्ध तरंग है परन्तु शांति पर्याय सदृश होकर रहने वाली चीज है। कषाय और शांतिके आधारमें रहने वाली जो एक चीज है गुण, उसे

चारित्र कहते हैं। कषाय और शाँति इस चारित्रगुणके विकार हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ भी चारित्रगुणके विकार हैं, परिणय मन भी विकार हैं, देखो यहाँ विकारसे मतलब परिणमन का है, इसलिये स्वाभाविक परिणमन भी विकार है और वैभाविक परिणमन भी विकार है। किसी भी वस्तुकी अवस्थाएँ निराश्रय नहीं हुआ करतीं। अवस्था किसकी है, किसमें है ये प्रश्न अपने आप उठते हैं। उनका जो उत्तर है उसे गुण कहते हैं। चौकी किसकी पर्याय है ? अणुकी। परमाणुओंके समूहसे होने वाली यह परिणति है, समानजातीय पर्याय है।

पर्याय और गुणके विश्लेषणका उदाहरण—खम्भा सफेद है। यह सफेद पर्याय है क्योंकि यह क्षणिक है। काला नीला सफेद आदि सब पर्याय हैं। परन्तु इस पर्यायका आधार क्या है ? वस्तुएँ आधारके बिना नहीं रहा करतीं। इसलिये इस पर्यायका आधार वह तत्त्व है जिसका कोई विशेष रंग नहीं है और जो सदा रहता है। पर्यायका आधार किसी अन्य अवस्थाको तीन कालोंमें नहीं पकड़ता और अवस्थाके बिना वस्तु नहीं रहती, यह बात आँखों से नहीं जानी जाती है, आँखसे तो खम्भे का रंग ही दिखेगा, परन्तु ज्ञानसे उस रंगका आधार उसका रूप जाना जा सकेगा। अतः पर्यायका आधार जो चीज है वह कहलाता है गुण।

गुण पर्याय व प्रदेशोंके विवरणका एक दृष्टान्त—जैसे स्थूल दृष्टान्त लो उंगली मुड़ती भी है, सीधी भी रहती है और हथेलीमें भी रहती है। ये सब उंगलीकी अवस्थायें हैं, परन्तु इन सब अवस्थाओंका जो आधार है वह उंगली है। रूप गुण है वह अवस्था रूपमें आता है। वहाँ अवस्था तो पर्याय है व जिसमें यह अवस्थाएँ आती रहती हैं और विच्छेद नहीं होता उसे कहते हैं रूप गुण। खम्भेको रूपकी पर्यायसे देखा, अब इसे रसकी पर्यायसे देखें। परंतु खम्भेकी रसकी पर्याय जल्दी प्रतीत नहीं होगी, इसलिये रसकी पर्यायसे किसी भोज्य पदार्थको देखो। आमको लो, शुरूमें कड़वा, फिर खट्टा, फिर मीठा, जब सड़ जाता है तब तीखा हो जाता है। ये सब आमकी पर्याय हैं। ये सब किस आधारपर हैं ? रसके। इसलिये वह आमका रस गुण कहलाता है। गन्धकी भी सुगंध और दुर्गंध पर्याय है। इन सुगन्ध अथवा दुर्गंध अवस्थाओंका जो मूल होता है उसे गन्ध कहते हैं। यह गन्ध गुण कहलाता है।

आत्माके गुण, पर्याय व प्रदेशोंका विवरण—अब तीनोंको आत्मामें घटाओ। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्माकी सब अवस्थाएँ पर्याय हैं। परन्तु इनका आधारभूत चारित्र गुण है। स्त्री पुत्र और धनकी श्रद्धा व भगवानकी श्रद्धा या सिद्ध आत्मतत्वकी श्रद्धा ये सब पर्याय हैं और इन सबका एक रूप जो है वह है श्रद्धा गुण। दर्शनगुण ज्ञानगुण, चारित्रगुण ये आत्मामें अलग-अलग नहीं रहते। अंगूठेसे लेकर सिर तक शरीरके सारे क्षेत्रमें आत्माके प्रदेश फैले हैं। इन सब प्रदेशोंमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र सब गुण रहते हैं। एक गुण जो मस्तकके प्रदेशमें रहता है वही गुण परके प्रदेशमें रहता है। यदि ऐसा नहीं

हो तो कई गुण हो जायें। जो ज्ञान आत्माके एक प्रदेशमें रहता है वही ज्ञान आत्माके सब प्रदेशोंमें रहता है और जो चारित्र आत्माके एक प्रदेशमें रहता है वही चारित्र आत्माके सभी प्रदेशोंमें रहता है इसलिये दर्शन, ज्ञान और चारित्रका अभेद्य रूप यह आत्मा है। जो प्रदेश ज्ञानगुणमें रहते हैं वही प्रदेश दर्शन गुण और चारित्रगुणमें भी रहते हैं। एक गुण सारे प्रदेशोंमें रहता है और एक प्रदेश सारे गुणोंमें रहता है। सारे गुण एक प्रदेशमें रहते हैं और सारे प्रदेश एक गुणमें रहते हैं। अर्थात् सारे ही प्रदेश सारे गुणोंमें रहते हैं और सारे ही गुण सारे प्रदेशोंमें रहते हैं।

आत्माके गुणोंकी अभेद्यताका विवरण—दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि सब गुणोंका एक अभेद्य रूप आत्मा है, इस प्रकार द्रव्य गुण और पर्याय ये तीन तत्त्व हैं, शरीर पर्याय है और इसके आधारभूत द्रव्य परमाणु हैं, अनेक (अनंत) परमाणुओंकी स्कन्ध अवस्था है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव पर्याय है; इनकी आधारभूत आत्मा द्रव्य है जो ज्ञानके द्वारा गम्य है। यहाँ यह विचारना कि आत्मद्रव्यके साथ किसकी एकता है, परद्रव्यका तो अत्यन्ताभाव है उसके साथ तो अपनी एकता है ही नहीं, जो आत्मनिजक्षेत्रमें बात हो उसही में अन्वेषण करना युक्त है। आत्मद्रव्यमें रागद्वेषमोह आदि जो नैमित्तिक भाव होते हैं उस का तो आत्मस्वभावके साथ कारण कार्यकी दृष्टिसे एवता है, व्यक्ति तो शक्ति नहीं हैं। इस ही प्रकार योग भी शक्ति तो है परन्तु कम्पनरूप व्यक्ति स्वभावके साथ ऐक्य नहीं रखता। अपूर्ण ज्ञानादि पर्यायें भी यदि स्वभावके साथ ऐक्य रखें तो स्वभाव सीमित हो जाय सो तो बात है नहीं, तब शेष रही शुद्धपर्याय, निरुपाधिक होनेसे सर्वथा निमित्तनिरपेक्ष होनेसे (काल द्रव्य तो समान सर्व परिणतिमात्र का निमित्त है ही उसकी अपेक्षाका प्रसंग नहीं) द्रव्यके निरुपाधि स्वभावके अनुसार ही दशा है अतः ऐक्य (समानता) तो है परन्तु वह भी प्रतिक्षण-वर्ती पर्याय है क्षणिक है सदृश है तथापि व्यतिरेकी है। तब शुद्धदृष्टिसे स्वभावकी स्वभावतासे एकता है और व्यवहारसे शुद्धपर्यायसे एकता है एवं अशुद्धव्यवहारसे रागादिभावोंका पर्याय कालमें आधार आत्मा है, तो परन्तु तादात्म्य नहीं है, अविरुद्धता नहीं है। अतः जब भी आत्मस्वभाव जाननेका उपाय प्रारंभ करते हैं तो अर्हंत सिद्ध स्वरूपसे किया जाता है, इस उपायमें इसी कारण सुलभता है।

पर्यायमें आत्मबुद्धिका दुष्परिणाम—पर्यायमें अपनी बुद्धि मत लगाओ, आत्मद्रव्य ही स्वयं एक ध्रुव है, उसकी रुचि अथवा दृष्टि पर्यायकी अशुद्धताके निवारणकी साधिका है उसको देखो पर्यायोंपर धोखा न खावो। अपनी भूलसे धोखा खावे परका व्यर्थ ही नाम लगावे। इन पर्यायोंपर आत्मदृष्टि होना यह तुम्हारी भूल है। आप यह सोचो कि यदि मैं रागद्वेष आदि भावोंको अहितकारी पर्यायरूप क्षणिक मानूँ तो क्या रागद्वेष मोह आदि भूल

कर भी मुझे सता सकते हैं। जब मैं अपने आपमें इनका पुट लगाता हूं तब यह बाह्य पदार्थ मुझे अपने वशमें कर सकते हैं।

स्वप्नसुखकी मायारूपता—जम्बूस्वामी जब संसारसे विरक्ति पा रहे थे उस समय उनके चारों ओर उनकी स्त्रियाँ बैठी हुई ऐसी कथा उनको सुना रही थीं जिससे विरक्तिसे उनका मन हटा लिया जाय। स्त्रियोंने कहा कि यह विषयोंका सुख इस संसारमें हमें मिला है ऐसा परम सुख छोड़कर नग्न दिगम्बर रूप धारण करनेकी मूर्खता क्यों करते हो ? भाव उनका यह था, शब्द साम्य थे, गोदका बच्चा छोड़कर पेटकी आश क्या करते हो ? जिस सुखकी आशामें यह परमसुख छोड़कर तुम जाना चाहते हो उस सुखका पता भी नहीं कि वह कहीं है भी या नहीं ? फिर इस सुखको छोड़ना मूर्खता है। उस कथाके उत्तरमें जम्बूस्वामीने ऐसी कथा कही कि सबकी बोली बंद हो गई। जो उन्होंने कथा कही उसका निष्कर्ष यह था कि जिस सुखको तुम परम सुख समझती हो वह तो स्वप्नके सुख हैं, स्वप्नका सुख तो क्षणिक सुख होता है जो आँख खोलते ही नदारत हो जाता है।

भ्रम और अभ्रमकी अवस्थाका परिणाम—एक ब्राह्मणको स्वप्न आया कि किसी राजाने उसको ५०० गायें इनाममें दीं, उसमें सब एकसे एक हृष्ट पुष्ट थी। गायोंको देखकर वह बहुत सुखी हो रहा था। उसी समय एक ग्राहक आया और उसने कहा, मैं कुछ गायें खरीदना चाहता हूं। ब्राह्मणने कहा इन गायोमें से छांट लो। ग्राहकने उनमें से १०० गायें छांटलीं। ब्राह्मणने एक गायके सौ सौ रुपये माँगे। ग्राहकने पहिले ५० रुपये, फिर ६०) देना मंजूर किया। बादमें ७०) पर बात छिड़ गई। ब्राह्मणने कहा कि मैं १०८) ही दूँगा और ग्राहकने कहा कि मैं ७०) से ज्यादा नहीं दूंगा। उनमें यह झगड़ा हो ही रहा था कि ब्राह्मणकी नींद खुल गई और उसे वे सब गायें और ग्राहक कुछ भी नहीं दिखाई दिये। फौरन उसने फिर आँख मींच लीं और कहा कि अच्छा ७०) ही दे जावो, परन्तु नींद खुलते ही वह स्वप्न तो समाप्त हो गया, अब वह स्वप्न जैसी बात कहाँसे आ सकती है ? इसी तरह कषायादिक सारे सुख स्वप्नके सुख हैं। ये भी आँख खुलते ही समाप्त हो जायेंगे। वैभवका सुख, लड़कोंके सुख, यहाँ वहाँकी मान्यताके सुख दुनियांके सारे सुख कितने वर्षके हैं ? जब आँख खुलेगी अर्थात् जब यह मनुष्यपर्याय छूटेगी या ज्ञान जागेगा तब ये सुख कुछ भी नहीं दिखाई देंगे। और वस्तुतः ये सुख ही नहीं आकुलता ही है। इसलिये जगतके वैभवसे दृष्टि हटाकर यह सोचो कि मैं आत्मा इस जगतमें स्वयं एकाकी हूं, जगतके इन पदार्थोंके लक्ष्यको तोड़कर अपने आपको यदि ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे देखो तो तुम्हारा कल्याण हो सकता है।

हेय और आदेय भाव—हमारे लिये वे पर्याय क्या हैं, जिन्हें हमें छोड़ना है ? सारे

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव ये हमारा कोई साथ नहीं देंगे। इन सब ही से आत्मबुद्धि हटाओ और आत्मामें आत्मबुद्धि करो। यह आत्मा गुणोंको अभेद्य पिंड है उस पर आत्मदृष्टि हो तो पर्यायबुद्धि छूट जाती है और द्रव्यदृष्टि आती है और इस द्रव्यदृष्टिको सम्यक् दर्शन कहते हैं। यहाँ यद्यपि बताया गया कि ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान भी है और अन्य गुण रूप भी है तथापि अन्य गुणोंके ध्यानमें ज्ञाता ज्ञान है तो ज्ञेय ज्ञानातिरिक्त है और जब ज्ञानके द्वारा ज्ञानको ही जाना जावे तो वहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय एक है, अतः साक्षात् ज्ञानमय भावनासे ध्येयपर आत्मा शीघ्र पहुंच जाता है। अन्य पदार्थ गुणके विषयमें चिन्तवन किया गया अर्थ यदि विशुद्ध विकल्प अनुराग रहित हो तो उसका भी विशेष गौण होकर ज्ञानमय भावना रूपमें आत्मा अपनेको पा लेता। ज्ञानमें सर्व गुण पर्याय ज्ञेयाकारसे गर्भित हो जाते हैं, इसी कारणसे आत्माका लक्षण उपाय सब ज्ञानस्वभावसे अधिकृत है।

ज्ञानका स्वोन्मुख अनुभव—यहां ज्ञानको स्वोन्मुख करके ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञान स्वरूप हूं, शुभ अशुभ भाव एवं अन्य वस्तु मैं नहीं हूं, यही प्रतीति अनुभूति क्रमशः यथा शीघ्र उत्तरोत्तर निर्मलताका कारण बनकर कैवल्योपलब्धिका मूल बन जाता है। हमें प्रत्येक उपदेशसे धर्म लेना है। धर्म आत्मस्वभाव है, वह पुण्य पाप रहित अकषाय ज्ञानमय भाव है उसकी दृष्टि करना है, अतः इस प्रकरणमें धर्म यही प्रतिभात है कि आत्मा अनन्तगुणात्मक है उनमें प्रधान ज्ञानगुण है सो यद्यपि आत्मा अनंतगुणात्मक है तथापि पी लिया है सर्व धर्म गुण पर्यायोंको जिसने, ऐसे ज्ञानकी भावनासे शुद्ध आत्मानुभूति है। देखो भैया! इस गाथामें कहा गया कि आत्मा और ज्ञानमें एकपना भी है और अनेकपना भी है। ज्ञान आत्मा ही है। परन्तु आत्मा अनन्त धर्मोंका एक आधार होनेसे आत्मा ज्ञानरूप भी है। जब ज्ञान आधारके द्वारा विचारें तो ज्ञान है और अनन्तधर्मोंके द्वारा विचारे तो आत्मा अनेक भी है, रूप पुद्गल ही है परन्तु पुद्गल रूप भी है, स्पर्श भी है, गन्ध भी है, रस भी है। इसी तरह ज्ञान तो आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है और चारित्र भी है। उसी आत्माको उसी आत्मामें रहने वाले ज्ञानगुणकी दृष्टिसे देखो।

एकके ज्ञानमें सर्वका ज्ञान—यह आत्मा मानो एक दर्पण है। जैसे दर्पणके पीछे चार लड़के खड़े हैं। दर्पणको देखकर यह कहा जाता है कि यह दांत निकाल रहा है या जीभ निकाल रहा है आदि। दर्पणको देखकर सबका सब वर्णन किया जा सकता है। इसी तरह यह ज्ञाता द्रष्टा सर्वज्ञ एक ज्ञानस्वभावको जान रहा और उसे जाननेसे ही सारे लोकको जान गया। निश्चयसे जैसे वह दर्पणमें ही देख रहा, परन्तु व्यवहारसे उन सब लड़कोंकी चेष्टाको भी देख रहा है। ज्ञानके जानने में ही सबका जानना आया। इसी कारण आत्माके ज्ञानगुण की विशेषतासे जाननेका उपदेश दिया गया है। इस आत्माको ज्ञानगुणकी विशेषतासे जानने

का उपदेश दिया गया है। इस आत्माको ज्ञान गुणके द्वारा देखो। यद्यपि आत्मा ज्ञान गुण मात्र ही नहीं है, दर्शन गुण चारित्रगुणरूप भी है। समस्त गुणोंका एक स्वरूप यह आत्मा है तथापि इस आत्माको ज्ञानगुणकी प्रधानतासे देखो। यह उपदेश इसलिये है कि यदि निर्विकल्प होना है तो वह स्थिति प्रयोगमें आवे। जहाँ ज्ञान, ज्ञान हो जाय, ज्ञाता भी ज्ञान हो जाय एवं ज्ञेय भी ज्ञान हो जाय। अपनेको शरीररूप मत विचारो, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के रूप भी मत विचारो, मैं ऐसा हूं, अमुक मुहल्लेमें रहता हूं यह भी मत विचारो, मैं सुखिया हूं यह भी मत विचारो, मैं श्रावक हूं या मैं त्यागी हूं या मैं ब्रह्मचारी हूं, क्षुल्लक हूं, साधु हूं, ऐलक हूं--इन सबमें भी ज्ञान स्वभावकी श्रद्धा मत करो। यह सबकी सब पर्याय हैं। हाँ सिद्ध पर्यायमें परिणति स्वभावके अनुरूप है। सब पर्यायोंसे अपनी दृष्टि हटाकर सब गुणोंके पिण्ड आत्मद्रव्यमें अपनी दृष्टि जमाओ।

आत्माराधना--पर्यायोंमें आत्मबुद्धि नहीं करनेको ही अर्थात् निर्विकल्प अखंड निज स्वभावके अनुभवको ही मोक्षमार्ग कहते हैं। एक बार भी यदि आत्मप्रतीतिका अनुभव होगा तो इसके फलमें इसका सुख अनन्तकाल तक अनन्त सुखके रूपमें अविकल धारासे मिलेगा। सम्यक्त्वकी पाँच आराधनाएँ हैं--उद्योतन, उद्यापन, निर्वहण, साधन व निस्तरण। अपने निर्मल सम्यक्दर्शनको पैदा करो। जो सम्यग्दर्शनको निज आत्मामें मिला रहा, उसमें चमक दे रहा और फिर उसी अवस्थामें जिन्दगी भर निभाता रहा, कितनी ही विघ्न बाधाओंसे नहीं डरा, उनकी साधना बनाए रहा और मरण समय आया तो इस भवके बाद अगले भवमें भी उसी क्रमसे चला तब यह धारा अमृतसागरमें ही मिलकर पूर्ण होती है, ये सम्यग्दर्शनकी पाँच आराधनायें हैं। सो भैया! इसी आयुमें कुछ नहीं धरा है, यह बहुत दिनों तक नहीं रहती है, इससे आत्मबुद्धि हटाओ और निज आत्मामें आत्मबुद्धि करो, इसीसे अनन्त सुखकी प्राप्ति होगी।

ज्ञान ज्ञेयके परस्पर गमनके प्रतिषेधका निरूपण--अब ज्ञान ज्ञेयका परस्पर गमन होता है ऐसा यदि भाव आवे तो उसका खंडन करते हैं। वस्तुतः जो चीज है उसका खंडन क्या और जो चीज नहीं उसका खंडन क्या? इस प्रकार न तो सत्का खंडन हो सकता है और न असत्का खंडन हो सकता है। तब वस्तु स्वरूपके विरुद्ध किसी का अभिप्राय हो तो उसका खंडन हो सकता है, इस कारण ज्ञानके विषयमें कुछ भी खंडन नहीं करना और ज्ञेयके विषयमें भी कुछ खंडन नहीं करना है, किन्तु मात्र इस मान्यताका कि ज्ञान ज्ञेयमें जाता है अथवा ज्ञेय ज्ञानमें जाता है, इसका खंडन किया जा रहा है अथवा यह खंडन नहीं किया जा रहा है किन्तु अविवेकी किसी भी पुरुषकी विपरीत मान्यता दूर करके उसके स्वभावके उत्थानका मंडन किया जा रहा है।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयापगा हि णाणिस्स ।
रूवाणिव चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञान ज्ञेयके परस्पर गमनका प्रतिषेध—ज्ञानी तो ज्ञान स्वभाव ही है और पदार्थ ज्ञेय स्वरूप ही हैं ऐसा इन दोनोंका भिन्न-भिन्न स्वरूप है । इस कारण परस्पर अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ होनेसे कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता । यहां प्रश्न होता है कि ऐसा संशय क्यों हुआ ? जिसका विवरण करना पड़ा तो इसका उत्तर यही है कि ज्ञान ज्ञेयका ज्ञायक ज्ञेयमात्र सम्बन्ध है । ज्ञान और ज्ञेयका ऐसा सम्बन्ध बताया गया है जिससे कहा जाता है ज्ञानका ज्ञेय और ज्ञेयका ज्ञान । जैसे लौकिक जन कहते हैं कि पतिकी पत्नी और पत्नीका पति । जैसे पत्नीमें पतिका रूप नहीं चला गया और पतिमें पत्नीका रूप नहीं चला गया वैसे ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता और ज्ञान ज्ञेयमें नहीं प्रवेश करता । अन्य दृष्टांत लो—जैसे पिताका पुत्र और पुत्रका पिता । यहाँ पुत्रका पिता कैसा, पिताका पुत्र कैसा ? क्योंकि न पुत्रका रूप पितामें जाता और न पिताका रूप पुत्रमें जाता है, परन्तु पितृत्व और स्वामित्वसे पिता और पुत्रका तथा पति और पत्नीका नाता कहा जाता है । किसीने पूछा कि बताओ पिता पहिले उत्पन्न हुआ या पुत्र या पूछे कि पति पहिले हुआ या पत्नी ? मर्मके न जानने वालोंके द्वारा पूछने वालेका मजाक उड़ गया और कहा गया कि प्रत्यक्ष है कि पिता बड़ा होनेके कारण पहिले जन्मा । परन्तु ज्ञानीने कहा कि पिता और पुत्र दोनों एक साथ उत्पन्न हुए । क्योंकि जिस कालमें पुत्र उत्पन्न हुआ उसी कालमें वह पिता बतलाया गया । पुत्रके जन्मके पहिले तो वह पिता नहीं था । उसका पिता नाम पुत्र के जन्मके कालसे ही पड़ा । इस लिये कहा गया—पिता और पुत्र दोनों एक काल पैदा हुए । यही बात पति पत्नीके सम्बन्धमें लगा सकते । संस्कारके समय ही एक साथ दोनों हुए पति व पत्नी । इसी तरह ज्ञान और ज्ञेयका संबंध है । फर्क इतना है कि वह वैकारिक है यह प्राकृतिक है । ज्ञानमें ज्ञेय नहीं गया और न ज्ञेय ज्ञानमें पहुंचा । व्यवहारसे ज्ञान ज्ञेयमें आया और ज्ञेय ज्ञानमें गया ।

ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध प्रसंगमें निश्चय व्यवहारका समन्वय—निश्चयनयसे ये ज्ञान और ज्ञेय अपने-अपने स्थानपर हैं, कोई किसीमें घुसा नहीं, फिर भी उनके सम्बन्धसे दोनों एक दूसरेमें गये । देखो भैया ! हमारी आँख अपने स्थानपर हैं और ये सब पदार्थ भी अपने-२ स्थानपर हैं परन्तु हमारी आँखोंने इन्हें देखा और पहिचाना, इसलिए कहा जाता है कि यह सब पदार्थ हमारी दृष्टिमें आए और हमारी दृष्टि इन सब पदार्थोंमें गई । यह न समझना कि हम कुछ नहीं देखते और न यह समझना कि हम परको देखते हैं । हमारी दृष्टि सबमें है परंतु न हमारी आंखें सबमें हैं और न सब हमारी आँखोंमें है । दृष्टि और आँखें सब पदार्थोंमें गईं

एवमेव ज्ञान ज्ञेय ज्ञायकका सम्बन्ध होने के कारण अन्योन्यवृत्तिका सम्बन्ध जो एक भावको लिये हुए था साधा गया। ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध इसी प्रकारका है, इसलिए यह कहा जाता है कि ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरेमें पहुंचते। वस्तुतः न ज्ञानमें ज्ञेय पहुंचता और न ज्ञेयमें ज्ञान पहुंचता।

ज्ञान ज्ञेयका सामर्थ्य व कौशल—ये पदार्थ ज्ञानोंको अपना आकार सौंपनेमें कुशल हैं और यह ज्ञानी उन पदार्थोंका आकार ग्रहण करनेमें कुशल हैं। जैसे दर्पण है, उसके सामने कोई चीज रख दी तो चीज तो दर्पणको अपना आकार सौंप देती और दर्पणने उसका आकार ग्रहण किया, हालांकि प्रत्यक्ष रूपमें न वह चीज दर्पणमें घुसी और न दर्पण उसमें। परन्तु वस्तुने अपना आकार सौंपा और दर्पणने ग्रहण किया, जिससे प्रतिबिम्ब पैदा हुआ। आकार भी उसने नहीं सौंपा और न दर्पणने उसका आकार लिया किन्तु यह कथन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये ही प्रयोजक है। इसी प्रकार ज्ञेयने अपना आकार किया और ज्ञानने उसका आकार ग्रहण कर लिया। ज्ञेयपदार्थ तो अपना आकार सौंपनेमें चतुर हो रहा है और ज्ञान उसका आकार ग्रहण करनेमें चतुर हो रहा है। तभी ज्ञानने ज्ञेयको जाना, ऐसा ज्ञान और ज्ञेयका सम्बंध है कि ज्ञेय अपना आकार देनेमें समर्थ है और ज्ञान उनका आकार ग्रहण करनेमें समर्थ है। इस तरह दोनोंमें सम्बंध स्थापित हो गया। इस सम्बन्धमें मुनाफा किसे ज्यादा मिला? किसीको भी नहीं और दोनोंको तथा मुख्यतया ज्ञान को। प्राणीके परको जाननेकी चाह होती है, परके जानने में तद्विषयक चाह मिट जाती है, यह जिज्ञासुओंकी बात है तथापि वीतराग छद्मस्थोंके जिज्ञासा न होनेसे आकुलता नहीं है फिर भी वह आकुलता विशद स्थायी रहे, इसलिये शुद्ध आत्माके इस विशिष्ट स्थिरतासे सर्वज्ञता आती ही है। जब सर्वको जाना अब आकुलताकी किसी समयमें भी संभावना नहीं अथवा ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है, विशुद्ध निर्मल होने पर स्वभावका कार्य होता ही है।

ज्ञान ज्ञेयके परस्पर सम्बन्ध और अत्यन्ताभावका रहस्य—यह ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध और अत्यन्ताभाव वाला रहस्य ज्ञानियोंको सुप्रतीत है, इसमें शंकाका स्थान नहीं। दोनों बातोंकी दो दृष्टियां हैं अतः इसका एक साथ विवेचन या विचार कठिन है परन्तु प्रतीतिमें दोनों बातें एक साथ हैं और भी देखिये किसी ने तुम्हें गाली दी, परन्तु गाली तुममें नहीं गई और तुम गालीमें नहीं गये। गाली भाषावर्गणाका एक परिणमन है जिसके मोही दो टुकड़े कर देता—१ इष्ट, २ अनिष्ट। वस्तुतः देखो तो कोई भी शब्द न इष्ट और न अनिष्ट है। शब्दों के अर्थसे भी देखो तो प्रायः जो गालियोंके नाम हैं वे आदरका भाव रखते हैं। जैसे नंगा अर्थात् जो नग्न पूज्य साधु हो। लुच्चा जो केशोंका लुञ्च करे ऐसा आदर्श साधु। पुंगा अर्थात् पुंगव जो श्रेष्ठ हो, लफंगा—लफ गये हैं अंग जिसके वह लफंगा है अर्थात् विनयशील।

छिनार (क्षीणारि)—क्षीण हो गये हैं गुणघाती कर्म जिसके वह क्षीणारि जिनेन्द्र प्रभु इत्यादि परन्तु जिस पुरुषको ये शब्द कहे जावें वह पुरुष ऐसा उत्कृष्ट नहीं है तो वह गाली ही समझता है। खैर! प्रकृत यह है कि गाली स्वयं इष्ट अनिष्ट नहीं। वह एक भाषावर्गणाका स्कंध है, उसका तुममें अत्यंताभाव है, परस्पर गमन नहीं। इसी तरह ज्ञेयमें ज्ञान नहीं घुसता और ज्ञानमें ज्ञेय नहीं जाता, परन्तु फिर भी दोनोंमें सम्बन्ध है मात्र ज्ञेय ज्ञायकपनेका। क्योंकि ज्ञानने ज्ञेयको जाना। यहाँ वस्तुतः अन्तर्ज्ञेयाकार ही जाना गया है। वह ज्ञेयाकार कहाँसे प्रगट हुआ है? ज्ञानस्वभावमें से। उस ज्ञान स्वभावके अवलम्बनमें रागादि होनेका पुरुषार्थ फिर जागृत होता है। उस ज्ञानस्वभावके अभेदरूप निजके जाननेसे तदनंतर निर्विकल्प दशामें केवलज्ञान पैदा हो जाता है। आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें प्रवेश नहीं करते, फिर भी आत्मामें पदार्थ आगये और पदार्थोंमें आत्मा चली गई। आत्मा और पदार्थोंका यह सम्बन्ध ज्ञानद्वारा हुआ क्योंकि ज्ञान सर्वगत है, ज्ञान सब पदार्थोंमें पहुंच गया। यहां इस ज्ञानभावको प्रदेश संयुक्त दृष्टिसे न देखें।

सकल तथ्यके परिज्ञानका अन्तिम लाभ—ज्ञानप्रमाण आत्मा है और ज्ञान ज्ञेयको जानता है, तब गुणगुणीके अभेद विवक्षामें आत्मा भी सर्वगत हो गया, तब लो यह आत्मा सर्व व्यापक है। ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध आत्मा और ज्ञेयमें सम्बन्ध कराता है परन्तु ज्ञान अपने आधारमें रहता है और ज्ञेय अपने आधारमें रहता है। कई तरीकोंसे पदार्थका ज्ञान करो, फिर पदार्थका अनुभव होने पर तरीकोंकी आवश्यकता नहीं रहती, सर्व कुछ जानने पर तत्त्वभूत जान लेने पर क्या करना रह जाता है, ज्ञाता मात्र रहना रह जाता है। किसीकी परिणतिसे अन्य नहीं परिणमता है। इस स्थितिका बोध होनेपर क्षोभ ही नहीं है। पर्यायदृष्टिसे पदार्थ अनित्य है, तो द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, तीनों काल रहते हैं और स्वतन्त्र रहते, इसलिये नित्य है। परन्तु अवस्थाकी दृष्टिसे अनित्य है। शरीर क्या है वह भी अनित्य है, इस प्रकार अनेक दृष्टियोंसे पदार्थको जाना और जाननेके पश्चात् निश्चयनयको भी मत देखा और व्यवहार नयमें भी मत पड़ो प्रमाणरूप अनुभवरूप रहो। व्यवहारनय भी छूटा और निश्चयनय भी छूटा और अनुभव चीज सामने आई।

ज्ञानपद्धतियोंके द्वारा लक्ष्यका ग्रहण—निश्चयनय और व्यवहारनय तो उसको जाननेके तरीके मात्र हैं। तरीकोंमें ही बुद्धि खर्चकी गई तो वस्तुका वास्तविक अनुभव नहीं हुआ। तरीकोंके सहारे उस वस्तुको देखना चाहिये और केवल तरीकोंको ही नहीं पकड़ लेना चाहिये। अंगुलीसे मोटरकी तरफ इशारा करके उसे बताया गया कि मोटर वह खड़ी है। परन्तु अंगुलीके सहारे देखकर अंगुलियोंको छोड़कर दूरवर्ती उस मोटरको यदि नहीं देखा गया और मात्र अंगुली ही को देखा गया तो मोटर कहां दीखी? इसलिये अंगुलीको ही मत देखो,

बल्कि अंगुलीके सहारेसे दूर देखो। तब ही मोटरका ज्ञान होगा। इसलिये तरीकेको ही न देखकर तरीकेके सहारे वस्तुका अनुभव करना चाहिये। व्यवहार और निश्चयनयकी दृष्टिसे यदि चीजका सर्व सम्यग्ज्ञान कर लिया तो अब व्यवहार और निश्चयको छोड़कर उस वस्तु का अनुभव करने लग जावो अर्थात् विश्रान्त हो जावो, यदि व्यवहार और निश्चयनयको ही पकड़े रहे तो वस्तुका अनुभव नहीं होगा।

वस्तुविज्ञानका क्रम—यहां यह क्रम समझना कि प्रथम जगत उपचारके संकल्पमें जुटा है। वह पहिले सत्य व्यवहार पहिचानें। सत्यव्यवहारकी पहिचानमें निश्चयका मंतव्य निमित्त हो रहा है। सत्य व्यवहारके अनन्तर निश्चयनयके मन्तव्यमें व्यवहारके अविरोधेन दृष्टि जमावे, पुनः निश्चयनयके सूक्ष्मविकल्पको भी छोड़कर अनुभव दशामें रहा जाता है। इसकी सिद्धिके प्रयोजनके लिये ज्ञानियोंने वस्तुस्वरूपको व्यवहारका आलम्बन लेकर मात्र कहा है। सर्वपदार्थ अत्यन्ताभाव वाले हैं, परस्परमें किसीका समावेश नहीं है, अतः आत्मा पदार्थमें नहीं जाता और पदार्थ आत्मामें नहीं जाता, परन्तु आत्माका स्वरूप ज्ञानस्वभावसे जो जाना गया है उससे हमने इस पदार्थका अनुभव कर लिया, केवल इस ज्ञान द्वारा जान लेनेसे हमने उन पदार्थोंका मात्र जाननरूप अनुभव कर लिया। मानों उन ज्ञेय पदार्थोंने अपना आकार आत्माको सौंप दिया और आत्माने उनका आकार ग्रहण करके उनका अनुभव कर लिया। ज्ञान हो जाना और ज्ञेय हो जाना, यही देना और ग्रहण करना है। इससे तीनों लोकों में जितने पदार्थ हैं वे ज्ञानके साथ आत्माके सब प्रदेशोंके संसर्गमें ज्ञेयमात्रसे आते हैं। केवल-ज्ञान सर्वज्ञपना है, उसके उपजने पर ज्ञानी सर्व ज्ञेयका आकार ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है। यहाँ भी न ज्ञेय ज्ञानीमें जाते और न ज्ञानी ज्ञेयमें जाता। फिर भी ज्ञानीने ज्ञानसे उन को अपनी आत्मामें ग्रहण कर लिया।

निर्लेप अन्तस्तत्त्वकी भावना—यहाँ यह भावना करो, यह सोचो कि मैं स्वतन्त्र हूं, मैं किसीमें प्रवेश नहीं करता, मैं तो एक स्वतंत्र आत्मा हूं, निश्चल, निष्काम सबसे पृथक् हूं, मुझमें कोई चीजका प्रवेश नहीं हुआ। फिर क्या उन सबसे संसर्ग बनाता हूँ ? इनसे हमारे ज्ञानस्व-भावमें बड़ी बाधा पड़ती है। गृहस्थीके आश्रयसे जो बना यह विकल्प, वह आत्मासे नहीं छूटता हो, परन्तु इसको छोड़ना चाहिए। पदार्थ तो पहिले ही छूटे हुए हैं यह विकल्प नहीं छूटता, इस विकल्पको छोड़ना चाहिये। मनमें एक दफा यह उत्साह तो लाओ कि सचमुच जब मुझमें कोई पदार्थ नहीं आता, तो मैं ही उनका विकल्प क्यों आने दूं ? उनसे अपना मोह छोड़ो।

धर्मरुचि व अधर्मपरिहारका सन्देश—देखो भैया ! अपने पुत्रसे मोह करते हो परन्तु दूसरेके पुत्रसे नहीं करते। तुमने जिस प्रकार दूसरेके पुत्रको ज्ञानसे जान तो लिया परन्तु तुम्हारा उससे मोह नहीं हुआ, उसी प्रकार तुम अपने पुत्रको चाहे जानते तो रहो, परन्तु उसमें

भी मोह मत लाओ। पुत्र अथवा स्त्री अथवा अन्य कुछ ये सब तो नष्ट हो जाने वाले सम्बंध हैं, फिर इनमें क्यों मोह लाते हो ? कितनासा जीवन है इसे उधेड़बुनमें ही लगाया तो मनुष्य होनेका लाभ क्या ? पर तो पर ही है, इसके आश्रयको बनाकर जो विकल्प रूपसे परिणमता है वह बड़ा कष्ट है। विकल्पोंका भार ही तो अनादिसे अब तक बढ़ाया, क्या महत्त्व पाया ? आत्माका महत्त्व हित सहज आनंदरूप धर्ममें है। धर्म करनेके लिये आत्मस्वरूप जानना प्रथम कर्तव्य है। आत्मा ज्ञानमय है, समस्त परज्ञेयोंसे भिन्न है, इस ज्ञानका स्वरूप क्या है ? जो अनुभवसे पहिलेकी पहिचान है इसका ही यह प्रकरण चल रहा है, वह ज्ञान अन्तर्ज्ञेयाकारमय है। अन्तर्ज्ञेयका आकार वैसा है जैसा कि सब सत् है, यह कैसा अलौकिक सम्बंध है इसी प्रकारसे विपरीत पद्धतिसे भी देखो—जैसा सर्वसत् है वैसा अन्तर्ज्ञेयाकार है। यह अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञानस्वभावका ही तो परिणमन है, मैं ज्ञानस्वभावमय ध्रुव हूं ऐसा प्रतीत कर उसमें स्थिर होना सो धर्म है। ऐसी दृष्टि करना ही युक्त है। परिग्रह तो भार ही है, इसके आश्रय अपनेको मलिन मत करो।

अब मत चूको—एक राजा था, वह बड़ा कंजूस था। एक बार उसके दरबारमें नट और नटनी नाचने और गाने आये। रातभर नट और नटनीका नाच और गाना ठाटसे होता रहा। राजाने उसे अब तक कोई परितोषिक न दिया। जब रातका आखिरी समय आया और दिन निकलनेमें थोड़ा ही समय रह गया उस समय रातभर नटनी नाचते-२ थक चुकी थी। उसने कहा कि मैं तो अब थक गई हूं, अब धीमी ताल बजाओ। नटने यह सुना तो उसे चिंता हुई और उसने नटनीसे दोहा कहा—"गई बहुत थोड़ी रही, थोड़ी हूतो जात। अब मत चूको नट्टनी फल मिलनेकी बार॥" इस दोहेका तात्पर्य यह है कि समय बहुत व्यतीत हो चुका, अब समय थोड़ा ही है, यदि इस ही अंतिम शेष समयमें चूक गये तो सब किया बेकार हो जायगा और इस समय सावधानीसे अपना प्रकृत उचित कर्तव्य करोगी, तो हे नटनी, इसका उत्तम फल पावोगी, फल मिलनेका समय तो यह ही है। इस दोहेसे नटनीका उत्साह बढ़ गया और उसने जोर-जोरसे नाचना चालू कर दिया। यह दोहा राजाके लड़केने भी सुना, तो सुनते ही उसने अपना एक लाख रुपयोंका हार नटको दे दिया। राजाने यह देखा तो उसे बड़ा रंज हुआ कि नाचका इतना बड़ा इनाम नहीं हो सकता। अधिकसे अधिक ५०) रु० इनामके दे दिये जाते, परन्तु मेरे लड़केने तो एकदम एक लाख रुपयेका हार दे दिया, वह इस प्रकार सोच ही रहा था, कि राजकुमारीने भी अपना एक लाख रुपयेका हार नटको दे दिया। अब तो राजाको और भी रंज हुआ कि ये तो और भी गजब हो गया, इस तरह तो मैं लुट जाऊँगा. इसे अधिक दातव्य होता तो दो बारमें १००) रुपये दे दिये जाते ठीक थे, परन्तु यहाँ तो दो लाख रुपयेके हार दे दिये गये। इतनेमें ही वहाँ बैठे एक साधुने भी अपना ५००) रु० का

दुशाला नटको दे दिया। राजा सोचने लगा कि यह स्वप्न तो नहीं देख रहा, यहाँ तो सबको मूर्खता ही सूझ रही। इन ज्ञानी महात्माको भी यह क्या सूझी, उन्होंने अपना दुशाला क्यों दे दिया ? नट तो बहुत संतुष्ट होकर खेल दिखाकर अपने घर गया।

शिक्षासे प्रभावित होकर समर्पणकी संभवता—अब खेलके बाद राजाने लड़केको अलग बुलाकर पूछा कि तुमने उस नटकी किस बातपर प्रसन्न होकर अपना एक लाख रुपयेका हार दे दिया ? लड़केने उत्तर दिया कि पिताजी ! मुझे इस नटसे इतना ऊंचा उपदेश मिला कि सब कुछ भी देकर उऋण नहीं हो सकता था। मैंने पहिले यह सोचा था कि आप ८० वर्षके हो गये, परंतु आप अब भी अपना राज्य मुझे नहीं सौंपना चाहते थे, इसलिये मैंने यह विचारा था कि मैं कलके दिन रसोईयासे मिलकर आपके भोजनमें विष मिलवा दूँगा, ताकि आपकी मृत्युके पश्चात् इस राज्यका मैं मालिक बन सकूँ, परन्तु नट द्वारा कहे गये दोहेसे मुझे ज्ञान आ गया कि अब आप ८० वर्षके तो हो ही गये। कुछ दिनोंके ही और मेहमान हैं, आपके मरनेके बाद राज्यका मालिक मैं ही तो होऊंगा और कोई हो नहीं सकता। फिर मैं क्यों अभी ही आपकी हत्या करूं ? इस ज्ञानके आ जानेसे आपकी हत्यासे मैं बच गया तो वह एक लाख का हार इस बातके सामने क्या चीज है ? यह बात सोचकर मैंने अपना हार नटको दे दिया। फिर राजाने अपनी लड़कीको बुलाया और उससे भी पूछा कि तुमने अपका हार नटको क्यों दिया ? उसने उत्तर दिया कि हमारा अनुराग वजीरके पुत्रसे था। मैं उससे शादी करना चाहती हूं, परन्तु वह गरीब है। अतः आप उससे हमारी शादी नहीं करेंगे, क्योंकि यदि आप उससे हमारी शादी करते हैं तो आपको उसे १० या २० गांव भी दहेजमें देने पड़ते, क्योंकि आप अपने दामादको गरीब रूपमें कैसे देख सकते ? इसलिये आप उससे हमारी शादी तो नहीं करते। तब मैंने सोच लिया था कि कल रातको उसके साथ भाग जाऊँगी। परंतु नटके दोहेसे हमको ज्ञान हो गया कि अब आप थोड़े दिनोंके लिये और जिन्दा हैं। आपके मर जानेके बाद भैया राजा बनेंगे और हमारी इच्छाके मुताबिक हमारी शादी उस वजीरके लड़केके साथ कर ही देंगे, क्योंकि उनकी हमारे ऊपर कृपा है। अतः पिताजी यदि मैं भाग जाती तो आपको कितना कलंक लगता ? उस दोहेने आपको और मुझको कलंकसे बचा लिया। इस कलंकसे बच जानेके सामने एक लाख रुपयेका हार कोई चीज नहीं, यह सोचकर मैंने अपना हार दे दिया। इसके अनंतर राजाने साधुको बुलाया और पूछा कि महाराज आप तो ज्ञानी हैं, आप कैसे ठगाये गये, आपने नटको अपना एकमात्र दुशाला भी क्यों दे दिया ? साधुने उत्तर दिया कि राजा मेरी आपकी करीब ७५ सालकी आयु हो गई, इस उम्रमें हमने खूब ठाट-बाट देखा परन्तु जिस उत्तम बातका आज तक विचार भी न आया था, यह उत्तम विचार आज इस नट के उपदेशसे मिला। इस दोहेने हमको चेता दिया। हमने सोचा कि इतनेसे जीवनके लिये क्यों

इन चीजोंसे मोह पैदा करें ? इतना अच्छा दुशाला अब नहीं रखना चाहिये, क्योंकि अब तो फल मिलनेकी बारी है। थोड़ीसी ही तो आयु शेष है, शुद्ध भावोंसे अपनी चर्या बनाकर आत्मोद्धारमें लगनेकी प्रेरणा आज मिली। इस बार मैं क्यों चूक करूं ? राजन् ! इस जीवने अनादिसे लगे हुए भ्रमणमें कितने ही भव ऐसे पाये होंगे जहां वैभव साम्राज्य बहुत-बहुत पाया है किन्तु उससे संतोषकी बात तो दूर रही तृष्णा ही बढ़ी। यहां भी जो कुछ पाया है उससे शान्ति तो नहीं किन्तु आकुलता ही बढ़ी। नटके दोहेसे जो जागृति मिली उसका पारितोषिक दुशाला तो ना कुछ चीज है, फिर भी जो था सो दे दिया।

ज्ञानलाभमें घटनाका सहयोग—इन बातोंको सुनकर राजाको भी ज्ञान उपज गया, उसने तुरन्त अपना राज्य अपने लड़केको सौंप दिया, लड़कीकी शादी उस वजीरके लड़केसे कर दी और और खुदने उन साधुजीसे संन्यास धारण कर लिया। इस प्रकार ज्ञान उपजनेपर ऐसे कंजूसने भी अपना सर्वस्व त्यागकर संन्यास धारण कर लिया। इस दोहेसे सब भाइयोंको शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए, किसीकी उम्रका कोई ठिकाना नहीं। २० वर्षका आदमी भी यह नहीं जानता कि अब उसकी आयुके कितने दिन शेष हैं, अतः सबको अपना धर्म समझना चाहिये।

विकल्पोंकी निष्फलता—अपने आत्मतत्त्वको समझो और सोचो कि जगतकी किसी भी चीजसे हमारा सम्बन्ध नहीं, हम तो ज्ञाता मात्र ही हैं, सर्व पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे हैं व परिणमते हैं किसीके स्वरूपमें किसीके स्वरूपका प्रवेश है नहीं। इस प्रकार इस प्रकरण में कह बात बताई कि ज्ञानमें ज्ञेय नहीं जाता और ज्ञेयमें ज्ञान नहीं जाता। वे तो जुदा-जुदा ही हैं। ज्ञानस्वरूप वह आत्मा अन्तमें एकाकी रह जाता परन्तु फिर भी भ्रममें पड़कर विकल्पोंमें फंसता, अन्तमें ब्याजमें क्या क्या मिलता ? दुर्गति। ठीक ही है विकल्पका फल तो आकुलता ही है, अधर्मका फल तो दुःख ही है, परद्रव्य पर ही हैं, उसका अपनाना चोरी नहीं तो क्या है ? इस ममत्वका फल संसारक्लेश ही है।

विकल्पोंकी निष्फलताका उदाहरण—एक चोर एक घोड़ा कहींसे चुरा लाया। वह चोर किसी दूर गांवके बाजारमें बेचने ले गया। कुछ आदमी उस घोड़ेको खरीदने आये तो उसने उसकी कीमत एक हजार रुपया बताई जब कि वह ज्यादासे ज्यादा २००) की कीमत का था, वे वापिस चले गये। एक बार एक दूसरा चोर भी उसे खरीदने को आया। उसे भी उसने वही कीमत बताई। चोर फौरन समझ गया कि यह तो चोरीका माल है तब ही यह कोई चोरीका न समझने पावे इससे इसकी इतनी कीमत मांगता है। उसने भी चालसे जान लिया और कहा कि अच्छा भाई तुम्हें १०००) ही देंगे, जरा उसे दिखाओ तो सही उसकी कला तो देखूं। इतने तुम जरा मेरे हुक्केको पकड़ लो। इस बहाने वह घोड़ा लेकर भाग गया। फिर उससे कुछ लोगोंने पूछा कि तुम्हारा घोड़ा बिक गया क्या ? उसने कहा हाँ भैया

बिक गया। कितनेमें बिका है ? जितनेमें खरीदा था। कुछ भी नफा नहीं हुआ ? भाई नफेमें यह हुक्का मिला है। इसी तरह हम सब लोग जगतके बन्धन मुफ्तमें मिल गये, नफा क्या हुआ ? केवल दुर्गति। इस जगतमें हमारे साथ कुछ भी नहीं रहेगा। अतः इन सब बाह्य पदार्थोंसे लक्ष्य छोड़कर अपने आत्मकल्याणमें लगो। तब ही अनन्त सुखकी प्राप्ति कर सकोगे। जगतमें सर्व पदार्थ पर हैं, उनको अपना मानना ही आन्तरिक चोरी है। इस चोरीका त्याग करके अपने ज्ञान सुख वैभवसे सत्य गौरव अनुभव करो ? यही सुखका मार्ग है।

उक्त प्रकारसे ज्ञान व ज्ञेयमें दोनों बातें सिद्ध की गईं कि ये परस्पर मनन नहीं करते तथापि ज्ञान ज्ञेयाकारोंको ग्रहण कर लेता है और ज्ञेय अपना आकार ज्ञानको समर्पण कर देता है तथा ये दोनों ज्ञेयाकारके ग्रहण समर्पण प्रवीण है तथापि कोई किसीमें नहीं है। इसी प्रकार गुणगुणीकी अभेद विवक्षामें ज्ञानी आत्मा पदार्थोंमें वर्तमान नहीं है, तथापि ऐसी शक्तिकी विचित्रता है कि आत्मा सब देख जान लेता है। उसकी पदार्थोंमें प्रतीति होती है। इसी शक्ति की विचित्रताको प्रकट करते हैं—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणादि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

अर्थोंमें गमन किये बिना ज्ञानकी क्रिया—अतीन्द्रिय ज्ञानी अथवा इन्द्रियज ज्ञानसे अगम्य यह ज्ञानी प्रविष्ट भी नहीं, अप्रविष्ट भी नहीं, वह तो मात्र अशेष जगतको जानता है। जैसे कि चक्षु रूपको जानता है यह उदाहरण मात्र है। यहाँ भी जानने वाला आत्मा ही है। आजके प्रकरणमें बताया गया कि यह ज्ञानी ज्ञेयोंमें प्रविष्ट नहीं है और प्रविष्ट नहीं है ऐसा भी नहीं हैं। ज्ञानी ज्ञेयोंमें है और ज्ञेयोंमें नहीं भी है। ज्ञान अपने प्रदेशको नहीं छोड़ता, फिर भी वह ज्ञेयको जानता। आंख अपने प्रदेशको नहीं छोड़ती, परन्तु लोकदृष्टिसे पदार्थोंको जाननेमें वह काम आती और उनका आकार प्रकार जो भी है उसे स्वीकार करती। जिस तरह पदार्थों में नहीं प्रवेश करती हुई भी चक्षु उनमें प्रवेश करती है इसी तरह यह आत्मा भी अपने स्थानको न छोड़कर पदार्थोंको जानता है, यह आँख पदार्थोंमें प्रवृत्ति नहीं करती। परन्तु आत्मप्रदेशमें रहते हुए भी यह आँख उन पदार्थोंके देखनेमें निमित्त है और यह पदार्थ आँख द्वारा ज्ञानमें आते हैं अर्थात् ज्ञान चक्षु द्वारसे स्वयं जानता है, ज्ञानमात्र वर्तमान को ही नहीं जानता, किन्तु वह ज्ञानभूत और भविष्यको भी जानता। यदि "पदार्थको जानने के लिये ज्ञान पदार्थोंमें पहुंच सकता" ऐसी बात रखें तो भूत भविष्यमें ज्ञान नहीं पहुंच सकता क्योंकि ज्ञान घुसता तो वर्तमान ही में, फिर भूत और भविष्यका परिणमन जो वर्तमान असत् है उसमें ज्ञान कैसे पहुंचे ? तब भूत भविष्य अज्ञेय होनेसे असत् हो गये, फिर भूत और भविष्य भी वर्तमान में कैसे आवें ?

ज्ञानतत्त्वका विचार—इसलिये यह ज्ञान आत्मामें रहते हुए भी क्षेत्रसे भी सर्व व्या-

पक और कालसे भी सर्वव्यापक है। यह बात तभी बनेगी। जब ज्ञान पदार्थमें पहुंचकर जाने। यहाँ पहुंचनेका अर्थ जानन व्यवहारसे है। इस प्रकार ज्ञानशक्तिकी ऐसी विचित्रता है। इस केवलज्ञानीके ज्ञानमें तीनों लोक और तीनों कालके पदार्थ क्रमसे आ गये। ऐसा मालूम होता है कि इस केवलज्ञानीने जगतके सारे पदार्थोंको अपनेमें धर लिया। ज्ञानने सारे पदार्थोंको जाना, फिर भी वह ज्ञान अपने आपके प्रदेशोंको छोड़कर जाता भर नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान अर्थोंमें प्रवेश नहीं करता और करता भी है इसका नयविवरण इस प्रकार है, निश्चयनयसे तो प्रवेश नहीं करता है। व्यवहारनयसे ज्ञान ज्ञेयमें और ज्ञेय ज्ञानमें प्रवेश करता है। व्यवहार कथन आरोपित होता है। किसी प्रयोजनसे दृष्टिसे सम्बंध माना जाता है। यह सर्व निमित्तनैमित्तिक भावोंकी तरह अथवा उससे अधिक विशद स्फूर्तिदायक सम्बन्ध असम्बंध का विवेचन विवेचनके हृदयको पार करता हुआ है। ज्ञानके स्वरूपका विचार ज्ञानकी निर्मलताका पूर्ववर्ती है, प्रयोजन निर्मलता है। जैसे किसी विवाहमें गृहस्थका एकमात्र प्रयोजन यह होता है कि दूल्हाकी भांवर पड़ जाय, परन्तु उसके फेरे पड़ जानेके लिए उन्हें पचासों काम करने पड़ते हैं, जैसे—न्योते देना, जीमन करना, निकासी करना आदि, इसी तरह अपना सुधार करनेके लिये हमारा एक लक्ष्य बताया गया है कि हमारी ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर हो जाय।

आत्मसुधारका एकमात्र काम—भैया! देखो लौकिक काम तो ऐसे हैं कि एककी सिद्धिके लिये बीसों काम करने पडते किन्तु आत्मसिद्धिके बाबत तो बात ही निराली है, जिसके लिये हमें पचासों काम नहीं करना चाहिये। जहाँ एक काम होगा वहाँ उसकी व्यवस्था आसानीसे बन जाती है। आत्मसुधारके लिये ५० काम नहीं करना बल्कि एक ही काम करना, वह है ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर करना। ऐसे प्रयत्नशीलके बीचमें जो शुभ पराश्रित भाव होते हैं उनमें नहीं अटकना। आत्माका यह सुधार हमें सम्यग्दर्शनमें प्रवेश कराता है अथवा सम्यग्दर्शनका प्रवेश आत्मसुधार है, तुम चिन्ता करते कि ये दुनियाके सुख, ये दुनिया की सारी चीजें हमसे न छूट जायें, अरे ये सारी बातें छूट रही हैं, तो छूट जाने दो। ये तुम्हारे साथ हैं कब? ये तो पहिले ही छूटी हुई हैं। ये तुममें घुसी हुई कहाँ हैं, तुम ही इन्हें विकल्प से पकड़ रहे थे, तुम इन्हें पकड़नेमें मत लगो बल्कि अपनी ही तरफ दृष्टि रख उस अमर अवस्थाकी तरफ दृष्टि करो ताकि तुम अमर हो जावो।

पराकर्षणमें अनर्थ—अपने आपमें लीन हो जाने वालेको यदि ये बाह्य पदार्थ दृष्टिमें आकर वशमें कर लेते हैं तो वह अपने आपमें अच्छी तरह नहीं लग पाया। जैसे किसी योगी की साधनामें विद्यानुवाद पूर्व सिद्ध हो रहा है, वहाँ अनेक विद्यायें आती हैं। सभी विद्याओंने आज्ञाके लिये प्रार्थना की यदि वह किसी या सभी विद्याओंमें लग गया तो एक विद्यामें जिसमें वह लगा हुआ था उससे वह दूसरी तरफ चला गया। आत्मोपयोगसे जो छूट गया, बाह्यमें

दृष्टि आ गई तो उसके ज्ञानस्वभावका वास्तविक स्वरूप छूट जाता है। मैं दुनियाका काम कर दूं सर्व मुझे भला देखें, जगतमें मेरी श्रेष्ठता रहे आदि कहनेको तो भले लगते, परंतु इन अभिप्रायोंमें अगृहीत मिथ्यात्व बसा ही हुआ है।

स्वतत्त्वचिन्तनकी स्मृति—हे आत्मन्! परके विकल्प तो बहुधा करता है, क्या कभी ऐसी भी स्फूर्ति आई कि मैं एक अकेला हूं, किसीकी कुछ भी परिणतिसे मेरा कुछ नहीं होने का, सर्व लोकके द्वारा भी प्रशंसा किये जानेपर भी मेरी कौड़ी भी नहीं उठती। अहो, मुझे कोई न जाने, कोई न माने, मानता भी कौन है? मैं अपनेमें ही गुप्त हूँ, रहूं। यद्यपि यह भी विकल्प है किन्तु यह है तो निवृत्तिके सन्मुख। तुम किसी भी परिस्थितिमें गुजरो उनका उपयोग करके मात्र ज्ञानस्वभावमें रत रहो। जैसे कहीं आग लग गई उसमें तुम्हारी कोई जरूरी वस्तु रह गई, वह आग बढ़ती जा रही है, परन्तु तुम उस आगकी परवाह न करते हुए बड़े वेगसे ऐसे आगमें जाकर उस चीजको उठा लानेकी कोशिश करते हो। उसी तरह किसी बाह्य की परवाह न करते हुए ज्ञानस्वभावकी भी प्राप्ति करनेकी कोशिश करो। तुम्हारे समागममें जो बाह्य पदार्थ आ गये हैं तथा उनमें जो रागरूपी आग पैदा हो गई है और दिनपर दिन बढ़ती जा रही है उसकी परवाह न करते हुए भी तुम ज्ञानस्वभावरूपी वस्तुको उसमेंसे गुजरकर भी प्राप्त करनेकी कोशिश करो। जगतकी सारी वस्तुओंसे राग हटाओ। यह राग उसी भयंकर आग के समान है। अपने आपको अकिंचन विचारो तो तुम्हें ज्ञानस्वभावकी वह विधि दिखेगी कि जिसका उपयोग अनंत सुखमय है।

निधिकी बेसुधीमें दैन्यका अनुभव—जैसे किसी गरीबके घरमें धन गड़ा हुआ है परंतु उसे उसकी खबर नहीं थी कि उसके उस कमरेमें उस जगह इतना धन गड़ा है। अपनेको गरीब समझकर वह अपने विकल्पोंमें दुःखी हो रहा है। परन्तु जब वह अपने बाप दादाकी बहियोंमें देखता है और उसको लिखा मिलता है कि फलानी जगह इतनी दूर फलानी दिशामें इतने हाथ नीचे एक लाखका घड़ा गड़ा हुआ है तब वह उस बहीको देखते ही उस धनके गड़े रहनेका दृश्य पूराका पूरा उसकी कल्पनामें अंकित हो जाता है। कल्पनाका वह बड़ा सुख उसे बहीको देखते ही हो गया और उसने कुदालीसे उस जगहको खोदी तो उसे अशर्फियाँ दीख जातीं और वह अपार सुखमें गर्त हो जाता है। इसी तरह इस आत्मामें ज्ञानस्वभावकी जो निधि पड़ी हुई है और तुम्हें मालूम नहीं है, अतः तुम इस संसारके असंख्यात विकल्पोंमें दुःखी हो रहे, तो उस निधिको खोजो। वह निधि तो तुम्हारी ही आत्मामें विद्यमान है। ये शास्त्र भंडार हमारे ज्ञानी सत् बाप दादाओंके द्वारा लिखी गई बहियां हैं, जिनमें लिखा हुआ है कि तुम अपनी आत्मनिधिको प्राप्त करनेके लिये इस दशामें जावो, वहाँ जावो, यह करो, वह करो तुम्हें वह निधि मिल जायगी। जिस समय हमने इन बहियोंको पढ़ा उसी समय हमें अपने

आपमें सब कुछ झलकने लगा, अपने अनन्तरमें सारी चीज दीखने लगी। अब तो भगवानके गुण स्मरणका हथियार लेकर फिर ज्ञानानुभव रूपी कुदाली लेकर हमें उस निधिको लेकर खोजना निकालना है। ज्ञानस्वभावकी वह निधि प्राप्त होते ही हमें जगतका भेद मालूम हो जाता है।

ज्ञानतत्त्वकी विविक्तता व स्वरसनिर्भरता—जब हम सोचते हैं कि ये वस्तुयें जुदी हैं, मैं जुदा हूं, आपसके सम्बन्ध जुदे हैं, मेरे साथ लगकर रहने वाला मेरा यह शरीर भी मुझसे जुदा है तब ऐसे निश्चयके बाद जब ऐसे जगतके भेदको मैंने अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे जाना इसके जाननेमात्रसे जो मुखका अनुभव होता है उसे ज्ञानी ही समझता है ऐसी अक्षय निधि हमारी ही आत्मामें छिपी हुई है। उसके पानेका उपाय स्वयं स्वयंके द्वारा होता है। यह कार्य पराधीन नहीं है परवस्तुका संयोग पराधीन है, पराश्रयताका क्लेश मिटते ही, यह स्वरूप अनुभूत हो जाता है। यहाँ ज्ञान ज्ञेयकी पराश्रयताका निषेध हमें सभी पदार्थोंकी पराश्रयताके निषेधका संकेत करता है। अहो देखो तो सही निर्मल ज्ञान द्वारा समस्त विश्वके जाननका भार होनेपर भी वह निर्भार है स्वरसका निर्भार है। केवलीके देव भी आत्मद्रव्य हैं हम भी आत्मद्रव्य हैं। जैसे वे परका परस्पर गमन न करते हुए ही जान रहे हैं इसी प्रकार हम भी परस्पर गमन न करते हुए जान रहे हैं। तब इतना जाननेपर भी उनमें विकृति नहीं होती तो हम क्यों विकृत होते ? यह जाननेका अपराध नहीं, स्वरूपदर्शन न हो रहे का अपराध है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है रागस्वभाव नहीं। जो स्वभाव नहीं और फिर भी रहे तो उसकी स्थिति स्वरूपसे बाह्य ही रहती है तब वह विभाव मुझ द्रव्यपर तैरता है उसे जो अपनावे वही दुखी हो जाता है। भैया ! अपने ज्ञानस्वभावपर दृष्टिपात करो वह अविकारी सहज भावमय है। तुम राग, द्वेष, मद, मोह, लोभ आदिके परिणामोंमें अपनी बुद्धि लगा रहे हो और तुम्हें उनके अलावा कोई दूसरी बात ही नहीं सूझती और वही राग तुममें लगा हुआ है। परन्तु उस रागसे अपनी बुद्धि हटावो तभी तुम्हारा कल्याण हो सकता है।

जीवमें अपराध होनेपर पदार्थोंकी विकृति—देखो भैया ! ये पदार्थ अपनी सत्तासे सुन्दर पड़े हैं परन्तु जीवकी उनके भोगनेकी नियत हुई, उनमें जीवने प्रयत्न करना चाहा कि वे पदार्थ विकृत हो जाते हैं। जैसे थालीमें लड्डू रखा है, बड़ा सुहावना लग रहा है, जब तुमने उसे खाया तो तुम्हें वह बड़ा मीठा लगा। आत्मा उस लड्डूको न खा सकता और न उसका मधुर रस आत्मामें चिपटता। यह सब मोहकी प्रेरणापर ज्ञानका नाच है खानेका। विकल्प यह आत्मा करता है और मीठा लगा यह विकल्प भी कर डालता है। जिसे स्वरसका स्वाद नहीं वह इसी प्रकार भिखारी होता है। उस तरह तुमने लड्डूमें राग तो रखा और वहां क्या हुआ वह ज्यों ही गलेके नीचे आया तो माटी हो गया। जब तक लड्डू थालमें था बहुत सुहावना

लगता था, मुंहमें पहुंचकर उसकी दशा घिनावनी हुई और पेटमें उतरनेके बाद वह माटी हो जाता है। कहावत भी है—"घाटी नीचे माटी।" उसका असली स्वरूप पेटमें जानेपर तो क्या मुँहमें आनेपर ही बिगड़ जाता है। विश्वास न हो तो दर्पणमें चबाये हुए लड्डू भी देख लो तो कै हो जाती है। भ्रमसे सुख मालूम होता है। अतः इन पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़ो, इनमें अपनी बुद्धि मत लगाओ, स्पर्शन और रसना इन्द्रियोंके विषयोंका नाम है काम और घ्राण, चक्षु और कर्णके विषयोंका नाम है भोग। जिस चीजको बिगाड़कर काममें लावें उसे कहते हैं काम और जो चीज बिना उसके स्वरूपको बिगाड़े ही काममें लावें उसे कहते हैं भोग। तुम इन सब इन्द्रियोंके वशमें पड़कर अपने ज्ञानस्वभावको भूल जाते हो। तुमने जहां-जहां जिस-जिस वस्तुमें राग पैदा कर रखा है उससे अपना लक्ष्य हटाओ, वे सब हमारे कुछ भी सगे नहीं हैं। तुमने अपने सुखका विश्वास करके मोहके पदार्थोंके पास जाते और वहांसे उल्टा यह फल मिलता कि तुम अपने दुःखको बढ़ा लेते। मोही जीव अपना आराम पानेके वास्ते जहां-जहां और जितना-जितना मोह उसे मिलता, उसको भोग-भोगकर और उन्हें देख-कर सुखी होता है परन्तु एवजमें उसे उल्टा दुःख ही मिलता है।

शान्त अन्तस्तत्त्वमें प्रवेशसे कल्याण—ये जगतके बाह्य पदार्थ सब धोखा हैं, इनमें राग मत करो। अपना निर्णय आप करो कि तुम क्या हो? इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिसे घुसने वाले हे प्राणी तू क्या चाहता है? शांति चाहता हूं। देख शाँति चाहता है तो शान्त आत्माओंमें घुस, अशान्त आत्माओंमें घुसकर और रहकर तू शांत नहीं हो सकता। तू शांत आत्माओंमें घुसकर शांति शांति देख। उस परमशाँतिको बताने वाले ये शास्त्र और ये मूर्तियाँ तथा साधु संत दीपक हैं। इनके उजालेमें तू शान्तिका मार्ग देख। शुद्ध आत्मा मात्र ज्ञाताद्रष्टा है उनके अंतर्ज्ञेयाकार तो है, परन्तु वे किंचिन्मात्र भी विकल्प नहीं करते, न उनमें रागद्वेष है और न कुछ करने भोगनेका भी विभाव होता है। इसी प्रकार सर्व आत्माओंका स्वभाव है। तू भी ऐसा है, मैं भी ऐसा हूं, आप सब भी ऐसे ही हैं। जिसकी मति ऐसे ज्ञानस्वभावमें उन्मुख हुई वह इस ही दृष्टिके अमोघबलसे सर्वविकल्पोंका निषेध कर देता है, पृथक् भी कर देता है।

प्रकाशमें निर्बाध पथगमन—यह भेदविज्ञानका प्रकरण, यह विचार अपूर्व है निःशंक श्रद्धा रखो कि एक वस्तुका अन्यके साथ अल्प भी सम्बन्ध नहीं है। यह मोक्षका मार्ग और शाँतिका मार्ग पाप रूपी घोर अन्धकारोंसे ढका हुआ है। जैसे यहांसे खानियां जाना है, रात्रिका समय है, घोर अन्धकार है, रास्ता विकट है, उसमें नाना प्रकारके गड्ढे हैं, जाना आवश्यक है, सो जब तक हमारे हाथमें लाइट नहीं हो तो हम आसानीसे वहां नहीं पहुंच सकते और घोर अन्धकारके कारण गड्ढोंमें गिर जायेंगे। यदि लाइट हमारे हाथमें होगी तो

हम आसानीसे उसके सहारे गड्ढोंसे बचकर इष्ट स्थान पर पहुंच जायेंगे। इसी तरह शाँति के मन्दिरमें जाना तो आवश्यक है, परन्तु उसका जो मार्ग है, बड़ा विकट है। उस मार्गमें पापोंका तीव्र अन्धकार है। जिससे शांतिका मार्ग दिखाई नहीं देता। उस पापरूपी अन्धकार से हमारा मार्ग ढका हुआ है। क्लेशके गड्ढे बीच बीचमें हैं, यदि हाथमें सम्यग्ज्ञानमय लालटेन नहीं होगी तो उनमें गिर पड़ेंगे। जीवनमें जो क्लेश आऐंगे, उपद्रव आयेंगे, उनमें गिर पड़ेंगे और धर्मको मूलसे भुला देंगे। इसलिये शांतिके मन्दिरमें पहुंचनेके लिये हम वहां तब तक नहीं पहुंच सकते, जब तक हे भगवन आपकी वाणी रूपी दीपक हमारे हाथमें नहीं आये। यहां हाथ तो उपयोग है जो सदा है, वह जब तक सम्यग्ज्ञानकी लाइटसे खाली था, भव भवनिमें घूमें, भ्रम आपदाके अनेक गड्ढोंमें गिर पड़े। अब तो इतनी सामर्थ्य आ गई कि उपयोगमें सम्यग्ज्ञान (वस्तुस्वरूप) आ सकता और विवेककी आंखसे सर्व यथार्थ पृथक् स्वरूप वाले देखे जा सकते हैं।

धर्मसेवाके उत्साहका अनुरोध—मनुष्य भव दुर्लभ है अथवा ऐसा सामर्थ्य लाभ दुर्लभ है, यहां स्वरूपजागृति कर लो, सदा सुखी रहनेका उपाय हो लेगा। एक आदमी सोचता है कि मुझे धर्म करते ४० वर्ष हो गये और न तो मेरे दूसरा लड़का ही हुआ, न मेरी कम्पनीमें नफा हुआ, इतना टैक्समें चला गया, इतना घाटा पड़ गया और मेरे इस धर्म करनेका कोई फल ही नहीं हुआ। अतः संसारमें धर्म कर्म कुछ नहीं है। मैंने वृथा ही इसमें अपना समय खोया। यह समझकर वह जितना धर्म करता था उतना भी छोड़ देता, उसे वहाँ करना क्या चाहिये था ? ऐसे ही एक किस्सा लेकर देखो—एक राजा था, वह शत्रुओंके आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये अपनी सेनापर कई करोड़ रुपया खर्च करता था, फिर भी उसपर शत्रुका आक्रमण हो गया। अब यदि वह यह सोचे कि मैंने इस सेनापर इतना रुपया खर्च किया। उससे कोई फायदा ही नहीं हुआ और शत्रुका आक्रमण हो गया। अतः इस सेनापर रुपया खर्च करना बेकार है और यह समझकर वह अपनी सेनाको नष्ट कर देता है। तो विचारो उचित है या अनुचित ? उसका यह काम बिल्कुल भी ठीक नहीं है। हर कोई कहेगा यह तो उसकी बेवकूफी ही है। इतना रुपया खर्च करनेपर भी यदि शत्रुका आक्रमण हो गया तो उसे और रुपया खर्च करना चाहिये और वह अपनी सेनाको उत्साह देकर आगे बढ़ाना चाहिये। परन्तु यदि वह अपनी सेनाको ही नष्ट कर देता है तो वह शत्रु बिना किसी अड़चनके ही राज्यमें घुस आयगा। उसे जो थोड़ी बहुत सेनासे युद्ध भी करना पड़ता वह भी नहीं करना पड़ेगा। अतः इस प्रकारकी दुर्बुद्धि नहीं लानी चाहिये, यह लौकिक बात है। जरा इसे प्रकृत निजमें घटाइये—धर्म हमारी सेना है, उसकी तुमने बचपनसे रक्षा की, कितने ही पदार्थोंका त्याग किया। धर्मकी सेवा तन, मन और धनसे सेवा की तो ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे ही होती, पुनरपि

जो निवृत्तिके लिये प्रवृत्ति होती है वह भी सेवा कही जाती है, फिर भी क्लेशोंने तुमपर आक्रमण कर दिया तो तुम धैर्य रखो। धर्मकी सेनाको और उमंग बढ़ाओ कि हे धर्म तुम दृढ़तासे मेरेमें आओ, उसमें तीव्र बुद्धि लगाओ। यह हो नहीं सकता कि धर्ममें तुम पूर्ण बुद्धि लगाओ फिर भी क्लेश आवे। इसलिये धर्ममें अपनी प्रबल बुद्धि लगानी चाहिये। धर्म क्या है, अनादि से अनन्तकाल तक बिना हेतुके सदा प्रकाशमान आत्मामें रहने वाले ज्ञानस्वभाव जो कि सब तरंगोंमें रहते हुए भी स्वतंत्र है, उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि धर्म है। जरा गम्भीरतासे विचार करो—तुम्हें बस संसारसे एक दिन जाना है अपने आपमें इस बातको दोहराये रखो कि मुझे तो धर्ममें ओतप्रोत होना है।

अन्तिम रसके नाटककी दिदृक्षा—मैं तो राग, रंग, क्लेश, स्त्री, पुत्र, बन्धु, संस्कार आदि सबसे अलग हूं, ९ रसोंमें सबसे अन्तिम रस शांति है। मैंने सब रसोंका नाटक तो देखा अब इस अन्तिम रसका नाटक और कर देखूं। शान्तिरसमें आकर शान्तिरसके अतिरिक्त और कोई रस नहीं आता। अपने-अपने अधिकारमें अपनी आत्मा होती है, सबकी आत्मा अपने-अपने अधिकारमें है। बाहरकी चीज मत सोचो और बाहरका सत्यस्वरूप जानो। ये स्त्री और पुत्र यह कहते कि तुम हमसे दूर क्यों रहते हो ? तो उनको उत्तर दो कि मैं तो अपने शरीर तक से भी दूर हूं। तुममें मोह कैसे रख सकता हू, जब कि मैं अपने शरीर तकसे भी मोह नहीं रखता तो ये तो सब बाह्य पदार्थ हैं। उनमें मेरा मोह क्यों रहेगा ? यदि तुमसे मेरा मोह रहेगा तो शरीर तकसे भी तो मोह रह जाता। उनसे यह कहो कि तुम भी इसी तरह अपना मुक्तिका मार्ग अपनाओ।

शुद्धात्मत्वके दर्शनमें हित—तुम एक धर्मका ही अपना काम रखो, जो संसारके दुःखों से छुड़ाकर आत्मसुखमें लगा देता है वही असली धर्म है। मिथ्यात्व छोड़ो, उपन्यासोंसे चित्त हटाओ, देवशास्त्र गुरुमें अपना विश्वास पैदा करो। गुरु कौन है ? जो सर्व प्रयत्नसे अर्थात् अंतरंगमें ज्ञानस्वभाव दृष्टिकी स्थिरतारूप विशिष्ट ध्यानोंसे और बाह्यमें इस योग्यताके होनेपर अवश्यंभावी बाह्य स्थितियोंके प्रचलनसे बाधारहित होकर निरंतर ज्ञानाराधना करते हैं वे गुरु हैं और इसी ही ज्ञानस्वभाव अकषायभावके आदेशका जहां आदेश हो, उसके विरुद्ध विषय कषायोंसे निवृत्तिका जहां आदेश हो वह शास्त्र है और जो गुरुराज स्वभावमें लीन हो गये कर्मसे रहित हो गये, अनंत चतुष्टयमय हो गये वे देव हैं। वस्तुतः ऐसे निज ज्ञानस्वभावकी परखसे ही देव शास्त्र गुरुकी ही प्रतीति होती है। अपने स्वभावको जानकर इससे मेल खाने वाले इस मार्गमें उन्नत पुरुष इसके विश्वास्य और आदर्श हो जाते हैं। जिस ज्ञानस्वभावमय हो उसका स्तीफा बुद्धिसे मत दो, व्यवहारके काम व्यवहारसे होंगे ही, परन्तु धर्मकी ओरसे

तुमारी दृष्टि नहीं छूटनी चाहिये। सोचो कि मेरा जगत कोई हितकारी नहीं है, अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी यह मैं ही केवल स्वयं सुखमय हूं, परलक्ष्यरूप ही क्लेश ही अहित है। अतः परमें हित प्रतीति रुचिके क्लेशमय भावसे मुक्त होकर निजबुद्धिमें ही स्वाभाविक ज्ञानोपयोग द्वारा स्वतंत्रतासे विहार करो वही हित है। अब इस प्रकरणमें ज्ञान पदार्थोंमें रहता है, इस प्रकारका वर्णन कर रहे हैं।

रदणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहाँ सभासाए।
अभिभूय तंपि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानकी अर्थव्यापकताका कथन—जिस रूपसे ज्ञानका परिणाम उस विशेषज्ञका है वह उसका उस कालमें ही है। उसकी व्यक्ति भी सदा उसकी नहीं होती, जब ऐसा वियोग है तब तो मात्र ज्ञानस्वभाव ही ध्रुव रहा, वही आत्मस्वभाव रहा, उसे पहिचाने बिना उसके आश्रय बिना अर्थात् निजके आश्रय बिना पर्यायकी निर्मलता नहीं वास्तविक शिवमार्ग नहीं मिलता, अब ज्ञान सर्वस्वको देखकर विचारो। जैसे एक गिलास दूधमें इंद्रनीलमणि डाल दिया, परिणामस्वरूप जितने परिमाणमें वह दूध है उतने परिमाणमें वह दूध उस इन्द्रनील की क्रान्तिसे नीला हो गया। दूधके रूपको भी दबाकर अपनी कान्ति द्वारा इन्द्रनीलने दूधको नीला कर दिया, वस्तुतः इन्द्रनीलमणि जो कुछ भी कर सकता अर्थात् परिणाम कर सकता वह अपनेमें ही कर सकता। मणिक्षेत्रसे बाहर मणिकी गुण पर्याय प्रभाव आदि कुछ भी नहीं है। यहां निमित्त सम्बन्धकी अपेक्षा यह कथन है। इन्द्रनीलमणिके सान्निध्यरूपको निमित्तमात्र करके दूध स्वयं ऐसा प्रतिभासित हो रहा है जैसे कि आत्मा कर्मोदयके योगको निमित्तमात्र करके स्वयं रागी द्वेषी आदि प्रतिभासित होता है, ऐसे उपचारदृष्टिको लेकर अभी कथन है तो कहा गया कि इन्द्रनीलने दूधको नीला कर दिया। इसलिये इन्द्रनीलकी कान्ति सारे दूधमें व्यापक है। इसी तरह ज्ञान और ज्ञेयमें आत्माका सम्बन्ध होनेके कारण यह कहा जाता है कि सारे ज्ञेय पदार्थोंमें आत्मा व्यापक है।

परमार्थतः ज्ञानकी स्वव्यापकता—कहा जाता कि ज्ञान पदार्थोंको अपनेमें व्याप्त कर रहा है और ज्ञानरूप यह आत्मा है। अतः ज्ञानके द्वारा ये सारे पदार्थ आत्मामें व्याप्त हो रहे हैं। केवलज्ञानी ऐसी शक्ति रखता जो अपनेको भी जानता और सारे संसारको भी जानता और सारे अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करके अपने ज्ञानसे सारे पदार्थोंमें रहा। ज्ञानमें जो ज्ञेयाकार परिणति हुई उस ज्ञेयाकार परिणतिमें यह ज्ञान पूरा व्याप रहा। अज्ञानी ज्ञेयमें ऐसा लुप्त हो जाता है कि जिससे वह अपने आपके बाह्य ज्ञेयसे पृथक् नहीं कर पाता। परन्तु ज्ञानी जीव स्पष्ट इस बातको समझता कि ज्ञान ज्ञानमें वर्त रहा और ज्ञेय ज्ञेयमें वर्त रहा। वास्तवमें यह ज्ञान तो ज्ञानका ही हुआ है, ज्ञेयका ज्ञान नहीं हुआ। ज्ञेय हमसे कितनी दूर है, यह चौकी

हमसे कितनी दूर है ? फिर भी हम कहते हैं कि ज्ञेयका ज्ञान या चौकीका ज्ञान। परन्तु यह ज्ञान आत्माका ज्ञान है। चौकी ज्ञानने अवश्य जानी, परन्तु वह ज्ञान आत्माका ज्ञान ही कहलायेगा।

ज्ञान और ज्ञेयका परस्पर अस्वामित्व—देखो भैया ! ज्ञायकस्वभावकी पहिचानके लिये अंतर्ज्ञेयाकारके स्वरूपसे भी पृथक् ध्रुवस्वभाव देखा जाता है, यहाँ फिर बाह्य ज्ञेयका तो प्रश्न ही क्या, अवसर ही क्या ? तथा इस ही प्रकार दर्शन सुख वीर्यके विपरीत परिणमन का ज्ञान स्वभावसे मेल नहीं खाता, सो इनसे भी ज्यादा परखना है और फिर सर्व गुणोंके स्वभाव परिणमनका जहां अभेद हो जाता है ऐसे ज्ञायकस्वभावको लक्ष्यमें लेना है। उस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावके बलसे ऐसी ज्ञान व्यक्ति प्रगट होती है कि जहाँ सर्व ज्ञेय जैसे हैं, वैसे उनका पूर्ण जानन हो जाता है। उस स्वरूपका ही यह विवेचन चल रहा है। यहाँ इसकी परख करो कि ज्ञानका ज्ञेय हो सकता है या नहीं और ज्ञेयका ज्ञान हो सकता है या नहीं। इसके उदाहरणमें एक दृष्टान्त लो—जैसे भींतपर हरा रंग करा दिया। देखो यह कहा जाता कि यह हरा रंग भींतका है, परन्तु वह रंग तो रंगका है, भींतका नहीं है। रंग तो भींतसे बिल्कुल भिन्न है। इसी तरह यह ज्ञान सारे विषयोंसे भिन्न है। फिर भी यही कहा जाता है कि ज्ञेयका ज्ञान चौकीका ज्ञान, परन्तु परमार्थसे किसी वस्तुका अन्य कोई कुछ नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव कहते हैं कि ज्ञान इन बाह्य पदार्थोंका नहीं है। परन्तु यह ज्ञान आत्माका ही है।

कारकोंका पृथक् पृथक् स्व स्वमें कारकत्व—प्रश्न—इस रंगको इसी भीतका रंग क्यों कहते ? दूसरी भीतका क्यों नहीं कहते ? उत्तर—इनमें बाह्य आधार भाव ऐसा है, जिससे कहा कि यह रंग इस भीतका है। यह रंग पर्यायरूपसे इस भीतपर है और इस रंग की ऐसी पर्याय होनेका आश्रय मात्र यह भीत है। भीतके आश्रयमात्रपना होनेपर भी यह रंग भीतका नहीं है, वहाँ यह जानना कि यह रंग भीतका नहीं है, यह तो रंगका रंग है। इसी तरहसे चौकीका ज्ञान, चौकी ज्ञानका विषय हुआ। इसलिये चौकीका ज्ञान प्रतीत होता है। वास्तवमें यह चौकीका ज्ञान नहीं है। अब आगे बढ़ो। ज्ञानसे ज्ञानी अभिन्न है तो यह ज्ञानी चौकीका नहीं है। यह ज्ञानी ज्ञानका है चौकीका नहीं है।

अन्तर्ज्ञानके स्थैर्यका श्रेय—लोग कहते हैं—अणुविद्याका ज्ञानी, हवाई जहाजका विशेषज्ञ आदि। परंतु आत्मा अपने ज्ञानका विशेषज्ञ है, उस हवाई जहाज या अणुविद्याका विशेषज्ञ नहीं है। जिस रूपसे ज्ञानका परिणमन उस विशेषज्ञका है वही उसका उस कालमें है। वह व्यक्ति भी सदा उसकी नहीं होती। जब ऐसा वियोग है, तब तो मात्र ज्ञानस्वभाव ही ध्रुव रहा, वही आत्मस्वभाव रहा, उसे पहिचाने बिना उसके आश्रय बिना अर्थात् निजके आश्रय

बिना पर्यायकी निर्मलता नहीं, वास्तविक शिवमार्ग नहीं मिलता। उस ज्ञान व्यक्तिसे भी जब ज्ञानस्वभाव पृथक् लक्षण वाला है तब ज्ञेय और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं, इसके समझनेमें तो कोई अड़चन ही नहीं, ऐसा सर्व जगतसे न्यारा इस शरीरसे भी न्यारा। शरीरका अर्थ उर्दूमें बदमाश होता, उससे भी न्यारा यह ज्ञानी आत्मा है। इस शरीरको कितना भी मलो, धोवो, सब कुछ करो, फिर भी पसीना ही निकलता है। रोग बुढ़ापा आता ही है। गाली गलौज अपमान आदि सुनकर आग बबूला, इसके निमित्त जीव होता, ऐसे इस अशुचि शरीरसे भी न्यारा, २४ घन्टे जो कलाएँ सबको सूझती हैं—रागद्वेषकी उन सब कलाओंसे भी न्यारा, ऐसा ज्ञान-स्वभाव इस आत्माका सबसे भिन्न स्वरूपी होता है। इसको स्थिर करने वाला ज्ञानी ऐसे ज्ञान को पाता है, जो ज्ञान तीनों लोकों और तीनों कालोंको जानता है। लोकमें कहते हैं जो गम खाता है उसको सबसे पहिले फल मिलता है। हम तृष्णाके वश अधीर होकर दौड़ रहे, इस भागदौड़में गांठकी ही रकम खोये जा रहे हैं, बाह्य पदार्थोंके लिये उनसे सुखी होनेके लिये लिये दौड़ मत लगाओ, अपने आपमें स्थिर रहो, अपने आपमें लीन रहो और देखो कि तुम क्या हो ? तब यह ज्ञान और तब यह सुख अनन्त सुखमें परिणत हो जायेगा।

इच्छाके अभावमें सम्पन्नता—जो बाह्यमें लगा रहेगा, उसे बाह्य भी नहीं मिलेगा और जो बाह्यसे अलग होकर रहेगा उसके चरणोंमें बाह्य लौटेगा और विशेषता तो उसकी आत्मवैभवकी ही है। एक लखपति आदमी जो था, अपने पलंगके नीचे चांदी सोनेका पीकदान रखता था और उसीमें पीक थूकता था। एक गरीब आदमी वहीं बैठा था, वह उसे देखकर पीकदानसे कहता है कि तुझे यहीं थुकानेमें मजा आता तो तू यहीं रह, मुझे तेरी आवश्यकता नहीं है। जो चाहता है उसे शक्ल भी नही दिखाना चाहती और जो नहीं चाहता और जिसके काफी ऐश्वर्य है उसका पीक भी उसीमें थुकवा लेती है। यही संसारका गोरखधन्धा है। जब हम सारे जगतको जाननेके लिये तड़फते, तो सारे जगतको नहीं जान पाते और जब हम सारे जगतको जाननेकी इच्छा ही समाप्त कर देते हैं, तो यह ज्ञान और सुख अपने आप प्रगट हो जाता है। जब हम उस चाँदी सोनेके पीकदानकी इच्छा ही मिटा देते हैं तो वह पीकदान हमें तड़फा नहीं सका, पीकदान माने सारी लक्ष्मी।

भगवती प्रज्ञाका प्रसाद—भेदविज्ञानकी अपूर्व महिमा है। इसके बिना तो लोकमें भी आराम नहीं। पर्यायविशिष्ट संसारी जीवोंमें मोही ही अपनी रागकलाओंकी प्रतिष्ठा रखना चाहता है। वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टिमें यह कुछ रुचनेकी बात तो दूर रही, इसके विषयमें विधि निषेधकी कल्पना भी उसे नहीं सुहाती। बाह्य वैभव तो प्रगट जुड़े हैं। उनमें मोह होना तो महामोह है ही। किन्तु निज क्षेत्रमें उद्भूत रागादि विभावोंसे पृथक् अपने ज्ञानस्वभावको न पहिचान सकना भी महामोह है। हे आत्मन् ! विवेकरूपी छेनी ले और जहाँ जरासी भी जड़

चैतन्यकी संधि प्रतिभासित हो वहीं इसे लगादे और अभ्यासका प्रहार कर। अपने स्वरूपको निश्चयसे पावेगा, फिर उसीमें रत होकर अनन्तकाल सुखी रहेगा। प्रज्ञा भगवतीके प्रसादसे ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हम सुखका अनुभव करते, परंतु हम वास्तवमें करते क्या? हम अपनी इच्छाको समाप्त करनेके स्थानपर दुनियामें अपने आपके आराम और सुखके लिये दुनियाकी देखादेखी करते हैं और जो दूसरे करते हैं वैसा ही करना चाहते हैं।

एकत्वदर्शन—हमें इस प्रकार सोचना चाहिये कि मैं तो इस दुनियामें एकाकी हूं, ये जगतमें जो सुख दुःखके बहानेसे रहते हैं, मैं उनपर क्यों जाऊं? मेरी अपने आपकी आत्मा ही में कल्पनाके बलपर जगतके दुःख सुख हो रहे हैं। अब खूब सोचकर अपने मार्गका निर्णय करो कि तुम्हें करना क्या है? यह सम्मति आज्ञा भगवानने दी कि अब तो यही करो कि इन बाह्य पदार्थोंसे परिणति हटाकर ज्ञानस्वभावमें बुद्धि लगावो, तभी पर्याय कुछ भी रहे उस पर्यायकी परवाह न करके भी तुम्हारे अन्तरमें आकुलता न रहेगी। यह सोचो कि मैं अपने अन्तर्ज्ञेयमें व्यापक हूं, इतना ही मात्रमें अपनी सत्ता रखता हूं, जगतकी कोई सत्ता मेरी आत्मा में नहीं है। जितना परिचय और समागम और इस संसारसे हुआ ये कोई भी मेरी रक्षा करने वाले नहीं हैं। झूठे मित्रोंकी सम्मति तो मोही रुचिसे सुनते हैं किन्तु ज्ञानी भगवानकी ही सम्मति सुनते हैं।

उपेक्षाभावमें ही शान्ति—एक साधु जी थे। उनके पास एक राजा आया और कहने लगा महाराज आप इतना दुःख क्यों पाते हो, आप मेरे घर चलो और नग्न घूमनेकी बजाय अच्छे कपड़े पहिन लो। साधुजी ने कहा, राजन् अच्छा! किन्तु कपड़ा पहिनना तो तभी शोभा देगा जब उसपर आभूषण भी पहिनें। राजाने कहा आपको आभूषण भी मिलेंगे। साधु जी ने कहा परन्तु आभूषण तो जब ही शोभा देंगे जब कि नौकर और नौकरानियाँ भी हों, फिर मोटर और उसके साथ पेट्रोल, उसके साथ ड्राइवरकी भी आवश्यकता होगी और उनको चलानेके लिये रुपयों पैसेकी भी आवश्यकता पड़ेगी। राजाने कहा, महाराज आपको सब कुछ मिलेगा। तब साधुजीने कहा कि जब हम इतने ठाट-बाटसे रहेंगे तो हाथसे खाना बनाकर खावें तो वह क्या अच्छा लगेगा, इस कारण हमारी शादी भी होना जरूरी होगा। राजाने कहा महाराज आपकी शादी भी आपके इच्छानुसार हो जायगी। फिर साधुजी बोले कि शादी होनेके बाद बच्चे कच्चे भी होंगे। उनके लिये भी धनकी आवश्यकता पड़ेगी। यदि लड़की हो गई तो उसकी शादी भी करनी पड़ेगी और उसके लिये भी धन जुटाना पड़ेगा। लड़का हुआ तो उसकी पढ़ाई आदिमें खर्च करना होगा। राजा ने कहा कि आप महाराज फिक्र क्यों करते हैं, मैं सब ठीक कर दूंगा। तब साधु जी ने कहा—राजन्! यदि लड़का मर गया तो रोना भी पड़ेगा। राजा एकदम बोला—बस महाराज रोना तो आपको ही पड़ेगा।

मैं तो केवल आपके आरामकी हर तरहसे व्यवस्था कर सकता हूं, फिर भी जो दुःख होगा वह दुःख तो आपही को भुगतना पड़ेगा। यह मेरे वशकी बात नहीं है। साधुजी ने उत्तर दिया—राजन् जिस कपड़ेमें साथ लगते-लगते रोनेकी नौबत आजायगी तो हमको उस कपड़े की जरूरत नहीं है। इसी तरह भगवानका उपदेश कहते हैं कि इस मनुष्यभवमें आकर रोना नहीं चाहते हो तो इन सब बाह्यपदार्थोंसे अपनी परिणति हटाओ। इष्ट वस्तु मिल जानेपर सुख मत करो। यदि सुख करोगे तो जब उस वस्तुका वियोग होगा तो तुम्हें रोना पड़ेगा। यदि लक्ष्मी चाहते हो तो लक्ष्मीसे दूर रहो। परन्तु यदि तुम यह कहो कि दूर इस लिये रहता हूं कि मुझे लक्ष्मी मिले, तो तुम दूर कहाँ रहे? ऐसा चाहकर कोई दूर रहा तो वह दूर ही कहाँ रहा?

स्वपरिचयके बिना समृद्धिका अभाव—ये वैराग्यकी बातें हमारे मूलमें तब तक नहीं आ सकतीं, जब तक कि ज्ञानस्वभावको नहीं पहिचानो। अतः ज्ञानस्वभावको पहिचाननेकी कोशिश करो। अपने दैनिक जीवनका कुछ समय अपने मननमें खर्च करो। आत्मस्वभावके निरीक्षणके बिना मन कहाँ लगेगा? जहाँ जिसका परिचय होगा। परिचय तो है परपदार्थों का और चाहे निज सुख? बेजोड़ बात है। अरे भाई परका परिचय तो यथार्थ नहीं, जैसी कल्पना की वैसा परिचय किया और कल्पनाके अनुसार ही परका परिणमन चाहा, परन्तु यह त्रिकाल भी अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा। यदि तुझे अपने ज्ञानके अनुसार परका परिणमन देखना है, तो एक बार सबको भुलाकर अपनेको जगाकर ज्ञानस्वभावमें स्थिर हो जा। तब ऐसा कैवल्य जागृत होगा कि जो तू जानेगा सो ही परिणमन होगा, अरे जाननेके अनुसार ही सब परिणमेगा, हां, हां क्यों कि जैसा जो परिणमेगा वैसा तू जानेगा। इस महत्त्वके लिये उदार बननेकी आवश्यकता है। देखो भैया! यहां कुर्सीबाजीकी कषायमें ११–१२ दिनकी हड़ताल रही। उन दिनोंमें या तो हड़तालका ही काम जैसे सत्याग्रह आदि ही करते या फिर धर्मशास्त्रमें ध्यान रखते। क्योंकि तुम्हारा व्यापार तो बंद पड़ा था, कुछ भी तो करते, क्या किया जाय? गप्प और रागकी आदत भी तो बुरी है। इन दिनोंमें कितनोंके अंतरंगमें यह इच्छा हुई कि हम अपना यह समय धर्मसाधनमें लगावें। हो कैसे?

धर्मसाधनके बिना नरभवकी असफलता—धर्मसाधनोंमें प्रवृत्ति मनकी इच्छासे होती है। मनकी इच्छा नहीं हो तो फुर्सत नहीं होनेकी बात आती है। कहते हैं मुझे फुर्सत नहीं मिलती, अरे धर्मके लिये तुम्हें समय नहीं मिलता, परन्तु क्या मरनेके समय भी तुम्हारी समय न मिलनेकी बात चल सकती है? यमराज (आयुक्षय) को तो उस समय नहीं कह सकते कि ५ मिनट ठहरो, अभी मुझे समय नहीं। गृहस्थीकी व्यवस्थाके लिये नियत ही समय रखो तो अवकाश धर्मको मिल ही जायगा। अतः धर्मके लिये भी अपना नियत समय करो। गार्हस्थ्य

उस जवान स्त्रीको किसी जवान पुरुषसे प्रीति हो जाय तो यह जवान स्त्री वृद्ध पुरुषको छोड़ देगी। राक्षस उत्तरसे संतुष्ट होकर फिर चला गया।

तीसरे पहरमें लड़का जगा, राक्षसने आकर प्रश्न किया—"सर्वस्य द्वे।" इस सूत्रका नीतिरूपमें लड़केने भी उत्तर दिया कि—"सर्वस्य द्वे सुमतिकुमति सम्पदापत्तिहेतू" अर्थात् जीवोंके सुमति और कुमति रहती है, उसमें सुमति सम्पदाका कारण है और कुमति विपत्तिका कारण है। कहा भी है—"जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निधाना॥" इस उत्तरसे भी राक्षस संतुष्ट होकर चला गया।

चौथे पहरमें बहू जागी, उससे भी राक्षसने आकर प्रश्न किया—"स्त्री पुंवत्।" इसका बहूने उत्तर दिया कि—"स्त्री पुंवत् प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्" अर्थात् जिस कुटुम्बमें स्त्री पुरुषके समान उद्दंड हो जाती है वह घर बरबाद हो जाता है। स्त्रीका काम घरको सम्हालना है। पुरुष उसमें नहीं समझता। हाँ यदि स्त्री तंग करती है तो वह सारी तनख्वाह उसको देकर कह दे कि चलाओ तुम खर्च। धर्मके लिये कुछ भी रखना हो, वह पहिले ही रख ले और बाकीका सब खर्च चलानेके लिये स्त्रीकी दे दे कि अब बजट चलाओ। तभी उसका पता चलेगा और उसकी दिन प्रतिदिनकी नित्य नई मांग खत्म हो जायगी। अस्तु, तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुषकी तरह उद्दंड हो जाय तो वह घर बरबाद हो जाता है। वह राक्षस चारोंसे ठीक उत्तर पाकर उल्टा बहूमूल्य आभूषणका उपहार देकर चला गया और उन्हें खा न सका।

ज्ञानकी आत्मसहायकता—जरा सोचो और जानो कि ज्ञान आत्माका कितना सहायक है। ज्ञानके अतिरिक्त सब असार हैं। दुनियामें मेरा कोई सहायक नहीं, न यहाँ मेरा कुछ और न वहाँ मेरा कुछ। जहाँ जैसा-जैसा है उनसे मुझे कुछ नहीं मिलता। मैं विचार करके ज्ञानसे जगतके स्वरूपको देखता हूं तो पाता हूं कि मेरा कुछ भी नहीं। मेरी आत्मा ज्ञानसे अधिक कुछ भी नहीं, मेरा ही ज्ञान लखपतिपना है और करोड़पति है। यदि तृष्णा बढ़ जाय तो वह सुख और करोड़पति या लखपतिपना क्या है? मेरा ही ज्ञान वैभव है, धर्मकी लगन होनी चाहिये। जिसकी धर्ममें लगन है वह मोहके साधनोंमें सदा नहीं रहता, जिसको लगन होगी वह कभी-कभी मन्दिरमें जायगा, जंगलमें जायगा, एकान्तमें जायगा झगड़नेकी वजहसे नहीं, यदि किसीका घरके किसी आदमीसे झगड़ा हो गया तो उस वजहसे वह मंदिरमें या जंगलमें या एकान्तमें नहीं जायगा, परन्तु उसे ज्ञानस्वभाव की स्वाभाविक शांति कैसे प्राप्त हो, इसके लिये कभी एकान्तमें जाता, कभी सत्संगमें जाता, कभी मंदिरमें भी आता। ऐसी उसकी चेष्टाएँ होती हैं, ज्ञानस्वभाव ही उसमें रमता है,

व्यवस्थाके लिये नियत ही समय रखो, तो अवकाश धर्मको मिल ही जायगा। जैसे आफिसका समय नियत रहता है और वहाँ देर तक ठहरनेकी बात नहीं हो सकती। उसी तरह घरको भी आफिस बनाओ। घरकी व्यवस्थाका अपना समय निश्चित कर लो कि जो भी तुम्हें करना है उसी समयमें करो। प्रतिदिन ही घरको उलझनोंमें सारा समय दोगे तो कैसे काम चलेगा? यह समय चला गया तो फिर क्या हाथमें आएगा? मनुष्यजीवनमें कोई पुरुषार्थ नहीं किया तो इससे अच्छा तो यह था कि मनुष्यजन्म ही न लेते, तो यह नम्बर तो आपका सुरक्षित रहता। देखो भैया! गन्नेमें नीचे रस नहीं, ऊपर रस नहीं, मध्यमें कीड़ा लगा, उस गन्नेके भोजनमें क्या कुछ लाभ है? उसे तो बोनेमें लाभ है, इसी तरह मनुष्यकी बालक वृद्ध अवस्थामें धर्म प्रायः नहीं होता व जबानी विषयोंमें खोई तो सब व्यर्थ हुआ। इस मनुष्यभव को धर्ममें लगानेसे लाभ है, परन्तु मोही क्या करे? क्योंकि उसमें विषयोंका कीड़ा लग गया। भाई सम्यग्ज्ञानसे कहीं कोई आपत्ति नहीं आती, विषयकषायोंमें रहकर अनंत संसारकी आपत्ति क्यों बढ़ा रहे? ज्ञान ही एक शरण है, ज्ञानसे इस लोकमें भी विपदा नहीं रहती और न अन्यत्र। हमें यदि कोई शरण है तो वास्तवमें आत्मस्वभाव ज्ञान। यह बड़ा उत्कृष्ट है। मित्र कहो, पिता कहो, बन्धु कहो, सर्वस्व अभिन्न यह ही है आत्माका। ज्ञानके रहनेपर आपत्तिका भय भी नहीं। विशुद्ध ज्ञानमें तो आपत्ति है ही नहीं, किन्तु यदि लौकिक ज्ञान भी होवे तो भी लोकमें निरापद देखा जाता है।

ज्ञानसे संकटका निरसन—एक बार एक बूढा, उसकी बूढ़ी स्त्री, उसका जवान पुत्र और बहू चारोंके चारों किसी गाँवमें जा रहे थे। जब गाँव तीन मील दूर था तो रात पड़ गई और वे सब रास्तेमें ही रुक गये। कुछ मुसाफिर और मिले। उन्होंने उन्हें वहाँ रुकनेसे रोका और कहा कि यहाँ मत रुको, यहाँ एक भयंकर राक्षस आता है वह मिलने वालेसे एक सवाल पूछता है और उत्तर न मिलनेपर उसे खा जाता है। बूढ़ा बोलता है—अच्छा हम देखेंगे कि वह कैसा भयंकर राक्षस है? उन्होंने रात भर बारीसे जगना तय किया, पहले पहर में बूढ़ा जागेगा, दूसरेमें बुढ़िया, तीसरेमें लड़का और चौथे पहरमें बहू जागी।

जब बूढ़ा जाग रहा था, तो राक्षस आया और उसने उससे प्रश्न किया—"एको गोत्रे।" यह व्याकरणका सूत्र है, फिर भी बूढ़ेने इस प्रश्नका उत्तर नैतिकतामें दिया—"एको

ऐसी अन्तरंगमें प्रवृत्ति हुई तो जानो कि हमको यह बात लग गई। इस बातको अपने अन्तरंग में लगाओ। यह लगन रखो, इस लगनमें रहे बिना इस ज्ञानस्वभावकी रति हुए बिना आत्मा साफ नहीं होगा। यदि ज्ञानस्वभावपर दृष्टि दोगे तो यही तुम्हारा साथ देगी और तुम्हारी परभव और इस भवमें रक्षा करने वाली होगी। ऐसा समझकर बाह्य पदार्थोंमें से मन हटाओ और निज स्वभावके आश्रय परिणत होकर सर्व आपदायें समाप्त करो।

इस गाथामें यह बताया है कि यह ज्ञान आत्मासे अभिन्न होनेसे स्वयं तो कर्ता है और करण ज्ञान है ही, सो स्वयं करण है। अब वह इसके उपचारके आश्रयभूत बाह्य अर्थोंके उपचारसे कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंको व्यापकर बर्तता है। इसलिये कार्य कारणका उपचार करके यह कहा जाता है कि ज्ञान अर्थोंको व्यापकर बर्तता है। यहाँ भी परमार्थसे जो वस्तु-स्थिति है उसकी पहिचानसे अखण्ड विभक्त एकत्व परिणत निज ज्ञानस्वभावको देखना। उक्त कथन ज्ञानस्वभावकी पहिचानके लिये है। सो ज्ञानस्वभावको पहिचानकर सर्व विकल्प त्याग कर उसमें ही रत रहना, यह उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी परिपूर्ण एकता का होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध किया कि ज्ञान अर्थोंमें रहता है। अब आगे कहते हैं कि इस ही प्रकार अर्थ ज्ञानमें रहते हैं ऐसी संभावना करते हैं। यहां संभावयति शब्द उत्तम है जिससे यह ध्वनित है कि निश्चयतः तो ज्ञान ज्ञानमें ही रहता है और अर्थ अर्थमें ही रहते हैं तथापि जिस दृष्टिसे ज्ञानका अर्थोंमें व्यापना कहलाया, उस दृष्टिसे अर्थोंमें ज्ञानका रहना कहा गया है।

जदि ते ण संति अत्था णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णणट्ठिया अत्था ॥३१॥

ज्ञान ज्ञेयमें सम्बन्धका मन्तव्य—यदि विश्वके समस्त पदार्थ अपने ज्ञेयाकारके अलौकिक समर्पणके द्वारा उस केवलज्ञानमें न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं कहला सकता। जैसे दर्पणमें सम्मुखस्थित पदार्थ अपना बिम्ब समर्पण कर देते हैं। यद्यपि पदार्थ या पदार्थका गुण या पर्याय उस दर्पणमें अथवा दर्पणके गुण या पदार्थमें नहीं पहुंचता फिर यह तो आंखों सामने की बात है कि पदार्थ जो झलकनेके योग्य हैं उनके निमित्तको पाकर दर्पण उस पदार्थके अनुरूप अपने बिम्ब बना लेता है। वैसे ही तत्त्वतः जगतका कोई पदार्थ अथवा पदार्थोंका गुण या पर्याय ज्ञानगुण या पर्यायमें अथवा आत्मामें नहीं पहुंचता फिर भी कुछ तो यहीं प्रगट सिद्ध है कि हम जितने पदार्थोंको जानते हैं वे अथवा उनके गुण या पर्याय कुछ भी मुझमें अथवा मेरे गुण या पर्यायोंमें प्रवेश नहीं पा रहे हैं तब यही स्वभाव सिद्ध बात केवलीमें भी है। परन्तु व्यवहारसे यदि सम्बंध नहीं अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावरूप बात न हो तो ज्ञानकी अर्थक्रिया का अभाव होनेसे ज्ञानका ही अभाव हो जायगा और ज्ञानका अभाव होनेसे आत्माका अभाव

होगा और आत्माका अभाव होनेसे इन सब पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकायरूप पुद्गलोंका अभाव हो जायगा, क्योंकि जो कुछ पुद्गल द्रव्य दीखते हैं उनका यह आकार प्रकार जीवद्रव्यके द्वारा निमित्तरूपसे वर्गणाओंके ग्रहण बिना नहीं हो सकता था। जब इन दो का ही अभाव हो गया फिर दुनिया ही क्या ? किन्तु दुनिया सब प्रकटसिद्ध है। अतः ज्ञान व्यवहारनयमें सर्वगत है और ज्ञान सर्वगत तभी है जब सर्व ज्ञानगत हो।

निर्मल ज्ञानकी भावना—भैया ! यहाँ निर्मल ज्ञानकी महिमा तो देखो, जगतमें जो भी सत् है वह निर्मल ज्ञानसे बाहर नहीं है। सर्व अर्थ अवश झलकते हैं। अहो कैसा स्वभाव है, इस जीवने अपने ऐसे उत्कृष्ट वैभवको तुच्छ बातोंके प्रसंगमें आकर ढक दिया है ऐसे जीव दयापात्र हैं। देखो तो कठिन बात सरलसी हो गई और सरल बात कठिन हो गई है। नित्य अन्तरंगमें प्रकाशमान यह स्वभाव इतना गुप्त हो गया जो अपनी ही बात अपनी समझमें न आवे। इस स्वभावसे ही तो सारा काम चल रहा है, बिना देखे भी और। देख लेनेपर इस ही स्वभावसे सारा काम चलता है मोक्षका।

अन्तर्दृष्टिके प्रोग्राममें कल्याण लाभ—भाइयो ! अब दूसरा प्रोग्राम छोड़ो, आत्मकल्याणका ही प्रोग्राम बनावो, जो कमी है और बाधा हैं उन्हें बाधा समझो। हम आप ज्ञानमय हैं। ज्ञानका बड़ा प्रभाव है, ज्ञानीके ललकारके आगे विषयचोर नहीं ठहर सकते हैं। जैसे बड़ी शिथिल बुढ़ियाके घर यदि पहलवान चोर भी घुसें तो भी बुढ़ियाको यदि खांसी आ जाये तो खांसीकी आवाजसे ही चोरोंके पैर उखड़ जाते हैं। भैया ! सब जाना, धन कमाया अनेक खटपट किये, यदि स्वयंका स्वभाव न पहिचाना तो व्यर्थ, आयुक्षय बराबर चल रहा है। वह दिन समीप है जब मनुष्यभवका आखिरी होना है। अतः चेतो, बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि करो। देखो अपना स्वभाव जो अनादि अनंत अहेतुक असाधारण है। इस ज्ञानस्वभाव की दृष्टिके बलसे हुई आत्मनिर्मलता उस परिणतिको पा लेती है, जहाँ सारा विश्व बिना चाहे अवश झलकता है। बड़ा गोरखधन्धा है, जब जाननेकी चाह करो तो ज्ञान नहीं होता, जब चाह ही न करो, आत्मविश्राम करो तो सारा विश्व ज्ञानमें आ जाता है।

ज्ञानविलासमें क्लेशका अभाव—प्रश्न हम लोग तो थोड़ेसे ही जाननेमें बड़े दुःखी हो रहे हैं। सर्वज्ञानका हम क्या करें ? उत्तर—यहाँ हम सबको जो दुःख है वह ज्ञानका नहीं है किन्तु इष्ट अनिष्ट भावका है। जो रागद्वेषरूप विकार हैं इन्हीं विकारोके कारण हमारे ज्ञान का विकास भी रुका हुआ है। जहाँ मोह भाव क्षीण हुआ कि अल्प अन्तर्मुहूर्तमें ही सर्वज्ञान हो जाता है। रागके क्षय करनेके अंतरंग परिश्रमकी थकानको वह अन्तर्मुहूर्तका विश्राम पूरा कर देता है, जिससे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख व अनन्तवीर्यका विकास हो जाता है। इस अन्तःप्रकाशमान स्वभावपर दृष्टि दो। लोग कहते हैं—आजकल जमाना कमजोर है, घर

छोड़कर कुछ नहीं सधता, प्रथम तो यह बात पूर्ण सत्य नहीं है किन्तु अंतरंगमें धर्मरुचि उत्कट न हुई हो, इच्छाओंकी आधीनता बन रही हो तो घर छोड़ना विडम्बना ही है। तो भैया! हम घर छोड़नेको तो नहीं कह रहे, घर तो आपमें प्रविष्ट ही नहीं है, घरको तो आप पकड़ ही नहीं सकते, छोड़नेकी बात क्या? यहां तो जो जैसा पदार्थ है उसे वैसा मान लिया जाय, न कम न ज्यादह इतना ही बड़ा पुरुषार्थ है, यह तो सबसे पहिले करना ही पड़ेगा। इसके फलमें भविष्यमें क्या वर्तमान बनेगा, उसीकी यह यथार्थ महिमा गाई जा रही है।

व्यवहारसे ज्ञानकी सर्वगतता—सर्वज्ञदेव मात्र व्यवहारसे सर्वगत है अथवा सर्व अर्थ व्यवहारसे केवलज्ञानगत है। इस व्यवहारका मूल कारण ज्ञानकी शक्ति और महिमा ही तो है। विश्वकी परिच्छित्तिके आकार जो ज्ञान परिणम जाता है और परिणमता भी सहज और अवश होकर, यह शुद्ध आत्माका ही प्रभाव है। इस तरह ज्ञान सर्वगत है तो इस ज्ञान की भूमिमें अवतीर्ण हुए जो ज्ञेयाकार उसके विषयरूप कारण तो ये पदार्थ हैं। तो इस परम्परासे तो यह निश्चय ही कर लेना चाहिये कि उन उन ज्ञेयाकारोंके कारणभूत ये पदार्थ ज्ञानमें स्थित हो गये।

विवेकमें ही लाभ—देखो भैया! विवेक सब कथनोंमें जागृत रखना। निमित्त-नैमित्तिक भावकी व्यवस्था और स्वतन्त्र सत्ता दोनों का एक साथ बोध ज्ञानी के रहता है। सामान्य विशेष दोनों एक साथ रहते हैं, निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था और स्वतन्त्र सत्ता दोनों एक साथ हैं, निमित्तकी उपस्थिति और उपादानकी तैयारी दोनों एक साथ हैं, द्रव्य और पर्याय दोनों एक साथ हैं परन्तु ऐसी पर्याय होनेमें जहां कि द्रव्य, उपादान स्वतन्त्र सत्ता व सामान्य इन पर अभेददृष्टिसे उपयोग परिणति हो वहां कल्याण अवश्य है। भैया! धर्म यही वीतरागदृष्टि ही तो है सो धर्म तो स्वयंमें है परन्तु पता पहिचान न होनेसे बाहर खोजकी भागदौड़ हो रही है। एक सेठ था वह अपनी बहीमें लिख गया था कि पुत्रों! जब तुम्हें निर्धनता सतावे तब थंभसिंहसे धन ले लेना। पुत्र निर्धन हो गये और सेठ तो पहिले ही मर गया था। पुत्रोंकी दृष्टि उस बहीके लेखपर पड़ी तो पुत्रोंने थंभसिंह की बड़ी खोज की। कई गाँव ढूंढ डाले परंतु थंभसिंह न मिला। उन पुत्रोंको व्यग्र देखकर एक बुद्धिमान सज्जनने उन्हें समझाया कि भाई वह थंभसिंह कहीं बाहर नहीं है वह तो तुम्हारे ही घरमें होगा और जाकर परीक्षा करके उसने बताया कि यह थंभा ही तुम्हारा देनदार थंभसिंह है। उन्होंने उस थम्भेको खोदा तो वहांसे काफी धन निकला। इसी तरह हम धर्म करने या सुख पाने के लिये दुनियां भरमें भटक रहे हैं। जिन ज्ञेयोंको निमित्त पाकर हम अपनी कल्पनायें बना लेते हैं और कुछ सुखाभास अनुभव करते हैं उन्हीं ज्ञेय जड़ पदार्थोंकी ओर झुके जाते हैं। परंतु जरा धीरतासे देखो तो सही, वह ज्ञान किससे आया—किसकी परिणतिसे

वह भरा, कहां था—कहांसे निकला ?

ज्ञानस्वभावालम्बनसे शाश्वत सुखकी सिद्धि—भैया ! यह सब अपने सुख स्वभावके परिणमन हैं। यह स्वभाव इतना उदार है कि मिथ्याबुद्धिमें उलटे चलनेपर भी यह सुख स्वभाव अपना कुछ न कुछ काम कर ही देता है यदि मिथ्याबुद्धि छोड़ दी जावे और सुख स्वभाव जो ज्ञानका अविनाभावी है। जो अनादि अनंत अहेतुक है उस स्रोतपर यदि दृष्टि जावे, तब तो अनन्त सुखका अनन्तकालके लिये अनन्त विकास हुए बिना रह नहीं सकता। सो भैया ! धर्म—सुख—ज्ञान सब कुछ कल्याण निजमें है परन्तु पर या मोहके पुछल्ले से सब हैरान हो रहे हैं। अब तो गई सो गई अब राख रही को, जो समय गया सो गया अब आगे क्या करना—इसे देखो। करना केवल यही है—अपने को सब दृष्टियोंसे सब प्रकार निश्चय करके पूर्व अखंड निज सत्को अभेदस्वभावसे अनुभव करना। जिन्होंने ये पुरुषार्थ पहले किये वे पहले सिद्ध हो गये हैं जिन्होंने अब किये वे अब सिद्ध हो रहे हैं, जो अब आगे करेंगे व भविष्यमें सिद्ध होवेंगे। जिनकी ऐसी महिमा इन प्रकृत गाथाओंमें चल रही है, वे अनंतानंत-काल तक प्रभुतासे सम्पन्न अर्थात् अनंतज्ञानी और अनन्तसुखी सर्व बाधाओसे विमुक्त रहेंगे।

विविक्तभावना—इस प्रकार ज्ञानी आत्माका ज्ञानका पदार्थोंके साथ अन्योन्यवृत्तिपना कहा अर्थात् ज्ञानमें विश्व और विश्वमें ज्ञानका कथन किया। निमित्तनैमित्तिक भावसे व्यवहार से यह बात भूतार्थ है तथापि कोई द्रव्य किसी द्रव्यको न ग्रहण कर सकता है और न छोड़ने का परिणमन कर सकता है, क्योंकि सभी वस्तुयें अपने ही चतुष्टमें परिणमन करती हैं, अतः सर्वविश्वको देखते और जानते हुए भी ज्ञानीको सर्व विश्वसे न्यारा दिखाते हैं। वह ज्ञानी तो सर्व विश्वको देखता जानता हुआ भी सर्वविश्वसे अत्यन्त विविक्त है—इस बातको दिखाते हैं अथवा इस परिणतिको अपनेको हुवाते हैं अथवा निमित्त बनकर परको हुवाते हैं। कहना वही सार्थक है जहां करना भी हो। इस भाव भावनोंमें स्वयंपर तो प्रभाव रचयिताका तो है किन्तु इस वैराग्यपूर्ण कथनके निमित्त बनकर परके उपकारी भी श्री गुरु हैं। यह केवली भगवान्का प्रकरण है, अतः केवली सर्व तत्त्वको इस शैलीसे स्वतंत्र देख रहे हैं किन्तु यही शैली हम लोगोंकी भी है। हम भी जानते हुए देखते हुए भी ज्ञेयोंसे सर्वथा विविक्त हैं। हम लोग भी जितना जानते हैं वह भाग अपना परिणमन करके स्वज्ञेयकारको जानते हैं परन्तु किसी भी बाह्य अर्थको न ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं, केवल अपने परिणमनको प्रति-क्षण ग्रहण करते हैं और छोड़ते जाते हैं।

प्रश्न—यह बात तो अत्यन्त प्रसिद्ध है, फिर इसपर अधिक जोर देनेका प्रयोजन क्या है ? उत्तर—भैया ! वस्तुस्वरूपका सत्य विज्ञान पाना इस जीवको सरलका ढंग होते हुए भी कुछ कठिन हो रहा है। जगतके ये पदार्थ कैसे उत्पन्न हो जाते हैं—इस समस्याका हल प्रारंभ

में बड़ा दिमाग चाहता है। सो लोग किसी अद्भुतकी खोज करनेमें लग जाते हैं तथा वस्तु-विज्ञानकी जब यह वार्ता सुनते हैं प्रभु सर्वज्ञेयोंमें है और समस्त ज्ञेय प्रभुमें हैं तब प्रभुके साथ समस्त जगतका पूरा सम्बंध जोड़ बैठते हैं। इसके फलस्वरूप इस धारणाका उत्कृष्ट प्रचार हो गया है कि समस्त जगतको हमको आपको सबको बनाने वाला प्रभु है। बस अब क्या है इस धारणाके पश्चात् विज्ञानघन सहजानन्द निजस्वभावमें स्थिर होनेकी दृष्टिसे भी वञ्चित हो गये। अपनी वास्तविक स्वतंत्रताकी विभूति उपयोगमें हीन हो गये। यह अकल्याणका दृढ़ गढ है और साथ ही प्रभुके स्वरूप सहज आनन्द कृतकृत्यपने का घात बुद्धिमें कर देनेसे प्रभुका भी बड़ा अपमान कर बैठते। इस अनर्थसे बचनेके लिये प्रकृत बातको विस्तारपूर्वक कहना लाभदायक है।

अब उक्त प्रकरणके सम्बन्धमें यह स्पष्ट करते हैं कि प्रभु क्या तो करते हैं और क्या नहीं करते हैं—

गेण्हदि णेवण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वंविश्रविसेसं ॥३२॥

केवली प्रभुके परके ग्रहण त्यागका अभाव—केवली भगवान न तो परपदार्थको ग्रहण ही करते हैं और न छोड़ते ही हैं। छोड़ना कहलाता है—ग्रहण किए हुए पदार्थका त्याग करना। कोई कहता कि तुम्हारा बाप कैदसे छूट गया तो तुम कहते मेरा बाप कैदमें गया ही कब था जो छूट जाता। इसी तरह जो पदार्थ ग्रहण ही नहीं किया उसे छोड़ना कैसा? भगवान केवली परपदार्थको न तो ग्रहण ही करते हैं और न छोड़ते ही हैं। किन्तु समस्त आत्मप्रदेशोंमें सर्व पदार्थोंको निर्विशेष जानते हैं। केवली भगवान पर्यायमें भी विकल्परहित हैं, अतः केवलीकी बात कही, वस्तुतः तो यह आत्मा स्वभावसे ही परद्रव्यके ग्रहणरूपसे या त्यागरूपसे परिणमता नहीं है। परद्रव्य क्या-क्या चीज है? अन्तरंगमें राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव ये सब निजमें हैं। जो आत्मा इन्हें ग्रहण ही नहीं करता वह उन्हें छोड़ता भी है क्या? यहाँ आत्मस्वभावका जिक्र चल रहा है। स्वभावसे यह आत्मा न परद्रव्यको ग्रहण करता और न छोड़ता ही अथवा द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यका जो विपक्ष है वह पर्याय कहलाता। तब द्रव्य जो कहलाता है उससे भिन्नस्वरूपी पर्याय हुआ परपदार्थ। अब द्रव्यमें ही वह ज्ञान जो प्रगट हो गया है, केवलज्ञान आदि ज्ञान। सो वह किसी भी परपदार्थका ग्रहण त्याग नहीं करता। ज्ञान भी बाह्य पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता और परके निमित्तसे अन्तरंगमें जो कालिमा आती उसको भी ग्रहण नहीं करता। वह तो आत्मस्वभावको ग्रहण करता। उसके लिए दुनियाके पदार्थोंमें कोई चीज ग्रहण करने योग्य रही ही नहीं।

आत्मज्ञानीका पौरुष—यह आत्मज्ञानी हाथपर हाथ धरकर नहीं बैठा। बल्कि ग्रहण

करनेकी क्रियाको छोड़कर अपने आपमें रस होकर बैठ गया। ज्ञानोने क्या देखा ? उसने देखा कि जगतकी सत्तासे उसकी सत्ता अत्यन्त निराली है। मैं निमित्तको भी परिणमा नहीं सकता, जगतके सब पदार्थ अपनेमें सुरक्षित हैं ऐसे ही सुरक्षित जगतके सारे पदार्थ जो हैं इनमें क्या परिणम सकता हूं ? इनका चतुष्टयरूप होनेमें मेरी शक्ति काम नहीं करती। मेरी योग्यता और मेरा काम तो केवल मेरे ही परिणममें होता। यदि अपने ही द्रव्यके ग्रहणमें अपना ज्ञान में लगा देता तो परद्रव्यके ग्रहण और मोक्षके परिणमनके योग्य नहीं होनेसे मैं केवल अपने निज तत्त्वज्ञानमें ही परिणमता रहता। मैं परद्रव्यको परिणमाता, ऐसी बुद्धि होनेके कारण आत्मामें कालिमा आई, कर्म बन्धन हुए। यह सब चीज परपदार्थोंमें निज बुद्धि लगानेसे हुई। जैसे कोई साधु जो लंगोटी मात्र अपने पास रखता है, उस लंगोटीमें भी अपनी बुद्धि रखता है, उसको मोक्षमार्गका प्रारम्भिक ज्ञान हो जाता और शांति उसके पास नहीं आ पाती। उसी तरह ये परद्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे विद्यमान हैं तो मेरे ज्ञानका इनमें लगनेका कारण है भेदविज्ञानका अभाव। इन सब परद्रव्यमें क्यों ममत्व हुआ, क्यों इनमें आत्मबुद्धि पैदा हुई ? यह सब आत्माकी मलिनता और कलुषताके कारण है। जब तक यह भ्रांति नहीं मिटती तब तक आत्मामें शान्तिका भाव नहीं आ सकता। शान्तिके लिये केवल-ज्ञानीको पहले भेदज्ञान हुआ, भेदज्ञानके बाद सम्यक्त्व हुआ, उसके बाद निर्विकल्पकी भावना हुई। उसके बाद स्वयं निर्विकल्प हुआ, उसके बाद ४ घातिया कर्मोंका क्षय हुआ, अनन्त ज्ञानादि प्रगट हुए, ज्ञानमें अनन्तज्ञान पैदा हुआ, दर्शनमें अनन्तदर्शन हुआ, शक्तिमें अनन्तवीर्य प्रगट हुआ और सुखमें अनन्तसुख प्रगट हुआ और बादमें अघातिया कर्मोंका क्षय हो चुकते ही सिद्ध पर्याय हुई, तब वह केवलज्ञानी भगवान अशरार सिद्ध हुए।

चित्स्वभावके लक्ष्यका परिणाम—प्रभुमें भी जिसमें पर्यायें प्रगट हैं वह एक चैतन्य-मय द्रव्य है, उसका सर्वस्व जो चैतन्यभाव है जब तक उसका अभेद अनुभव नहीं है आराधक में सम्यग्ज्ञान पैदा नहीं होता। अतः सर्वोपरि चीजपर लक्ष्य रखें तो यह जीव इस लक्ष्यके कारण अपने ज्ञानमें उसे अभेदरूप स्वीकार कर उसके कारण उस लक्ष्य तक पहुंच जाता है। मकानका लक्ष्य किए बिना कोई क्या मकानपर पहुंच सकता है ? छतका लक्ष्य किए बिना मनुष्य छतपर कैसे पहुंच सकता है ? उस लक्ष्यके बिना वह सीढ़ीको चढ़कर छतपर पहुंच ही नहीं सकता। सीढ़ियोंपर चलकर सीढ़ियोंका त्याग करता रहे तभी वह छतपर पहुंच सकता है। अतः हमारा लक्ष्य वहाँ होना चाहिये जहाँ चैतन्यभावके अनुरूप पर्याय प्रगट होती है। ऐसी चैतन्य अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? जिसको कि वह आत्मा परिणमता है ऐसे चैतन्य भावका लक्ष्य है, वह निजमें आने वाली अपूर्ण निर्मलताओंमें बढ़ते हुए, अपूर्ण निर्मलताओंके

भावको छोड़ते हुए पूर्ण निर्मल अवस्थामें पहुंच जाता है। ये अपूर्ण निर्मलताके भाव उस पूर्ण निर्मल स्थितिपर पहुंचनेके लिये सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए, उनका त्याग करते हुए उस पूर्ण दिशा पर पहुंच जानेके लिये हैं। सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए और बिना सीढ़ियोंका त्याग किये छतपर पहुंचा नहीं जा सकता। इसलिये ज्ञानी जीव अपने उस चैतन्यस्वभावपर जो घट घटमें अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान है, उसपर मजबूत दृष्टिवाला रहता। वह चैतन्य भाव उपयोगमें स्थिर हो जाय तो वहाँ क्रोध, मान माया, लोभ आदिका कर्ता नहीं रहता। एक इस चैतन्य भावके अनुभवमें आनेपर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दृढ़तापूर्वक नहीं रह पाते और वे अपने नियमसे शिथिल हो जाते।

प्रभुका सामन्तिक ज्ञान—जो ज्ञानी ज्ञान सुधारसका स्वाद करते हुए अपने आपमें निज भावको प्राप्त करता है, अपने निजतत्त्वरूप केवल ज्ञानरूप हो होकर परिणमन कर रहा है तो उसके ज्ञानकी ज्योति निष्कम्परूपसे प्रगट होगी। जैसे दीपककी ज्योति प्रगट हो जाय और हवासे उसमें शिथिलपन रहता है तो कहा जाता कि दीपक निष्कम्परूप नहीं है। यदि दीपककी वहाँ ज्योति प्रगट भी है और निष्कम्प भी है, तो यह कहा जाता कि पदार्थ ठीक प्रकाशमें आ रहे हैं। भगवानका ज्ञान भी ऐसा ही निष्कम्प है। ऐसा वह ज्ञानरूप ही होकर सर्व आत्मप्रदेशोंमें दर्शनज्ञानकी शक्ति स्फुरायमान होती। वर्तमानमें यह जीव आँख द्वारा वह ज्ञान करना चाहता था और चाहता भी हो तो ये सब उसकी निष्फल कामना है। हमारा ज्ञान अनेक झंझटें रखता परन्तु भगवान केवलीके चारों ओरसे बिना आँखसे देखे ही दर्शन-ज्ञानकी शक्ति स्फुरायमान है। हम देखते हैं कि रसका जानना तो इस तरह हुआ कि खानेपर यह पता लग जाता कि यह बड़ा मीठा होता है। परन्तु केवलज्ञानीको विकार स्वादका अनुभव नहीं चलता है, फिर भी रसका ज्ञान आ जाता। हम भी कई बार बिना स्वाद लिये भी जान जाते कि इस चीजका स्वाद कैसा है ? नींबूको जब देखते हैं तब नींबूके रसका ज्ञान हो जाता कि इसका स्वाद खट्टा है। वहाँ भी विकाराभिमुखता है। परन्तु भगवान तो केवल ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप ही रहते, वे इन विकारोंमें स्वादका अनुभव तो नहीं करते, फिर भी समस्त द्रव्योंको आत्माके द्वारा आत्मामें जान लेते। भगवानने निश्चयसे आत्माको ही जाना और व्यवहारसे, याने उनकी पर्यायका विषय क्या है, इस दृष्टिसे विचारो तो यही सिद्ध है कि वे सबको जानते। निश्चयसे वे केवल अपनी आत्माको ही जानते और व्यवहारसे सबको जानते। खासियत केवल केवली भगवानमें ही नहीं है, हममें भी है।

निश्चय और व्यवहारसे ज्ञानका काम—निश्चयसे हम अपने आपको ही जानते, और व्यवहारसे इन पदार्थोंको जानते, इसका क्या भाव ? यह आत्मा अनंत गुणोंका पिण्डसमूह है।

उसमें एक ज्ञानगुण भी है वह भी आत्मप्रदेशमें ही है। ज्ञानगुणकी जो क्रिया होगी वह आत्मामें ही होगी। उसकी क्रिया चलना नहीं, बैठना नहीं, उसकी क्रिया जानना मात्र है। ज्ञानगुण आत्मप्रदेशमें ही है। अतः जितनी भी उसकी क्रिया है, वह सब क्रियावानमें ही रहेगी और ज्ञानके प्रयोगसे ज्ञानकी क्रिया आत्मामें पड़ी। ज्ञानके द्वारा ज्ञानीने चीजको ही जाना। परंतु वह ज्ञान किस विषयक है ? वहाँ यह कैसे जाना कि यह ज्ञान पदार्थोंमें जाता ? इस विषयक यह है, यह अपेक्षा लेते हैं तो कहते कि यह ज्ञानकी सीमा है, इस तरह परको जाना। सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि सबके यही बात है। परन्तु मिथ्यादृष्टि इस भेदको नहीं जानता, पहिचानता। वह बाह्य पदार्थोंमें ही दृष्टि रखता है और कहता कि मैं तो बाह्य पदार्थोंको ही जानता हूं। मैं परद्रव्यमें परिणमन कर सकता हूं। इस प्रकारका मिथ्यादृष्टि विकल्प रखता और परद्रव्यका कर्ता कहा जाता है। परन्तु कोई भी परद्रव्यको कर ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो सकता तो वह ज्ञानीसे भी बढ़कर होता। परद्रव्यको अज्ञानी और ज्ञानी दोनों ही नहीं कर सकते। अज्ञानीको परद्रव्यका कर्ता कहना उसके मनका विकल्प बताना है। इसीलिये कहा जाता है कि हे अज्ञानी ! तू परद्रव्यका कर्ता क्यों बना ? परद्रव्यको करना रूप जो उसका बिकल्प तूने कर रखा, यह विकल्प दूर कर। उस विकल्पका निषेध करनेके लिये कहा जाता। इसका मतलब यह लगाना कि परद्रव्यके कर्ताभावके विकल्पको तू क्यों करता ? इसी तरहसे यह ज्ञान घटपट आदिका ज्ञाता नहीं बनता। यह ज्ञान अपनी ही ज्ञानतरंगोंसे अपनी ही आत्माका ज्ञाता बना है। परन्तु ज्ञानके विषयमें ज्ञानका सम्बन्ध छोड़कर उपचारसे कहा जाता कि मैं घट पटका ज्ञाता हूं। परन्तु वह तो केवल अपनी आत्मा का ज्ञाता है, न स्त्रीका ज्ञाता है और न पुत्रका, बल्कि अपना ही ज्ञाता हो रहा। अज्ञानी विकारीरूपसे और ज्ञानी अविकारी रूपसे ज्ञाता कहा जाता। विकारी रूपसे ज्ञाता जो है वह मिथ्यादृष्टि कहा जाता, क्योंकि वह विशुद्ध ज्ञाता न रहकर विकारमें जुड़ गया।

विकल्पत्यागके लिये बाह्यका त्याग—देखो भैया ! तुम अपनेको अपनी गृहका स्वामी कहते हो परन्तु गृह स्वामी तुम कैसे हो सकते हो ? तुम तो केवल अपनी आत्माके ही स्वामी हो, इसी तरह सब पदार्थोंमें भेद समझना। यह बात समझ लेने पर ही मोक्षमार्गका विकास हो जाता। प्रत्येकको स्वतन्त्र देखो, इसमें स्व पर दोनोंका हित है। वस्तुतः कोई किसीका कुछ नहीं करता। न कोई किसीका त्याग करता, मात्र अपने विकल्पका उत्पाद व्यय करता, बाह्य तो निमित्त है। अतः इन सब चीजोंका भेदज्ञान करो। चीजोंका त्याग चीजोंके त्यागके लिये नहीं है, परन्तु चीजोंका त्याग अपने विकल्पके त्यागके लिये है। जिसने चीजका त्याग करके भी विकल्पका त्याग नहीं किया, तो उसने चीजका त्याग नहीं किया। बाह्य वस्तुओंका त्याग उन वस्तुओंके विषय मात्र पद्धतिसे विकल्पके त्यागके लिये है। दूसरी और

वस्तुके वातावरणमें भी रहकर जिनके विकल्प नहीं है वे भी उच्च आत्मा हैं, परन्तु जिनकी प्रवृत्ति उनमें न रहकर भी उन्हींके रागमें दृष्टि पड़ी हो, उनको यह कैसे कहा जा सकता कि इनको उनका विकल्प नहीं है। तो भी बाह्य त्यागकी पद्धति ठीक है, क्योंकि जिन्होंने इनका त्याग ही कर दिया वहाँ आश्रय अवसर न होनेसे उनका विकल्प भी नहीं रहता। फिर भी वस्तुओंके त्यागका एक ओरसे निर्णय नहीं हो सकता कि बाह्य त्यागमात्रसे इनमें उनका विकल्पका त्याग हो गया। परन्तु जिनका विकल्पका त्याग हुआ उनके पास बाह्य प्रवृत्तियाँ नहीं रहतीं। इसलिये कदाचित् अवसरकी कमी आदिसे उनका बाह्य त्याग नहीं भी हो पाये तो भी उनके विकल्प तो नहीं रहता।

परप्रभुताके भावमें विरागताका अभाव—सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्मस्थिरतासे निर्विकल्पकता होती है। ऐसा होते ही वे अपने आपको जानते। अपने आपको जानते ही एक ही साथ समस्त पदार्थ समस्त पदार्थोंके सम्बन्धसे समान रूपसे हृदयमें साक्षातकार हो गये। इस प्रकार तरह तरहके पदार्थोंमें ज्ञानके बदलनेकी बात ही नहीं रही। जहाँ ज्ञानके बदलने की बात आती वहाँ दुःख आता। भगवान अनन्त सुखी इसलिये ही हैं कि उनमें ज्ञानके बदलने की प्रवृत्ति नहीं है। पूर्ण व्यक्त ज्ञानका परिवर्तन नहीं होता। यदि ऐसा हो तो वहाँ कोई न कोई न्यूनता आ जाती है, यह अनिष्ट प्रसंग हो जायगा। केवलज्ञानीने अपने ज्ञानसे जो जाना वह अनंतकाल तक रहेगा। ज्ञानसे जो जाना अथवा जो ग्रहण किया उसमें राग नहीं रहता। गृहस्थोंके भी और नहीं तो ग्रहण करनेकी यह क्रिया कमेटीसे ढंगसे हो तो उसमें राग नहीं रहता। जैसे किसी कमेटीमें किसी वस्तुको तोड़ देनेका प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हो जाय तो मन्त्री उस वस्तुको तुरन्त तोड़ देता है, उसमें उसका राग नहीं रहता, और यदि उस कमैटीका मन्त्री अकेला स्वामी बना काम कर रहा हो तो उसके कार्योंमें उसका राग रहता और वह क्लेश पाता।

अप्राकरणिकतामें क्लेशका अभाव—किसी वस्तुको जानने जानने और उसको करने करनेमें कितना भेद होता? मुनीम अपने सेठके लाखों रुपयोंके कारोबारकी व्यवस्था कर रहा है, फिर भी उसके उसमें राग नहीं है। यदि उसको राग है तो केवल अपनी १००) रुपये महीनेकी तनख्वाहसे है। उसमें ही उसको राग रहता है और लाखों रुपयोंके उस कारोबारसे उसको कोई राग नहीं। परन्तु इसके विपरीत सेठको उस कारोबारसे राग है। यदि उसके पास टेलीफोनसे खबर आ जाती कि एक लाखका नुकसान हो गया तो उसके मनमें खलबली मच जाती। कमसे कम सिरदर्द तो तुरंत करने लगेगा। रागके कारण सेठको तो खलबली मची, परन्तु मुनीमको उससे कोई खलबली नहीं मची। उसको तो अपने सौ रुपयेकी खलबली मचती, कामकी खलबली नहीं मचती। लड़की मायकेसे ससुराल जा रही है। पहली

बार ही नहीं, जब जब भी वह ससुराल जाती है, खूब रोती है। रोती भी ऐसी है कि दूसरा देखे तो उसे भी रोना आजाय। परन्तु उसके मनमें कोई आकुलता नहीं। ससुराल जाते वक्त उसके मनमें तो एक प्रकारकी उमंग उठती है। बाह्य प्रवृत्ति ऐसी होनेपर भी उसके मनमें आकुलता नहीं होती। लडकेकी बारात चल रही है, पड़ौसनियोंको गीत गानेके लिये बुलावा देकर बुला लिया है, वे नाना प्रकारके गाने गाती हैं, वे गाती हैं—'मेरा दूल्हा बना सरदार' परन्तु क्या वे श्रद्धासे गाती हैं? यदि दूल्हेके जरा भी लग जाय तो क्या उनके अन्तरंगमें जरा भी दुःख होगा? परन्तु उसकी मां, जो जरा भी गा नहीं रही है, और कामकाजमें फंसी हुई है, उसके मनमें तो यही श्रद्धा है कि आज उसका पुत्र दूल्हा बना है, और जरा भी बाधा आजाने पर उसके अन्तरंगमें बहुत दुःख होता। बुलावेसे आने वाली पड़ौसनियां तो केवल पावभर बताशोंके लिये यह गाती हैं, उन्हें दूल्हा बने सरदार' से कोई मोह नहीं। परन्तु उस मांकी ममताके कारण उसके मनकी खुशीको देखो। यह सब ममताकी नींवपर चढ़ा हुआ ठाटबाट है।

ममताका फंसाव—जो भी फंसता है वह अपनी ममतासे फंसता है। इच्छा ही अनेक विपदाओंकी जड़ है। इच्छा मात्र ही तो दुःख है। देखो भैया! रहना जाना तो कुछ नही केवल विकल्प करके संसारमें फंस रहे। अपने दोषका तो विचार ही नहीं करते, बाह्य वस्तुओं का उलाहना देते। कुछ आदमी एक गांवमें गए। वहां एक बगीचेमें एक चिड़ीमार ने अपना जाल बिछा रखा था। कुछ चिड़ियां उसमें फँसी हुई थीं। उनमें से एकने यह देखकर कहा कि बगीचा कितना हत्यारा है जो चिड़ियां फंसाता है? दूसरा बोला—नहीं, यह बगीचा हत्यारा नहीं है, यह पुरुष चिड़िया फंसा रहा है, अतः यह हत्यारा है। तब तीसरा बोला कि न तो यह बगीचा हत्यारा और न यह पुरुष, हत्यारा तो यह जाल है, क्योंकि यही चिड़िया अपनेमें फंसा रहा है। चौथा बोला—नहीं, इनमें से कुछ भी हत्यारे नहीं हैं, हत्यारे तो ये चावल और गेहूंके दाने हैं जिनके कारण कि चिड़ियां जालमें आ जाती हैं। तब उनमें जो ज्ञानी था वह बोला कि इनमें से कोई भी चीज हत्यारी नहीं है, वास्तवमें हत्यारा तो चिड़ियाके अन्तरंगका तृष्णाभाव है। उन चावलों और गेहूंके दानोंके प्रति उनके अन्तरंगका तृष्णाभाव ही उनको फंसवा रहा है। अतः हमें भी इस दुनियामें फंसानेवाले कोई पदार्थ नहीं हैं, फंसाने वाला तो निजका ममत्वभाव ही है, दुनियाके बाह्य पदार्थ हमको नहीं फंसा सकते। वस्तुस्वरूप समझकर श्रद्धा सच्ची दृढ़ बनाओ।

साक्षीका ठाट-बाट—भगवानका ठाट-बाट देखो। उनके ज्ञानकी ऐसी जाननेकी शक्ति होते हुए भी उनके ज्ञानको यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी कि मैंने यह जाना, इसे भी जानूँ। ऐसे ज्ञानका सामर्थ्य मिला तब केवली अनन्तसुखी है। जहाँ ज्ञान पूरा हो जाता है,

वहाँ कुछ भी इच्छा नहीं रहती कि मैंने यह जाना, मैं यह भी जानूँ। जब ज्ञान पूरे विकाससे पैदा हो ही नहीं पाता, वहाँ ही यह इच्छा हो सकती है। परन्तु उनके तो सब इच्छायें पहले ही मर गई थीं। ज्ञानका पूर्ण विकास तभी हुआ। ज्ञानका पूर्ण विकास होनेके पश्चात् उस इच्छाके दुबारा आनेका प्रश्न पैदा नहीं होता। इसको ग्रहण करूं और इसको छोड़ूं, यह भाव ज्ञान पूरा आ जानेपर नहीं आता, तभी संसारसे विरक्त होना कहा जाता है। साँचा सुखी तो ज्ञातादृष्टा साक्षी पुरुष ही है। "विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्तिः विषयस्पृहः। साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्।" विरक्त किसे कहते हैं? जो विषयका द्वेषी हो उसे विरक्त कहते हैं। हम वस्तुको नहीं देखेंगे, नहीं जानेंगे, नहीं चलेंगे, स्वाद नहीं लेंगे, इन्हें दूर हटावो। इस तरह जिसने विषयोंसे द्वेष कर रखा है उसे विरक्त कहते हैं। जिसने इनमें इच्छा कर रखी उसे रक्त कहते हैं। मेरी आत्मा साक्षी है। जो साक्षी है वह न तो रक्त है और न वह विरक्त है। मैं न रागी हूं, न द्वेषी हूं, ऐसा साक्षीपन मेरा ही तो स्वभाव है। ऐसे ज्ञानस्वभाव रूप निज आत्मामें आत्माके लिये आत्मा ही से अपने आप स्वतंत्र सुखी होऊं। सुखी होनेके लिये परद्रव्योंको खोजनेकी आवश्यकता नहीं। जैसे केवली भगवान सुखी रहते हैं, ऐसे ही मैं भी अनन्त सुखी होऊं। मेरी आत्मा सुख शान्तिके स्वभावसे ओतप्रोत है। अतः ऐसी शांति पानेके लिये काम एक ही करना चाहिए। जिन पदार्थोंके सम्बन्धमें परिणमन आ आकर मिटता जाता है उन परिणमनोंपर दृष्टि न देकर, जिसकी कि यह अवस्था होती है, ऐसा वह सामान्य ज्ञायक भाव, जो ज्ञान द्वारा इस ज्ञानमें गम्य है, केवल अनुभवसे ही पाया जा सकता है। ऐसी चीजको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो और सर्व पदार्थके मात्र साक्षी रहो।

आत्मसामान्यकी सम्हालमें कल्याण—सदा अपनेमें सामान्य भावको सम्हालो। एक सामान्य भावको सम्हालोगे तो सब कुछ आ जाएगा। पर्यायें तो अनन्त हैं और सामान्य भाव एक है। एकपर दृष्टि रखनेसे सब कुछ प्राप्त हो जायगा। अनेकपर दृष्टि रखनेसे कुछ नहीं मिलेगा। जैसे यात्राको जाती हुई महिलाओंने अपनेमें विचार कर लिया कि रेलमें चढ़ते और उतरते समय अपनी-अपनी अपनी पोटलियोंपर दृष्टि रखना और सम्हालकर साथ रखना, इस दृष्टिसे सबका समान संभल जायगा। यदि दूसरोंकी पोटलोको सम्हालने लगो और अपनीको न सम्हालो तो किसीकी भी पोटली नहीं सम्हल सकती। इसी तरह अपने-अपने ज्ञायकस्वभाव को सम्हालो तो सभी सम्हल गए। सबको सम्हालो और अपनेको न सम्हालो तो न तो सबको सम्हालनेकी बात ही तुमसे बनी और न खुदको ही सम्हालनेको बात बनी। सब अपने अपनेको सम्हालने लगें तो सभी सम्हल गए। खुदको सम्हाला तो धर्मका मूल यहीं प्रगट हो जाता। सबपर दूसरोंपर दृष्टि रही, अपनेपर दृष्टि न रही तो कुछ नहीं होगा। सबका सम्हा-

लनेका विकल्प होनेपर एक भी नहीं सम्हला और धर्म भी नहीं सम्हला। एक निज ज्ञायक भाव आत्मतत्त्वको सब लोग अपनेमें प्रगट करो तभी उद्धार होगा। दुनियामें हमारी कोई रक्षा नहीं करेगा। भगवानका ध्यान कर, भगवानका ध्यान करनेसे जो उपयोग होगा उस उपयोगसे अपने मनको निर्मल बनाना और उसके निर्मल बनानेमें बाह्य साधन हों तो भी बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि न डालो और एक ज्ञानभाव ही स्थिर रखा तो कल्याण हो गया। बाह्य पदार्थोंपर दृष्टिकी बात तो दूर है, जब भगवानके ध्यान करते हुए भी उसमें भगवानका अवलम्बन नहीं रहता, वहाँ निराकुल सुखमय ज्ञानका सत्य अनुभव होता। ऐसे सिद्ध ज्ञान स्थिति का नाम शिव है। इस नरभवका लाभ यही है, अन्यथा यह संसारी दीन दुःखी ही रहकर संसारमें ही डोलेगा।

एक राजाका दरबार भरा था। उसमें एक समस्याकी पूर्ति करनी थी। वहाँ एक कवि और उसका बाप भी बैठा था। राजाने कविके बापसे उस समस्याकी पूर्तिके लिये कहा, परंतु यह तो आयश्यक नहीं कि कविका बाप भी कवि ही हो, उसे समस्याकी पूर्ति करना नहीं आता था। उसने अपने लड़केसे कहा—"पुरारे बापारे" हे लड़के ! तू इस समस्याकी पूर्ति कर, देखो भैया ! यह शब्द ही देहाती व अशुद्ध है। लड़केने इसकी पूर्ति इस प्रकार की कि पिता के शब्दोंसे वह पूर्ति शुरू हो और समस्याकी पूर्ति भी हो जाय। उसने जो समस्याकी पूर्ति की वह यह है—पुरारे वापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे, गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनजालव्यतिकरः। धनुः पाणिः पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशं, क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति ॥

इसका भाव इस प्रकार है। रेवा नदीके एक किनारे पर एक हिरनका बच्चा खड़ा था। उसके पीछे १० शिकारी धनुष बाण लिये लग रहे हैं। जहां वह हिरनका बच्चा खड़ा था उसके दोनों ओर आग लग रही थी। सामने नदी थी, दोनों तरफ आग लग रही थी और पीछे शिकारी लग रहे थे। अब वह हिरनका बच्चा विचार कर रहा है कि मैं कहां जाऊं, क्या करूं ? इस तरह वह विलाप कर रहा है। इसी तरहकी बात हमारे प्राणोंकी है। सामने आकुलता रूपी नदी है। इधर उधर विषयकषायोंकी आग लग रही है। पीछेसे यमराज लगा हुआ है। अब सोच रहे कि मैं क्या करूं, कहां जाऊं ? तो ज्ञानी आत्मा कहते—अरे ! जहां है वहीं अपने आत्मचिन्तनमें लग जा। आगेकी, इधर उधरकी और पीछेकी कुछ चिन्ता मत कर। विषय कषायोंके भावोंको अपने हृदयसे हटाओ, विषयके भाव निर्बलतायें हैं। इनसे अपना चित्त हटाकर स्वतन्त्र मार्गसे चलो। यही शांतिका मार्ग है। विकल्पोंमें मत पड़ो, तभी अनन्त शान्ति मिल सकेगी।

स्वपरोपादानहानकी शैलीका काम—देखो भैया ! भगवानकी तरह काम करते न

बने तो कमसे कम उनके कामकी शैली तो अपने आपमें समझ लो। केवली प्रभु न किसीको ग्रहण करते, न किसीको छोड़ते, न किसी रूप परिणमन करते, फिर भी देख लो सबको जानते हैं अर्थात् उनके ज्ञानका विषय सारा विश्व बन रहा है। इसी तरह हम भी किसीको न ग्रहण करते, न छोड़ते, न अन्य किसी रूप परिणमते हैं, फिर भी देख लो हम जान रहे हैं अर्थात् जितनी वर्तमान योग्यता है उसके अनुरूप हमारे ज्ञानका विषय यह विश्व बन रहा है। भैया ! केवली भगवानने इस संसारके गोरखधंधासे निकालनेकी जो अनुपम चतुराई की वह भी तो निरख लो—वही किया जैसा कि अब भी बड़े-बड़े ज्ञानी जन यहाँ करते हैं। प्रभु काम क्रोधादि विकारोंको ग्रहण नहीं करते, रंच भी सूक्ष्म परिणमन रूपसे भी स्थान नहीं देते तथा निज स्वभावके अनुरूप प्रकट हुए। अनन्त चतुष्टयको छोड़ते नहीं हैं। यही कारण है कि यह उत्कृष्ट आत्मा एक साथ सबको जानता हुआ भी किसी भी विकल्प रूप नहीं परिणमता और वस्तुतः केवलज्ञान ज्योतिसे स्वयं ज्योतिर्मय होकर अपनेको अपने द्वारा अपनेमें अनुभवन करता है। ज्ञानी पुरुष भी यहाँ क्या करते हैं—काम क्रोधादि विकारोंको ग्रहण नहीं करते, श्रद्धासे नहीं पकड़ते, उसमें नहीं जुटते और निर्विकल्प स्वभावकी प्रतीतिसे जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन, शक्ति सुखरूप सहज भाव प्रकट हुआ, उस स्वरूपाचरणको नहीं छोड़ते। यही कारण है कि यह अन्तरात्मा भी बाह्य पदार्थोंको जानता हुआ भी किसी भी विकल्परूप अनुभव नहीं करता। अहो ! श्रेष्ठ मनका पाना बड़ा कठिन है। उसे पा लिया तो सर्व यत्नसे उसको ऐसा सदुपयोग करो कि फिर किसी इन्द्रियकी आधीनता ही न रहे। इस प्रकार इस गाथामें ज्ञान ज्ञेय रूपसे नहीं परिणमता है। ऐसा वर्णन किया।

अब जैसे केवलज्ञानीकी स्वरूप महिमा गाई वैसे ही यहाँ श्रुत केवलीकी महिमा गाते हैं, इस महिमा द्वारा कार्यकी शैलीकी अपेक्षा केवली और श्रुत केवलीमें समानता दिखाते हैं—जैसे केवली भगवान सकलज्ञान द्वारा अपना अनुभव करते हैं, वैसे श्रुत केवली भगवान भी सम्यक् विकलज्ञान द्वारा अपना अनुभव करते हैं। इस प्रकार केवली और श्रुतकेवलीमें अविशेषता दिखाकर विशेष जाननेकी इच्छाका क्षोभ नष्ट करते हैं—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

केवलीका स्वसंचेतन व श्रुतकेवलीका स्वसंवेदन—केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी, इन दोनोंमें ज्ञानकी क्रियासे अन्तर नहीं। आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका केवलज्ञानी संचेतन करते और श्रुतज्ञानी द्वारा आत्माका आत्मामें संवेदन करते। दोनोंका काम एक ही हैं, ज्ञानकी अन्तरङ्ग क्रियासे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें कोई अन्तर नहीं रहा। जितना काम केवलज्ञानी कर पाता है उतना ही काम श्रुतज्ञानी भी कर लेता है। फिर ज्यादा आकांक्षा या जिज्ञासाका

क्षोभ हम अपनेमें क्यों लावें ? केवली उपचारसे सारी दुनियाको जानते हैं, एक अपने द्वारा अपनेमें अपनी आत्माका संचेतन करते तो श्रुतकेवली सम्यग्दृष्टि भी अपने द्वारा अपनेमें अपनी आत्माका संवेदन करते। केवली आत्माके द्वारा आत्माका आत्मामें संचेतन करते और सम्यग्दृष्टि भी आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका संवेदन करते। संचेतन तो प्रत्यक्ष जाननेको कहते और संवेदन परोक्ष जाननेको कहते। सम्यग्दृष्टिने आत्माके द्वारा आत्मामें संवेदन किया।

स्वसंचेतन और स्वसंवेदनका विवरण—भगवान तो केवलज्ञानके द्वारा संचेतन करते हैं और सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानके द्वारा संवेदन करते हैं। एक आदमी लखपति हो गया और एक आदमी गरीब है। वह लखपति क्या करता ? कपड़े पहिन लेता और आधसेर भोजन कर लेता। और वह गरीब आदमी क्या करता ? वह भी कपड़े पहिन लेता और आधसेर भोजन कर लेता। इस प्रकार जो लखपति करता वही गरीब भी करता। इसी तरह केवली ही और अन्य क्या कर लेते ? सम्यग्दृष्टि और केवली, दोनों ही आत्माका ज्ञान करते। एक केवलज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञान करता और दूसरा श्रुतज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञान करता। यह ज्ञानकी अन्तरंग क्रियाके द्वारा वर्णन है। केवलीने केवलज्ञान द्वारा केवल आत्माका संचेतन किया। केवलका कैसा स्वरूप है ? अनादि, अनिधन, अहेतुक, असाधारण जो एक निज आत्मा है, उसमें ही चेतनेमें आने वाला जो चैतन्य सामान्य वह है महिमा जिसकी तथा चेतक स्वभाव के द्वारा एक स्वरूप है, ऐसा वह केवल है। ऐसी आत्माका आत्मामें आत्माके द्वारा संचेतन किया, ऐसा वह केवली कहलाता है। जैसे केवलीने यह काम किया, उसी तरह सम्यग्दृष्टि मनुष्यने भी आत्माका आत्माके द्वारा आत्मामें संचेतन और संवेदन दोनों किया। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा तो संचेतन और मति श्रुति पर्यायों द्वारा संवेदन, दोनों किया जाता। परन्तु सिद्ध के तो केवल संचेतन ही कहा जाता।

शैलीकी समानता—कैसा है वह केवलज्ञान कि एक साथ ही परिणमित हो गए समस्त चैतन्य विशेष जहां पर। चैतन्यकी विशेष अंश पर्यायें भी सबकी सब एक साथ आ गईं, ऐसा वह केवलज्ञान है। कैसा श्रुतज्ञान कि क्रमसे परिणमित हुए हैं कुछ चैतन्यके विशेष अंश पर्यायें जहां पर। केवलीके ये सब एक साथ परिणमित हुए और श्रुतज्ञानीके क्रमसे कुछ परिणमित हुए। केवलीने अनादि अनन्त असाधारण अहेतुक चैतन्यसम्बन्धकी महिमाको जाना और श्रुतज्ञानीने भी अनादि अनन्त असाधारण अहेतुक चैतन्य सामान्यकी महिमाको जाना। धनी और गरीब दोनोंने आधासेर रोटी खाई। धनीने अच्छे-अच्छे मसालोंसे खाई और गरीब ने साधारण साग सब्जीसे रोटी खाई। देखो श्रुतज्ञानीने भी खुदका खुदमें प्रयोग किया और केवलज्ञानीने भी खुदका खुदमें प्रयोग किया। ज्ञानकी जो निज क्रिया है उसके द्वारा समानता बतला रहे हैं, केवलज्ञानके स्वरूपमें चलनेके लिये यह समानता है। यह ज्ञान दृष्टिसे कथन है

व्यवहारकी बात व्यवहारमें है।

स्वाचरणका कर्तव्य—आत्माको सरल होना चाहिये। कोई बात बनाना नहीं चाहिए। जैसी स्थिति है उस स्थितिसे बात करना चाहिये। हम बात बनायें तो हमारे सहयोगी कोई नही हैं। हमारा यदि अशुभोपयोगमें ज्यादा चित्त रहता है तो हमको चाहिये कि शुभोपयोगका ध्यान करके अशुभोपयोगसे दूर रहें और शुभोपयोगमें रहकर आत्माका उत्थान करें और यदि शुभोपयोगमें हमारे चित्त रहता है तो शुद्धोपयोगका ध्यान करके शुभोपयोग से दूर रहनेका प्रयत्न करें। जैसे कहा जाता कि तुमसे रातमें कुछ भी खाना न छोड़ा जाय तो कमसे कम अन्न तो रातमें मत खाओ। परन्तु ज्ञानीजन यह कहते हैं कि रातको जैसे अन्न खाया तैसे मिठाई खाई, दोनों बराबर हैं। अथवा शुद्धोपयोगमें कहते कि शुभोपयोगमें या शुभोपयोगमें बुद्धि करदी तो दोनों ही बराबर हैं। जो कुछ नहीं छोड़ सकता था उसे तो कहा गया कि वह कुछ तो छोड़े, कुछ तो कम करे। किन्तु यहां तो ज्ञानीकी बात है स्वरूपसे देखो कुछ ऐसे हैं कि नहीं? वहांकी दृष्टिसे देखो, उसी ज्ञानीकी दृष्टिसे देखो कि जैसा वह है वैसा ही यह। सो जैसा आत्माका परिणमन चल रहा है उसके अनुसार ही चलना चाहिये।

केवली और श्रुतकेवलीका शब्दार्थ—यहाँ केवलीका नाम भी केवली है और श्रुतकेवलीका नाम भी केवली है। फिर केवलीका नाम केवली ही क्यों रहा और श्रुतकेवलीको श्रुतकेवली कहनेमें क्या हित था? श्रुतज्ञानके द्वारा जो केवलको जाने वह श्रुतकेवली कहलाता और जो केवलज्ञानके द्वारा केवलको जाने वह केवलकेवली कहलाता। परन्तु केवलकेवलीमें तो केवल और केवली दोनों शब्द समान हो जानेके कारण और व्याकरणकी ऐसी ही व्यवस्था होनेके कारण केवली ही रख दिया और केवलका लोप कर दिया, परन्तु श्रुतकेवलीमें तो दोनों नाम असमान होनेके कारण दोनों ही को ही रखना आवश्यक हुआ। इसीलिए केवलकेवलीका केवल लोप करके मात्र केवली रखा गया।

क्षोभका अनवसर—भगवानने केवलज्ञानके द्वारा केवल आत्माको जाना, श्रुतकेवलीने श्रुतके द्वारा केवल आत्माको जाना, अन्य ज्ञानियोंने भी केवल आत्माको जाना। इस तरहसे दोनोंने केवल एक ही काम किया। इसके अतिरिक्त और कोई कुछ कर भी नहीं सकता, फिर विशेष जाननेका क्षोभ क्यों करते? केवली भी केवल आत्माको जानते, तुम सम्यग्दृष्टि भी श्रुतज्ञानके द्वारा केवल आत्माको ही जानते, फिर विशेष आकांक्षा या क्षोभ क्यों करते? जब तक विशेष जाननेका क्षोभ रहता है तब तक मोक्षमार्ग नहीं चलता। जो बाह्य ज्ञानमें विशेष ललचाये तो समझो आत्मामें आत्मतत्त्वका अवलोकन अभी नहीं हुआ। इसके जाननेमें विशेष जाननेका क्षोभ नहीं होता। यह यदि श्रुतज्ञानीके यह क्षोभ नहीं रहा तो उसे केवलज्ञान ही

हो जाता। जब तक यह क्षोभ होता तब तक केवलज्ञान नहीं होता। सम्यक्दृष्टि जाननेकी तृष्णाको छोड़ देता। जो जाननेकी तृष्णा छोड़ेगा उसके ही आत्मीय आनंद होगा। सम्यक्दृष्टि अधिक जाननेकी इच्छा कुछ ही रहा करता। उसके तो सब पर्यायें स्वयं ही हुआ करती हैं। उसका भीतरी पुरुषार्थ बड़ा है। जिससे उसकी ज्ञानकी भी तृष्णा नहीं होती। ज्ञानकी तृष्णा कितना दुःख देती है, ज्ञान दुःख नहीं देता, इसका अनुभव भी किया जा सकता है। ज्ञानकी तृष्णाको दूर करनेके लिये केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमें अभेद बताया है कि जो यह करता है सो तुम भी करते हो, इसलिये आगे क्षोभ क्यों करते हो? जाननेकी इच्छाओंका क्षोभ भी जहाँ बुरा वहाँ अन्य इच्छाओंमें तो महा अनर्थ हैं ही। कोई भी आकांक्षा मत करो।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माकी स्वप्रकाशताका समर्थन—केवलीने केवलज्ञान द्वारा केवल अपनी ही आत्माको जाना और श्रुतकेवलीने भी श्रुतके द्वारा केवल अपनी ही आत्माको जाना। जैसे दीपक अपने आपमें ही जलता रहता है, परन्तु उसका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ प्रकाशित होते हैं। अथवा सूर्य पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करता, केवल वह तो अपने आपमें ही या अपने आपके प्रदेशमें ही चमचमाता है और दुनियाके बाह्य पदार्थ उसके निमित्तमें आकर प्रकाशित हो जाते हैं। निश्चयसे दीपक और सूर्य अपने आपको ही प्रकाशित करते। इसी तरह केवलीने भी अपने आपको ही जाना और श्रुतकेवलीने भी अपने आपको ही जाना, परन्तु दुनियाके बाह्य पदार्थ उनके निमित्तमें आकर जाननेमें आ गए। फिर हम भी केवलज्ञानीकी तरह ही काम कर रहे हैं, अतः विशेष जाननेकी इच्छा या विशेष जाननेकी इच्छाका क्षोभ क्यों? जैसे धनी भी आधा सेर भोजन खाता और गरीब भी आधा सेर खाता, फिर धनी होनेकी आकांक्षा क्यों करते? काम चलने लायक पुण्य तो सद्गृहस्थके है ही, नहीं तो सद्गृहस्थ ही कैसे बन पाता? इसी तरह केवली भी अपने आपकी आत्माका संचेतन करते और श्रुतज्ञानी भी आपकी आत्माका संचेतन करते, तो दोनों ही अपनी आत्माका संचेतन करनेके सिवाय दुनियामें और करते क्या हैं, फिर हमें विशेष इच्छा करनेसे लाभ क्या है? आत्मसंचेतनके लायक ज्ञान तो अन्तरात्माके है ही अन्यथा इस भावनाका पात्र कैसे होता?

स्वसंचेतनकी महत्तरता—यह निश्चयदृष्टिसे वर्णन चल रहा है। इस अविशेषताकी बातको सुनकर कोई चौंक भी सकता है कि केवली और श्रुतज्ञानीकी समानता बताकर केवलज्ञानकी महत्ता ही घटा दी, भगवानकी सारी महत्ता ही घटा दी। व्यवहारदृष्टि वालोंको ऐसा विरोध जंचता है। लोग कहते हैं कि मुझे ज्ञान बढ़ाना है। भैया, काहेका ज्ञान बढ़ाना है? परविषयक ज्ञानका ही। दुनियाके लोग कहते हैं कि मुझे ज्ञान बढ़ाना है, परन्तु बाह्य पदार्थों का ज्ञान बढ़ाओगे कैसे? जब उनका तुम्हारे साथ सम्बंध ही नहीं तो उनका ज्ञान बढ़ानेका मतलब? तुम तो केवल अपने आपको ही जानते हो, इसी तरह केवली भगवान भी अपने

आपको ही जानते हैं, वे बाह्य पदार्थोंको नहीं जानते। निश्चयदृष्टिसे उन्होंने अपने ज्ञानका ही ज्ञान किया। पदार्थ तो उसके निमित्तमें आकर आपही जाननेमें आ गए। वे बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं करते, इसलिये बाह्य पदार्थ तो उनके लिये कूड़ा करकट हुए। उनके जानने या नहीं जाननेका उनसे क्या सम्बंध ? इसी तरह हम भी केवल अपने आपको ही जानते हैं और बाह्यपदार्थ हमारे लिये अप्रयोजक है। इस प्रकार केवली भी अपने आपको ही जानता और श्रुतज्ञान भी अपने आपको ही जानता। वे दुनियामें अपने आपको जाननेके सिवाय और कुछ भी नहीं कर सकते। निश्चयदृष्टिसे केवलीने भी अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञान-स्वभावरूप आत्माका संचेतन किया और श्रुतज्ञानी, जो कि छद्मस्थ कहा जा सकता है उसने भी अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावरूप आत्माका संवेदन किया।

प्रभु और अन्तरात्मामें अन्तःक्रियाकी समानता—श्रुतकेवलीका अर्थ है जो श्रुतके द्वारा केवल अपनी आत्माको जाने और केवलीका अर्थ है जो केवलज्ञानके द्वारा केवल अपनी आत्माको जाने। जब सम्यक्दृष्टिको ध्यानमें ले रहे हैं तो अच्छासे अच्छा ज्ञानी श्रुतकेवली लिया, इसलिये यहाँ श्रुतकेवलीकी अपेक्षासे वर्णन है, भाव तो सभी सम्यग्ज्ञानियोंके लिये है, निश्चयसे आत्मा परको नहीं जानता, क्योंकि ज्ञानगुण आत्माके प्रदेशमें है, इससे बाहर नहीं है। इससे बाहर हो तो बिना प्रदेशके ज्ञानगुण कैसा ? ज्ञानगुण आत्माके प्रदेशमें है तो ज्ञान का प्रयोग अपने प्रदेशमें ही हो सकता, बाहर नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान परमें नहीं जा सकता। आत्मा परको नहीं जानता, वह तो केवल अपने आपको ही जानता। केवली और श्रुतकेवली केवल अपनी आत्माको ही जानते। फर्क इतना ही है कि केवलीको प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा हो जाता है, और श्रुतकेवलीको परोक्ष ज्ञान पैदा होता है, लाइन दोनोंकी एक है। जैसे दो कलाकारोंकी लाइन कलाकी एक ही होती है, परन्तु एक ज्यादा कला जानता है और दूसरा कम जानता है। इसी तरह केवली और श्रुतकेवली दोनोंका रास्ता एक ही है। परन्तु हम लोग नाना आरम्भोंमें व्यस्त होने वाले सन्देह करने लगते हैं कि ऐसा कैसे होगा ? केवली तो केवली ही है, श्रुतकेवली श्रुतकेवली ही है, दोनोंमें समानता कैसे हो सकती, परन्तु सम्य-ग्दृष्टिका क्या परिणमन है, उसकी दृष्टिसे देखो, वह भी निश्चयसे आत्माका परिणमन करता, और केवलज्ञानी भी निश्चयसे आत्माका परिणमन करता। जैसे दीपक और सूर्य केवल अपने को ही प्रकाशित करते, इसी तरह केवली भी निश्चयसे अपनी आत्माका ही संचेतन करते, और श्रुतकेवली भी निश्चयसे अपनी आत्माका ही संचेतन करते। जब मैं अपनी आत्माके संचेतनके अलावा कुछ कर ही नहीं रहा, तो विशेष इच्छाका क्षोभ करनेसे फायदा ही क्या ? इच्छाका विनाश करनेके लिए ऐसा उपदेश देते हैं। जब हम बाह्यमें कुछ कर ही नहीं सकते, तो उसकी इच्छामें क्षोभ करनेसे लाभ ही क्या ?

केवली, श्रुतकेवलीके ज्ञानमें समानता व अन्तरका विवरण—केवली तो केवलज्ञान के द्वारा अपनी आत्माको जानता और श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता। फर्क इतना ही है कि केवलीमें तो एक साथ ही सारे चैतन्यविशेष प्रगट हो गए और श्रुतज्ञानीमें क्रमसे कुछ कुछ चैतन्यविशेष प्रगट होते। दोनोंने जाना किसको ? केवलीने केवलज्ञानसे अनादि अनन्त अहेतुक अपने आपके द्वारा ही संचेतनामें आने वाला चैतन्य सामान्य है महिमा जिसकी, ऐसी निज आत्माको जाना और श्रुतज्ञानीने भी श्रुतज्ञानके द्वारा अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण खुदके द्वारा संवेदनमें आने वाला चैतन्य सामान्य है महिमा जिसकी ऐसी उस आत्माको जाना। दोनोंमें संचेतन और संवेदन, अथवा प्रत्यक्ष और परोक्षका फर्क पड़ गया। परन्तु दोनोंने अपनी आत्माको ही जाना। श्रुतज्ञानी केवल आत्मा का संवेदन करनेके बाद जब ज्ञानका व्यापक रूप जानता है तो उसी आत्माका संचेतन करती। यद्यपि यहां ज्ञान मनके निमित्तसे प्रगट होता है, परन्तु फिर मनकी आवश्यकता नहीं होती है और केवल आत्माके द्वारा आत्माका आत्मामें ही ध्यान करने लगता है। जब आत्माका संचेतन करता है तब श्रुत उपाधिकी भी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उसमें रहता अवश्य है। जैसे कि ज्ञान पैदा हुआ, पैदा होनेकी अपेक्षासे देखो तो वह मतिज्ञान रहेगा और फिर उस निमित्तकी आवश्यकता नहीं रहेगी। जैसे इंजनकी ठोकर से रेलके डिब्बे चलने लगते हैं, परन्तु बादमें इंजनकी ठोकरकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह ज्ञान मनके निमित्तसे पैदा हुआ और पैदा होनेके बाद अब मनकी ठोकरकी आवश्यकता नहीं रही। इन्द्रियोंके ज्ञानसे मतिज्ञान पैदा हुआ, और सम्यक्त्व अनुभव भी मनसे पैदा हुआ, परन्तु निर्विकल्प आत्मामें अब मनकी आवश्यकता नहीं। मनके निमित्तसे सम्यक्त्वका अनुभव पैदा तो हुआ, परन्तु अब मनकी आवश्यकता नहीं। इसी तरह श्रुतकेवली आत्माके संवेदनके बाद संचेतन करते।

आन्तरिक रहस्य—यह प्रकरण बड़ा रहस्यपूर्ण है और आगे भी कई गाथाओंमें भिन्न-भिन्न तरहसे ज्ञानका रहस्य समझाकर भव्य जीवोंको शान्ति मार्गमें सहायता पहुंचाई है। यद्यपि इस गाथामें यही लिखा है कि जो श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञानमय आत्माको जानता है, उसे गणधर आदिक श्रुतज्ञानी कहते हैं; जो निर्विकार शाश्वत रूप स्वभावसे ज्ञानमय आत्माको जानता उसे श्रुतकेवली कहते हैं। परंतु गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द जी सूरिने इसका जिक्र ही नहीं करके एकदम यह बता दिया कि केवलज्ञानी केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जानते हैं, और श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानते हैं। आत्माको ही केवलज्ञानीने जाना और आत्माको ही श्रुतज्ञानीने जाना, तो फिर विशेष जाननेकी इच्छासे फायदा क्या ? केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों ही आत्माको जाननेके सिवाय कुछ कर ही नहीं

सकता। इस प्रकार मालूम होता कि ये दोनों पुराण पुरुष कुन्कुदकुन्द स्वामी और अमृतचन्द सूरि दोनोंमें ऐसा सहयोग हो गया कि जैसे बड़ा भाई किसी दूसरे आदमीसे अपनी वस्तुको हाथमें लिये उसके लिये लड़ रहा हो और छोटा भाई उसे लड़ते हुए देख रहा हो तथा मौका पाकर उस वस्तुको हथियाकर अपने कब्जेमें कर लेता और भाग जाता। बड़े और छोटे भाई वा इसी प्रकारका सहयोग कुन्दकुन्द स्वामी और अमृतचन्द सूरिका भी मालूम देता। टीकामें लिखा गया कि स्वभावसे ज्ञायक आत्माको केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों जानते, इसलिए केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमें अविशेषता है।

आन्तरिक रहस्यका उद्घाटन—देखो भैया! कुन्दकुन्दस्वामी तो और कुछ शब्दोंमें कह रहे थे और सूरि जी को उस रहस्यका पता था, उनसे रहा न गया व झट रहस्य खोल बैठे। कोई आदमी दिनमें सूर्यके कारण जानता, कोई आदमी रात्रिमें दीपकके द्वारा देखता है, पर देखनेकी विद्या और देखनेका विषय वही तो हैं जो दिनमें सूर्यके प्रकाशके द्वारा देखा जाता और रात्रिमें दीपकसे देखा जाता। जिस चीजको दिनमें सूर्यके प्रकाशसे देखा, रात्रिमें भी दीपकके द्वारा उसी प्रकार उसी चीजको तो देखा, वस्तुतः तो आत्मासे ही वह देखा जाना गयाकी पद्धति तो देखनेकी एक ही है। इसी तरह मोक्ष पर्यायमें केवलज्ञानके द्वारा केवलीने आत्माको जाना और यहाँ संसारमें हमने श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। फिर भी आत्माको जाननेकी, उपादेय प्रयोग ज्ञान द्वारा स्वयंसे होने वाली तरंगका विकास दोनों जगह समानतासे ही तो है। आत्माको ही मोक्ष पर्यायमें जाना जाता और आत्माको ही संसार पर्यायमें गुजरकर भी सम्यग्दृष्टि द्वारा जाना जाता। तो विशेष इच्छा करनेसे फायदा क्या? ऐसी दृढ़तम भावना हो जानेपर अपनी बाह्य आकांक्षा कुछ भी नहीं रहती, ऐसी निर्मल पर्याय एक दिन भी प्रगट होनेपर केवलज्ञानकी वह पर्याय इसीके बलसे प्रगट होती है, जो तीनों लोकोंमें सबको एक साथ उपचारसे जान जाती।

कैवल्यका महत्त्व—यहाँ अभी प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जब केवलज्ञानके द्वारा केवलज्ञानी आत्माको ही जानता और श्रुतज्ञानके द्वारा श्रुतज्ञानी भी केवल आत्माको ही जानता, फिर इस कथनको कर चुकनेके बाद यह कथन नहीं करना चाहिए कि केवलज्ञानकी ऐसी पर्याय पैदा हो जाती है कि वह तीनों लोकको जान लेता है। समाधान ठीक है, यहाँ यह चर्चा ही नहीं करनी चाहिए और न गाथामें इस चर्चाका जिक्र है, मैं तो केवल आप लोगोंकी तरंग देखकर यह चर्चा कर बैठा। केवलज्ञानका महत्त्व परपदार्थोंके ज्ञानसे लगावें तो इस तरहके महत्त्वको लगाने वाला न केवलज्ञानके वास्तविक महत्त्वको ही जान सकता, और न मोक्षमार्गकी तरफ ही चल सकता, और न अपनी शांति ही कायम कर सकता। निश्चयनयके द्वारा ज्ञानका जो विशेष स्वरूप है, उसपर विशेष बल देना चाहिए। केवलज्ञान क्या काम

करता ? वह आप अपने द्वारा अपने आपको जानता है। निश्चयसे केवली केवल आत्माको जानते हैं, और उपचारसे सर्वज्ञ हैं। शान्ति और परमसुखका बीज वह आत्मा स्वयं ही है। जिन उपायोंसे यह आत्मा अपने आपके समीप पहुंचता है वे उपाय शांतिको आत्मामें पैदा करते हैं। इनके अलावा आत्माको कहीं शान्ति नहीं मिल सकती। कोई आत्मा इनके बिना शान्ति नहीं पा सकता। परपदार्थका लक्ष्य करते हुए कोई आत्मा शान्ति नहीं पा सकता। परलक्ष्य ऐसा ही है कि वह कभी शान्तिके मार्गमें अनुकूलता नहीं पैदा होने देता।

सब जीवोंमें वस्तुतः अन्तःकार्य—आत्माको ही श्रुतज्ञानी जानता और आत्माको ही केवलज्ञानी भी जानता। मिथ्यात्वी भी आत्माके सिवाय और किसीको नहीं जानता। परन्तु यह आत्माको विकृत रूपसे जानता। मैं मनुष्य हूं, त्यागी हूं, मुनि हूं, ब्रह्मचारी हूं, इतना ज्ञान वाला हूं, और मैं बड़ी साधना करने वाला हूं, इस प्रकारसे मिथ्यात्वी मिथ्यादृष्टिका अनुभव करता। परन्तु इन पर्यायोंके अनुभवसे वह केवल आत्माका ही तो अनुभव करता। आत्माके सिवाय उसने और किसको जाना ? आत्माके सब गुण आत्मामें ही रहते तो आत्मा के प्रदेशको छोड़कर और कहीं जाय कैसे ? कोई विकृत रूपसे आत्माको जानता, क्योंकि पर्यायोंमें इस प्रकारसे दृष्टिमें जाना आत्माको जाननेका विकृत रूप ही तो है। किन्तु सम्यग्दृष्टिके ये पर्यायबुद्धि नहीं हुआ करती, वह कहता यह सब मैं कुछ भी नहीं, जिसने ध्रुव ज्ञायकस्वभावका स्वभाव लिया, वह ज्ञानी कहता है कि मैं एक शुद्ध ज्ञानरूप ही हूं। पहली अवस्थामें ऐसा सोचा जाता है कि साधु परमेष्ठी मैं ही तो हूं, उपाध्याय भी तो मैं ही हूं। कहीं यह पदार्थ तो उपाध्याय नहीं बन जाता। इसी आत्माके विकासस्वरूप अरहंत सिद्ध मैं ही तो हूं। मंत्र भी कहा जाता सोहं, सोहं अर्थात् वह सब कुछ मैं ही तो हूं। पहली पदवीमें जब कि उसे सगुण परमात्माका ध्यान रहा करता था, पंचपरमेष्ठीका ध्यान रहा करता था और आत्मामें इतना बल नहीं था कि वह अशुभोपयोगसे सहज ही विरक्त रह सकता हो ऐसी हालतमें उसका शीघ्र परमेष्ठीमें ध्यान जाकर ऐसा ही विचारा जाता था। किन्तु अनन्तज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे कहते कि साधुपर्याय उपाध्यायपर्याय। आचार्यपर्याय आदि पर्यायें बीचमें आती रहतीं और कुछ समयमें नष्ट हो जातीं। परन्तु सिद्धपर्याय अनन्तकाल तक रहती है। फिर भी वह तरंग ही है, फिर ऐसी तरंग रूप क्या मैं हूं ? क्या परिणमन की अवस्था रूप हूं ? मैं तो अनादि अनन्त ज्ञायक स्वरूप हूं, मैं त्यागी भी नहीं हूं, मैं मुनि भी नहीं हूं, मैं साधु भी नहीं हूं—इन सब पर्यायरूपमें नहीं हूं, ऐसे ज्ञानस्वभावको जिसने देखा वह श्रुतज्ञानी कहलाया। जो श्रुतज्ञानी ऐसे ज्ञानस्वभावका संचेतन करता उसको विशेष आकांक्षाकी आवश्यकता नहीं।

आत्माकी अन्तःक्रियाके विवरणका प्रयोजन—इससे प्रयोजन क्या निकला ? एक

तो यह प्रयोजन निकला कि ज्ञानकी असलियत जानी कि वह ज्ञान जिसके लिये दुनिया भागती है, दौड़ती है पर लक्ष्यको करती है, वह ज्ञान ज्ञानी अपनेमें ही प्रयोग करता है, बाहर नहीं करता। तो यह काम तो हम अभी कर रहे हैं, आगे भी यही करेंगे। चाहे उस काममें उज्ज्वलता आती रहे, परन्तु काम तो एक ही रूपसे कर रहे हैं। नाना कर्मोंका क्षोभ यहां खत्म कर दिया गया। किन्हींको यह शंका हो जाती है कि आत्मा तो परोक्ष है फिर इसका ध्यान कैसे किया जाय ? भाव—शुद्ध गुणोंके द्वारा निर्विकार है सो निर्विकारस्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा इस आत्माका ज्ञान किया जाता। आत्मा प्रत्यक्षसे समझनेमें आता, जिनके और कहीं दृष्टि नहीं पली उनके लिये आत्मा इतनी दूर नहीं है कि न समझी जा सके किन्तु जिनकी दृष्टि और कहीं पली उनके लिए आत्मा इतनी दूर है कि समझमें नहीं आ सकती। यह भी नहीं कहा कि उससे भी सर्वथा दूर है। केवल बाह्यरुचिसे घटमें रहते हुए भी इतनी दूर हो गई कि आत्माके अनभिज्ञ पुरुषको मालूम ही नहीं पड़ती। परन्तु अभिज्ञ कहता यही मैं हूं तो आत्मा उसके लिये बिल्कुल नजदीक क्या वही आत्मा है, नजदीकमें तो फिर भी अन्तर आ जाता। मैं ही ज्ञान हूं, वहां तो मैं ही ज्ञानमय हूं, अतः दूर अथवा नजदीक क्या ? परन्तु जहाँ ये कहा कि मेरा ज्ञान किताबमें है, वहां तो दूरी आगई। जिन्हें आत्माका ज्ञान है उनके लिये आत्मा दूर अथवा नजदीक नहीं। इस तरहसे परोक्ष होते हुए भी इस आत्मा का निर्विकार संवेदन रूप द्वारा ध्यान किया जा सकता है।

इस प्रकार संवरतत्त्वको पुष्ट करने वाली ज्ञानस्वरूपकी अविशेषता बता करके अब चौतीसवीं गाथामें एक बड़े महत्वकी चीज बताते हैं।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं !
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

ज्ञानमें साधनकी उपाधिका प्रतिषेध—हे भाई ! श्रुत ज्ञानके द्वारा तुम आत्माको जानते हो तो जो विषय हुआ आत्मा वह विषयभूत आत्मा निर्विकार अखंड ज्ञानस्वभाव सहित है। तो विषय तो ठीक बता दिया, पर तुमने उस विषयको जानने वाले साधनका भेद क्यों पाल रखा ? श्रुतज्ञानके द्वारा जाना, इसमें श्रुतके भेदको नष्ट कर दो ताकि मात्र ज्ञान ही रह जाय। उस हालतमें यहाँ भी जीवज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है यह सिद्ध हो जायगा और वहां मोक्षपर्यायमें भी जीव ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है यह सिद्ध हो जायगा। यहां भीतरी वैभवकी सदृशता बतला रहे हैं। जैसे लाइट जल रही है। हरे रंगका बल्ब लगा दिया तो हरा प्रकाश हो गया। उस समय हरी लाइटसे जानते। हरी ज्योतिसे दीखता। परन्तु ज्योतिका निजका क्या काम है ? क्या यह काम है कि हरा रहना ? क्या यह हरा रूप प्रकाशका कार्य है। प्रकाशका काम यह नहीं है, प्रकाशका काम प्रतिभास

स्वच्छ उजाला करना है। हरा कम और नीला तो उजाला की उपाधि है। अभी देखो कि मसाला लगाकरके सफेद लाइट करदो और बड़ा सफेद प्रकाश होने लगता। वह सफेदी भी उजाले का स्वरूप नहीं रही, उजालेका निजका काम क्या? प्रकाश। वह रंग तो उस प्रकाशमें मिल गया। प्रकाशमें हरा नीला आदि उपाधि नहीं लगी। इसी प्रकार ज्ञानमें भी उपाधि नहीं लगती। जैसे श्रुतज्ञानमें श्रुतकी उपाधि नहीं लगती। हरे किस्मके द्वारा केवल जाननेका काम करते हैं और नीले अथवा सपेद किस्मके प्रकाशके द्वारा भी केवल जाननेका कार्य करते हैं। इसी प्रकार सब ज्ञानोंके द्वारा हम केवल जाननेका काम ही करते हैं। परन्तु उस जाननेमें ज्ञानकी उपाधि क्या? श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माके ज्ञेयाकार स्वरूपको जानना। इस ज्ञानमें श्रुतकी उपाधि क्यों? वह स्वरूप तो ज्ञानसे ही जाना गया। जिस ज्ञानसे जाना गया उस ज्ञानमें उपाधि नहीं होती। हरा है सो प्रकाश नहीं और प्रकाश है सो हरा नहीं। इसी तरह श्रुत है सो ज्ञान नहीं और ज्ञान है सो श्रुत नहीं। केवलीने केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जाना और श्रुतकेवलीने श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। फिर उस ज्ञानके केवल और श्रुतकी उपाधि क्यों?

ज्ञानका प्रयोग—ऐसा देखें कि मोक्षमें भी जाकर ज्ञानके द्वारा आत्माको ही जानते और संसारमें भी ज्ञानके द्वारा आत्माको ही जानते। ऐसी निर्मल आत्मामें मेरा प्रवेश हो जाता तो फिर मेरे लिए कोई बाधा ही नहीं रहती। श्रुतकी उपाधि भी हटाओ। चश्मेके द्वारा ही देखा, यहाँ भी तत्त्वसे चश्मेके द्वारा नहीं देखा, आँखके द्वारा ही देखा, परंतु आँख भी उपाधि है इसलिये आँखके द्वारा भी नहीं देखा, परंतु आत्माके अपने ज्ञानगुणके द्वारा देखा। देखना ज्ञानगुणका काम है, इसके मायने जानना है। देखना तो ऐसी एक अन्तरङ्गकी चीज है जिसे कोई बाहर प्रगट नहीं कर सकता। किसीसे लड़ाई हो जाय, तो ऐसा कहते—अच्छा दोस्त, हम देखेंगे दो तीन दिनमें। उसका क्या मतलब? कहनेका मतलब यह है कि उसके अनुकूल अपनी शक्तिको सम्हाला, उसकी शक्तिपर प्रयोग होगा और उसपर आक्रमण किया जायगा। यहाँ देखेंगे, कह देनेसे यह भाव निकला, ज्ञानगुण भावके लिये होता। यह देखना सब कुछ है, ऐसा कहनेका यह प्रयोजन नहीं कि मूर्तिकी तरह सामने बैठाकर आँखोंसे देखेगा, ऊपरी देखनेको भी जानना ही कहते। जैसे आँखसे देखते हैं तो इसका गुण है दर्शन। कानसे सुनते, इसका भी गुण बताओ, इसका श्रवणगुण नाम रखो। तो फिर इस तरह आत्मा को ६ गुणोंमें विभक्त करो—ज्ञान, स्पर्शन, घ्राण, दर्शन, श्रवण और स्वाद गुण। परंतु नहीं, पांचों इन्द्रियों द्वारा जो काम होता वह एक ज्ञान ही है। चक्षुदर्शन चक्षुके निमित्तसे होने वाले ज्ञानसे पहले जो आत्मामें दर्शन होता है, उसे कहते हैं चक्षुदर्शन। तो दर्शन जैसे आत्मामें ही प्रयोग करता प्रयोग करता इस तरहसे यह ज्ञान भी आत्मामें ही और श्रुतज्ञानके द्वारा

जाना। यहाँ भी श्रुत जो उपाधि है यह ठीक नहीं, उपाधि होनेपर भी उपाधिरहित जो ज्ञान है उस ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता। ज्ञानके निज कार्यमें उपाधि नहीं, श्रुत सूत्रकी उपाधि तो उपचारसे कारण रूप बताई गई है।

निरुपाधि अन्तःक्रिया—अब यहाँ श्रुतज्ञानमें श्रुतकी उपाधिका भेद खतम करते हैं, अर्थात् श्रुत कहलाता है सूत्र। जो पौद्गलिक दिव्यध्वनिके द्वारा जाना जाय अर्थात् उसके द्वारा जिसका जानना कहा गया उसे कहते हैं सूत्र। उस सूत्रका जो जानना सो कहा गया है श्रुतज्ञान अथवा सूत्रज्ञान। वहाँ जो सूत्रज्ञान होता है सो कहीं श्रुतकी उपाधि लिये हुये नहीं है, वह ज्ञान तो ज्ञान है। उस ज्ञानका आधार श्रुत होनेसे उसको श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुत तो ज्ञानका निमित्त कारण होनेसे उपचारसे कहा जाता श्रुतज्ञान। परन्तु वह तो ज्ञान है। ज्ञान ज्ञान ही है। वह अनादिसे अनन्तकाल तक अपनी तरङ्ग आप लिये हुये चलता है। जब उसका विषय श्रुत होता है तो उसे कहते हैं श्रुतज्ञान और जब उसका विषय मति होता है तो उसे कहते हैं मतिज्ञान। पर ज्ञानमें स्वयंमें कोई उपाधि नहीं लगी। इस हालतसे सूत्र अथवा श्रुत तो उपाधि रही। जो उपाधि होती है, वह आदरके योग्य नहीं रहती। उसमेंसे उपाधिको निकाल दो तो शेष ज्ञप्ति रह गई।

जैसे प्रकाश हो रहा है, लाइटमें हरा कागज लगा दिया तो हरे कागजकी उपाधिसे वह प्रकाश हरा होता। उस हरे प्रकाशमें हरी उपाधि हटा दे तो शेष चीज प्रकाश है। उपाधिके खतम हो जानेके बाद जो खालिस रह जाये, उसे शेषकी चीज कहते हैं। इसी तरह ज्ञानमें से भी उपाधि खतम कर दी जाय तो शेषकी चीज रही ज्ञप्ति, अर्थात् जानना मात्र। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों ही आत्माका संचेतन करते हैं, तो वहां भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई, और यहाँ भी श्रुतज्ञानीके भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई। इसलिये ज्ञानमें केवल और श्रुतकी उपाधिका फर्क नहीं है। वह तो केवल ज्ञान ही है।

ज्ञानस्वरूपकी अविशेषता—पहले तैंतीसवीं गाथामें बताया कि दोनों केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीके विषयमें फर्क नहीं है और यहाँ चौंतीसवीं मूल गाथामें बताया कि ज्ञानका भी दोनों स्थानोंपर फर्क नहीं रहा। विषयका तो फर्क तो यों नहीं है कि केवलीने भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावमय केवल आत्माका संचेतन किया और श्रुतकेवली अथवा सम्यग्दृष्टिने भी अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावमय केवल आत्माका ही सचेतन किया। इसलिये तैंतीसवीं मूल गाथामें बताया कि दोनों स्थानोंपर विषयका फर्क नहीं है। जो भगवान करते हैं वह तुम अब भी कर रहे हो, जो तुम करते हो वही भगवान भी करते हैं। फिर जगतमें मुझे यह काम करना है, मेरे लिये बहुतसी झंझटें पड़ी हुई हैं, ऐसी इच्छा अथवा इनका क्षोभ

करनेसे क्या फायदा ? इस तरह जीव आत्माको जाननेके अतिरिक्त और कुछ करनेमें समर्थ नहीं है। केवली और तुम दोनों एक ही चीज तो कर रहे हो। इस तरह सम्यग्दृष्टि और केवलीमें अविशेषता दिखलाई।

आपने प्रवचनसारके द्वारा ज्ञान जाना। तो साधन यहां प्रवचनसार हुआ और काम ज्ञप्तिका हुआ। प्रवचनसार तो परपदार्थ है। यदि स्याहीके अक्षरोंको लें कि इनसे ज्ञान हुआ तो ये अन्य पदार्थ हैं, और यदि शब्द भी लें, जो बोले और सुने जाते हैं, तो शब्द भी अन्य पदार्थ हैं। तो ये सब तो मात्र उपाधि ही रहे जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान। ज्ञानरूपसे देखो। प्रवचनसार तो उपाधि था, उसका तो आदर नहीं, अब केवलज्ञान ही शेष रहा, ज्ञप्ति ही शेष रही, वह ज्ञान अथवा ज्ञप्ति ही जाननेका काम करती रही, प्रवचनसार जाननेका काम नहीं कर रहा। प्रवचनसार तो उपाधिमात्र है। शुद्ध ज्ञान ही काम कर रहा है, वहां दूसरी उपाधियां काम नहीं करती। किन्तु ज्ञान ही काम करता है। ऐसा वह ज्ञान उपाधिसे भी रहित है। इसलिये ज्ञानमें श्रुतकी उपाधिका भी भेद नहीं होता।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानकी अविशेषताका समर्थन—ज्ञानकी अविशेषताके समर्थनमें कल दृष्टान्त दिया था, यह आधा ही रह गया था। सफेद प्रकाश, हरा प्रकाश, नीला प्रकाश, लाल प्रकाश आदि कहते हो। यहाँ विवेकसे सोचो तो प्रकाश हरा, नीला आदि तो नहीं है और जो हरा नीला आदि है वह प्रकाश नहीं है। हरा, नीला, सफेद वगैरह ये पुद्गल द्रव्यके रूप गुणोंकी पर्याय है। प्रकाश किस गुणकी पर्याय है ? प्रकाश वस्तुके रूप गुणकी पर्याय नहीं है। किन्तु इसको बतलाया कि यह पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। प्रकाश पुद्गलकी पर्याय है, पुद्गल द्रव्यके रूप गुणकी पर्याय नहीं किन्तु स्वयं पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। हरा, नीला आदि प्रकाश नहीं और प्रकाश हरा नीला आदि नहीं है। प्रकाशका तो और ही स्वरूप है, जैसे प्रतिभास, चमक आदि। हरी तो उसमें उपाधि लग गई। वह चमक, वह प्रकाश, जैसे चर्म चक्षुसे दीखने वाला हरा प्रकाश दीखता है, उसमें वह हरी उपाधि रहित है। उसी तरह से यह ज्ञान मति श्रुत उपाधियोंसे रहित होता, इसलिये कहा है कि ज्ञान उपाधियोंसे रहित है और वह एक मात्र ज्ञप्ति है। केवलीने भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना और सम्यग्दृष्टिने भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। उसमें श्रुतकी उपाधिका भी भेद नहीं है। वहाँ साक्षात् कार्य हो रहा है। जिस समयकी स्थितिकी बात बतला रहे वहाँ उपाधि उपयोगमें नहीं लगानी चाहिए। यदि उपाधिको इस उपयोगमें देखते रहे तो सम्यक्त्व अनुभवकी बात नहीं आती। इस प्रकार सिद्ध किया कि केवलीका और हमारा, दोनोंका अंतरविषय भी एक और साधन भी एक है।

ज्ञानका ज्ञप्तिमात्र कार्य—सम्यग्दृष्टि जनों, तुम्हारेमें गरीबी किस बातकी है ? आचार्य

बतला रहे कि तुममें कल्पनाकी गरीबी हो गई, और जो तुम करते हो सो जिसके द्वारा वे करते, उसीके द्वारा तुम भी करते। मात्र चारित्र मोहका उदय है। जिससे इसमें स्थिरता नहीं हो पाती, तो और रागी द्वेषी कई कषायों वाला हो करके अपने अन्तरङ्गसे दृढ़ताको देते हैं। इसीसे यह भेद किया कि स्वयंका कार्यका, विषयका प्रश्न जहाँ तक है, वहाँ तक यह बताया कि श्रुतकेवली और केवलीमें कोई विशेषता नहीं है। जैसे कहा यह घटज्ञान है। घटज्ञानके द्वारा इसने घड़ेको जाना। घटज्ञान जो यहाँ हुआ तो क्या इस ज्ञानमें घटकी उपाधि मिली हुई है ? घटज्ञान जैसा जो ज्ञेय ग्रहण, क्या इस ज्ञेयग्रहणरूप अन्तरंग उपाधि भी ज्ञान में मिली है ? वहाँ भी घट इस उपाधिको दूर करके, (घट ज्ञेय इस उपाधिको दूर करते तो शेष रहा ज्ञान) इस ज्ञानके द्वारा वह घटको जानता है। घट तो उपाधि होनेके कारण ज्ञानसे अलग है। इसी तरह श्रुत आदि ज्ञानकी उपाधि होनेके कारण ज्ञानसे अलग है। इतने पदार्थों का ज्ञान करते हुए भी पदार्थका यह उपाधि ज्ञानके लग गई तो ज्ञान केवल ज्ञप्तिरूप नहीं हुआ। ज्ञान तो केवल ज्ञप्तिरूप ही है, जानना इतना ही मात्र है। इन्द्रियज्ञान आदि ज्ञान नहीं है। चक्षुसे उत्पन्न हुआ ज्ञान, यह निश्चयतः अयथार्थ बात है। चक्षुसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। चक्षु जड़ है, पुद्गल है, पुद्गल द्रव्यसे ज्ञान नहीं होता। उस जाननेके कालमें चूंकि यह ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है उस समय वह उपाधिको नहीं रखता, केवल अपने-अपने काममें पूरा लगाना है। जैसे बारूदका गोला आग लगती है तो फट जाता है, आग लग गई, इसलिए अब तो फटनेमें स्वतंत्र है और पूरी शक्तिसे फट जाता है, और अपना काम कर जाता है। जब काम का समय है, जिस समयमें जानना हो रहा है उस जाननेके स्वरूपको देखो तो वह स्वतंत्रता उपाधिकी अपेक्षा नहीं रखकर हो रहा है।

वस्तुपरिणमनकी उपाधिसे अनुद्भव—भैया ! बाह्य चीजके देखनेसे ज्ञानमें अन्तर मालूम देता है। केवल उस ज्ञानके स्वभावपर दृष्टिपात करो तो ज्ञानसे स्वतंत्ररूपसे जाना वहाँ उपाधि नहीं लगती है। ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है। उपाधि तो बाह्यपदार्थ रख के है। ज्ञानके स्वरूपमें बाह्य पदार्थ नहीं है। ज्ञानके द्वारा जैसे केवली आत्माको जानते, वैसे ही ज्ञानके द्वारा श्रुतकेवली भी आत्माको जानता। इसलिए ज्ञानमें श्रुत आदि उपाधिका भी नहीं होता। एक दृष्टांत और लीजिये। सूर्यका काम प्रकाश करना है और वह प्रकाश करता ही है। यदि मेघ पटल नीचे आ गये उसी समयसे अंधेरा हो गया। कुछ मेघ पलट नीचेसे दूर हुए तो २०–३० मीलपर प्रकाश हो गया। वह भी प्रकाश हुआ तो दुनियाको तो ऐसा मालूम होता कि मेघ फटनेकी वजहसे यह प्रकाश इस उपाधिसे फैला है। विन्तु प्रकाश-प्रकाशके स्वरूपसे प्रकाशको देखो तो मालूम होता कि मेघपटलके हटनेसे वह नहीं हुआ है। वह तो प्रकाशकी प्रकाश वृत्तिसे स्वयं स्वतंत्रतया विकसित होता है। इसी तरह ज्ञानका स्व-

भाग समस्त लोकालोकके जानने मात्रसे है। कर्म पटल आये, जिसकी वजहसे ज्ञानका आवरण होता, अब जितना आवरण हटा उतना ही जीवके मतिज्ञान श्रुतज्ञानका आत्माके व्यपदेश हुआ। ज्ञान एक ही था। ज्ञानका काम केवल जानना ही था। वह केवल प्रकाशक ही था। कहीं ऐसा नहीं होता कि श्रुतज्ञानसे जाना या मतिज्ञानसे जाना, तो उसके जाननेकी शैली केवलीके या केवलज्ञानसे जाना तो उससे जाननेकी शैली परोक्षज्ञानीके समान है। ज्ञान का तो जानना ही काम है, चाहे यहाँ जानो चाहे वहाँ जानो। केवल जानना ही तो है। वहाँ मति श्रुतिज्ञानका व्यपदेश है तो रहो। ज्ञानकी तरंग या विकासका प्रकाश या जानन ही तो काम होता। वहां उपाधि नहीं लगती। ज्ञानका उदय उपाधिसे रहित है। ज्ञानका काम जाननमात्र है। ज्ञान ज्ञायक है। जिसका ज्ञान ज्ञायक है, जिसका काम ज्ञान होता उसमें पर के कारणसे हम विशेषता लगादें, परन्तु ज्ञानका काम तो जानना मात्र है।

ज्ञप्तिक्रियाका एक ढंग—जैसे १० आदमी यात्राको जा रहे हैं। किसीके अच्छे पैर हैं तो वह जल्दी जल्दी चल रहा और कोई बालक है तो धीरे-धीरे चलता, किसीके पैरमें चोट लगी तो वह लकड़ीके सहारे चलता परन्तु चलना तो एकसा हो हो रहा। उस तीर्थके लिए ही तो सब जा रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा है कि कोई घूम कर जा रहा है या किसीने पूर्वकी बजाय पश्चिमकी ओर मुंह घुमाया। जितने भी लोग जा रहे हैं सबका कैसा काम चल रहा है और पैरोंके द्वारा हो रहा है, इसी तरहसे ज्ञानका भी एकसा काम चल रहा है। उसमें उपाधिका भेद नहीं है फिर बाह्य द्रव्योंसे उसमें उपाधिका भेद हो रहा है। ज्ञान आत्माका ही होता। आत्माका ही गुणरूप पर्यायज्ञान है, जिस ज्ञानमें सूत्र या श्रुत विषय पड़ा उसको अशुद्ध ढंगसे कह देते, उस उस सूत्रका ज्ञान, उसे कह देते कि सूत्रज्ञान या श्रुतज्ञान, सो यह भी ज्ञान है और हमारी आत्मामें जो ज्ञान पैदा हो जाता है वह भी ज्ञान है। प्रवचनसारके द्वारा जो ज्ञान हुआ वह प्रवचनसारका तो ज्ञान उपचारसे कहा जायगा। इसी तरह श्रुत उपचारसे है। वास्तवमें तो जिस आत्मामें वह ज्ञान प्रगट होता, वह ज्ञान ही श्रुत है। श्रुतज्ञानकी पूजा करो, ऐसा कहनेपर लोगोंके एकदम बुद्धि श्रुतमें पहुंचती। परन्तु यह सूत्र अथवा श्रुत तो श्रुतज्ञान उपचारसे है। श्रुत कारण होनेसे ज्ञानरूपसे उपचार किया गया। श्रुतकी जो ज्ञप्ति है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। वहां श्रुत तो उपाधि है। वहां तो एक ज्ञप्ति ही रह जाती कि जानना मात्र। वह जानना मात्र उपाधिरहित है उसकी पूजाके लिये कहा गया।

कार्यमें निमित्तका अकार्य—लोग कहते हैं कि यह आँखसे जानने वाला ज्ञान है, परन्तु ज्ञानके बर्तनेमें आँख निमित्तकी आवश्यकता नहीं। उत्पत्तिकालमें ज्ञानको इन्द्रियोंकी अपेक्षा हुई। परन्तु जब अपेक्षा हुई तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं है और जब ज्ञान है उस समय

में अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती। जब उसका प्रयत्न चल रहा है उस समयमें ज्ञान उत्पन्न ही नहीं रहता है, जिस समयमें ज्ञान है उस समयमें इन्द्रियोंकी उत्पत्तिकी भी अपेक्षा नहीं होती। जिस समयमें इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञानके उत्पन्न होनेका प्रयत्न हो रहा है उस समयमें वह ज्ञान नहीं हो रहा है जिसके द्वारा हम जाने, तो ज्ञानके सम्बन्धमें तो वह ज्ञान स्वतंत्र है। हमारे वह श्रुतज्ञान और मतिज्ञानके सम्बन्धमें ज्ञान स्वतंत्र है। कितनी स्वतन्त्रता इस ज्ञानमें है ? हम उस ज्ञानके पूर्वकाल आगामीकाल व इस कालकी सत्ता विशेषता स्वीकार न करके ऐसा कह देते हैं कि ज्ञान इन्द्रियोंके आधीन है। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ज्ञान है, परन्तु जिस सययमें इनकी मदद है उस समयमें विवक्षित ज्ञान है भी नहीं। छत बिना सीढ़ीकी है। सीड़ीकी मदद है जब तो छत भी नहीं मिलेगी।

निमित्तके अभावसे स्वकार्यकी प्रचुरता—प्रायः दुनियामें ऐसी निमित्त चीजें बहुत मिलेंगी, जिनके अभावसे कार्य मिलेंगे जिनके निमित्तका नाश ही निमित्त है ऐसी बहुत चीजें मिलेंगी। निमित्तकी उपस्थिति ही निमित्त नहीं है। हमारे सुख दुःखमें भी वही बात है। कर्मनिमित्तका नाश हमारे सुख दुःखका कारण होता। देखो भैया ! दुःख भी कर्मके नाशसे होता है तब कहो कि हे कर्म निमित्त तुम बने रहो, इसमेंसे कम नहीं होओ। हे कर्म यदि तुम्हारा नाश नहीं होय तो हम सिद्धकी तरह सुखी हो जायें। हे कर्म, तुम रंच भी मिटो मत, फूलो फलो, दूध नाहो, ऐसे कर्म तुम बने रहो तो भी हम सिद्धकी तरह सुखी हो जायेंगे नष्ट मत होओ। नष्ट होते हो तो हम दुःखी हैं क्योंकि उदय (नाश)में ही दुःख है। सो भैया ! यह बात आदरणीय नहीं क्योंकि कर्मके उदयरूपसे नाश होना दुःखका निमित्त है। इसमें तो उदयका तांता रहेगा। सर्वथा नाश तो आत्मीय सुखका कारण होगा। इस तरह कितने ही काम ऐसे होते कि निमित्तका सम्बन्ध छूटने पर वे पैदा होते। क्षण क्षणके ये जो ज्ञान पदार्थोंके हो रहे हैं ये भी प्रकाश आदि सारी बातोंकी अपेक्षा छोड़कर ही होते हैं। जो ज्ञान की तरंग चली है, जब ज्ञान पैदा हो गया, तब राजा हो गया, तब उसे किसीकी अपेक्षाकी जरूरत नहीं रही, ऐसा वह ज्ञान स्वतन्त्र है। इस ज्ञानमें उपाधिका फर्क नहीं रहा। तब फिर जगतको जाननेकी इच्छा अथवा इच्छाका क्षोभ व्यर्थ है। इसी बातको दोनों गाथाओंमें सिद्ध किया। यह जीव अखंड ज्ञानस्वभावी है, इसलिये अपने स्वरूपमें निश्चल रहो, कुछ बाहरी उपयोग मत करो। बाहर और कोई चीज मत देखो। यहां ज्ञानका प्रकरण चल रहा है करीब २० गाथाओंमें अब भी चलेगा, करीब २० गाथाओंसे यह चल भी रहा है। इसी तरह आनन्दका प्रकरण आयेगा तो उसमें भी इसी तरहकी निज आनन्दकी बात आयगी, अभी ज्ञान की बात चल रही है।

कर्ता करण आधारका अभेदकथन—इस प्रकार ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता

है—यह सिद्ध करके अब ज्ञानके आधारकी ओर आते हैं। ज्ञानका आधार है आत्मा। यह आत्मा ज्ञानसे अभिन्न है। कहीं ऐसा नहीं है कि ज्ञान भिन्न हो व आत्मा भिन्न हो। तब ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता है। इसका वाक्यान्तर यह भी हो सकता है कि आत्मा आत्माके द्वारा आत्माको जानता है परन्तु यहाँ विचार करिये कि आत्मा तो अनन्तगुणोंका पिण्ड है। वह मात्र जानता ही तो नहीं है, जैसे जानन परिणमन करता वैसे अन्य भी अनन्त परिणमन करता है। जितने परिणमन यह आत्मा करता है आत्मामें उतनी ही शक्तियाँ हैं तो आत्मा जानता है तो ज्ञानशक्तिसे, आत्मा देखता है तो दर्शनशक्तिसे, आत्मा सुखी होता है तो सुख-शक्तिसे, यहां जाननेका प्रकरण है आत्मा जानता है तो किससे जानता है? ज्ञानशक्तिसे जानता है। यहाँ कर्ता आत्मा हुआ, ज्ञान हुआ करण, क्रिया "जानता" है हुई। अब कर्ता करणके सम्बन्धमें यह विचार करते हैं कि कर्ता करण अभिन्न ही है, यहां आत्मा और ज्ञानमें कर्तापन और करणपनेका भेद खतम करते हैं।

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

जो जानता है वह ज्ञान होता है। यहाँ आत्माको कहीं ज्ञानके कारण ज्ञायक नहीं समझना अर्थात् किसी भिन्न ज्ञानद्वारा आत्मा ज्ञायक नहीं है, आत्मा स्वभावसे ही ज्ञायक है, ज्ञान भी स्वभाव है, ज्ञान स्वयं परिणमता है तब वहां विषय भावकी अपेक्षासे देखो तो सब अर्थ ज्ञानमें स्थित है। सभी विवेचनोंकी दृष्टिरूप नय अवश्य समझना।

ज्ञानमें परके हानोपादानका अभाव—पहले तो यह बतलाया था कि ज्ञानी परपदार्थों को न तो ग्रहण ही करते और न छोड़ते हैं। सम्यग्दृष्टि, मैं भी ज्ञाता हूं, इसलिये न परपदार्थ को ग्रहण करता और न छोड़ता। केवली वह भी सम्पूर्ण ज्ञानी है, इसलिये वह भी पदार्थको न ग्रहण करता और न छोड़ता ही है। परपदार्थको मैं कुछ भी नहीं करता। अपनी आत्मा में रहने वाले गुणोंके द्वारा परका कुछ नहीं करता, अपना ही करता, केवलज्ञानी अपने केवल-ज्ञानके द्वारा अपने आपको जानता है, परको तन्मयतासे नहीं जानता। उपचारको दृष्टि बहि-र्दृष्टि है। वस्तुतः वह न परको ग्रहण करता है और न छोड़ता ही है। इसी तरहसे तो मैं भी हुआ। मैं भी तो अपने श्रुतज्ञानके द्वारा अपने आपको जानता ही तो हूं। इसके अतिरिक्त पर का कुछ प्रयोग नहीं करता। फिर इस निश्चयकी क्रियाकी दृष्टिसे केवली और श्रुतकेवलीमें कोई भेद नहीं रहा।

ज्ञानमें उपाधिका अभाव—इसके बाद यह बतलाया कि केवली केवलज्ञानके द्वारा जानता और श्रुतकेवली श्रुतज्ञानके द्वारा जानता, ऐसे आत्मामें और कौनसे गुण आ गए, कौन सी बातें आ गईं कि जिसमें एक श्रुतज्ञान भी रखा है? निश्चयसे वह तो ज्ञान ही है। केवली

भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता और श्रुतकेवली भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। दोनों ज्ञानके द्वारा अपने आपको जानते हैं। वहाँ ज्ञानके उपाधि नहीं लगती। यह आत्मा ज्ञानके द्वारा अपने आपको जानता है। इतना ही यह जीव जगतमें काम कर रहा है और कुछ भी नहीं कर रहा है।

आत्माकी ज्ञानस्वभावमयता—आज बतला रहे कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता, यह बात भी सुहावनी नहीं लगती। वह आत्मा और ज्ञान क्या अलग-अलग है, जिसके द्वारा आतमाको ज्ञान जानता। क्या वह ज्ञान आत्मासे जुदा है, क्या ज्ञान आत्मासे अलग चीज है, जिसके द्वारा वह आत्माको जानता है? नहीं, आत्मा और ज्ञान बिल्कुल अभिन्न है। तो फिर यह क्यों कहते कि ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता? कहो कि ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय निज को जानता है। वह ज्ञान ज्ञानको ही जानता है, ज्ञान और आत्मामें कर्ता और करणका भेद मत लाओ। फिर ज्ञान जानता है, ज्ञान है और जानता है या तो ज्ञान इतना ही कहो या जानता इतना ही कहो। वहां ज्ञान और जानता दोनों शब्द नहीं सहन हो सकते। ज्ञान जानता है, ऐसा कहनेमें भी एक कर्ता है और उसने कोई काम किया ऐसा भेद हो गया। वहाँ ज्ञान तत्त्व लक्ष्यमें नहीं रहा। ज्ञान ज्ञानके द्वारा जानता, यहाँ ज्ञानकी स्वाभाविकता ज्ञात नहीं हुई। ज्ञानका निज तत्त्वरूपमें भेद नहीं होता, कर्ता और करणका भी भेद मत डालो।

स्वकार्यमें कर्ता करणकी अभिन्नता—पहले तो केवली और श्रुतकेवलीका विषय एक बताया, फिर साधनको एक बताया, फिर यह कहते कि कर्ता और साधन अलग-अलग चीज नहीं हैं, वे एक ही चीज हैं अर्थात् अपनी तरङ्गसे वर्तमान अर्थात् ज्ञप्तिक्रियामें निरन्तर प्रवृत्त ज्ञान वह वह ही है, वहाँ ऐसा भेद मत करो कि ज्ञान ज्ञानद्वारा आत्माको जानता है, वह तो केवल जाननरूप है। जैसे अग्नि अपनी गर्मीके द्वारा ईंधनको जलाती है, ऐसा कहते—इस बात को निश्चयनयसे देखना है कि क्या यह बात नहीं है? तो पहली बात तो यह कि ईंधन क्या? जो जल नहीं रहा है वह या जो जल रहा है यह आग है। पहले तो हमारी यही बात खंडित हो गई कि आग गर्मीके द्वारा ईंधनको जलाती। आग गर्मीके द्वारा ईंधनको जला ही नहीं सकती। आग गर्मीके द्वारा तो केवल अपने आपको ही जलाती है। जिस समयमें जलने लगता और वह भी गर्मी रूप हो जाता, उस समयमें वह ईंधन नहीं कहलाता। निश्चयनय से ऐसा कह रहे हैं। इसलिये पहले तो विषयका खंडन किया कि अग्नि गर्मीके द्वारा ईंधनको नहीं जलाती, किन्तु अपने आपको जलाती है। वह तो खुद जलती और राख हो जाती। यहां भी जो राख है वह आग नहीं थी, आगका आश्रयमात्र था, राख हो जानेपर भी वह अग्नि नहीं रही। तो क्या बात ठीक रही कि अग्नि गर्मीके द्वारा अपने आपको जलाती है। फिर कहते कि अग्नि अपनी गर्मीके द्वारा अपने आपको जलाती, तो यहाँ अग्नि और गर्मीका यह

भेद सहन नहीं हो सकता। वह अग्नि अलग क्या चीज है जो अपनी अलग गर्मीके द्वारा जलती है ? अग्नि तो स्वयं गर्मीमय है। अग्नि अपने अभिन्न स्वभावसे जल रही है, जला किसीको नहीं रही, वह तो अपने ही स्वभावसे जल रही है, यहाँ तक बात आई। इस तरह साधन भी मिट गया।

पदार्थमें क्रियाका अभेद—अग्नि जल रही है, इस कथनमें भी ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई बैठा हुआ आदमी उठ रहा है। अग्नि पहले तो नहीं जल रही थी, परन्तु अब जल रही है। पहले तो समाधिमें थी और अब जलनेकी क्रिया कर रही है, सो ऐसी बात नहीं। अग्नि तो वही है जो अग्निके जन्मकालसे ही उसमें जलनेकी क्रिया चल रही है। इसलिये 'अग्नि' इतना ही कहो, इसी तरह केवली ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है, इसका सूक्ष्म रूप आ आकरके इतना ही रूप रह गया 'ज्ञान'। केवलीने ज्ञानको अविशेष बना करके अपने आपको ज्ञानमय अनुभव किया। यह निश्चयदृष्टिसे वर्णन है। यदि हम अपनी निश्चयदृष्टिको छोड़ते और व्यवहार दृष्टिपर आते हैं तो अनेक आकुलताएं पैदा हो जाती हैं। इसलिये अपने को ऐसा कौतूहली बनाना चाहिये और ऐसी लीला वाला होना चाहिये कि हर लक्षणोंमें निश्चयतत्त्वको खोजें। निश्चयकी दृष्टिसे देखो कि वस्तुका कैसा स्वरूप है ? निश्चयसे जो स्वरूप समझमें आयेगा वह निर्विकल्प शांतिका आधार होगा और जो व्यवहारदृष्टिसे स्वरूपको देखता है तो वह विकल्प, उलझन और भिन्न-भिन्नरूपसे अपनेको देखेगा। ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता है, जानता नहीं है कहते तो अभेदसे, अभेद क्रिया कह दो कि ज्ञप्तिरूप होता है। ज्ञान, ज्ञानका काम जो भी है सो ही कर रहा है। निश्चयसे जानना क्या है, वह तो तरंग है, एक द्रव्य है और द्रव्यकी तरंग है। जितने दुनियामें अनन्त द्रव्य हैं सभी इसी तरह से हैं, याने द्रव्य हैं और उनके तरंग हैं।

परविविक्तता—समयसारमें लिखा हुआ है कि जगतके अन्दर जितने द्रव्य हैं, अनन्त द्रव्य हैं, सबके सब द्रव्य अन्दर रहने वाले गुणोंका चुम्बन करते हैं और उन्हींमें तन्मय रहते हैं, परपदार्थके किसी भी गुणको छूते नहीं, सबके सब आपमें ही प्रयत्नशील हो रहे हैं। जगत के जितने जीव हैं सब अपने-अपने उपादानसे परिणमित हो रहे हैं। यह वस्तुका निजस्वभाव है। जगतमें द्रव्योंकी व्यवस्था इससे भिन्न नहीं हो सकती, किसी द्रव्यरूपसे कोई द्रव्य नहीं परिणम सकता। अपने प्रदेशमें सारे गुणोंके परिणमनके अतिरिक्त और कुछ परिणमन कर ही नहीं सकता। यहाँ सब अपने-अपने विकल्पोंके स्वामी बनते हैं, कोई किसी पदार्थके स्वामी नहीं होते। हमारे और आपके विनाशका कारण बाह्य पदार्थोंमें परिणति रखना है। हम अपने आपको मोहवश बाह्य पदार्थोंके कर्ता मानते, विकल्पमें ऐसा मानते हैं कि परपदार्थका जो कर्म है उसको विकल्पमें मानते कि मैं सबको करता, परन्तु वास्तवमें तो वह अपने आपमें

जानन गुण रहता है उसीको करता है। पर्याय दो होती हैं, स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। मनुष्य परका क्या कर सकता है।

परका त्रिकाल अकर्तृत्व—निश्चयका प्रकरण चल रहा है। गाँधीजी ने इतना देश को उठाया, पर निश्चयसे किया क्या ? निश्चयसे यही किया कि अपने आपमें जितनी दया पैदा हुई उसकी ही तो चेष्टा की। वस्तुको उसके स्वतन्त्र रूपसे देखो। उस वस्तुको स्वातन्त्र्य रूपसे देखकर यह बतलाया कि द्रव्य अपने आपको ही कर सकता है, पर पदार्थका कुछ भी नहीं कर सकता। केवली भी अपने आपको ही कर रहे। उनमें अनन्त शक्ति है, परन्तु फिर भी खुद ही को उस अनन्त शक्तिसे किया कि वे अपने स्वभावसे च्युत नहीं होते। वे अपने आपमें ही ज्ञानका परिणमन कर रहे हैं उसके अलावा और कुछ नहीं कर रहे हैं। केवलीके बारेमें हम यदि आलोचना कर रहे हैं तो केवली उसे जान तो रहे हैं। फिर भी वे मेरा कुछ नहीं कर रहे हैं। परन्तु इस ज्ञानसे मैं केवलीके स्वभावका वर्णन कर रहा हूं और यह उनकी उत्कृष्टता बतला रहा हूं परमें तो कोई कुछ करता नहीं है किन्तु जो विकल्प भी छोड़ देता वह ऐसा महान् बन जाता। देखो केवलीका कितना स्वातन्त्र्यमय द्रव्य है कि अपने आपमें ही परिणम रहा और अपने आपके अतिरिक्त बाहरमें किसीमें भी नहीं परिणम रहा। उन्होंने जाननेका जो विषय है उसे ही जाना। हमने भी ऐसा ही किया, परन्तु मोहसे कहा जाता कि मैंने परको जाना। निश्चयसे तो कोई परको जानते ही नहीं। केवली भी परको नहीं जानते, वे तो केवल ज्ञानको ही जानते। हम भी केवल ज्ञानको ही जानते।

परमार्थतः स्वका स्वमें प्रयोग—जैसे हरे रंगको चौकी पर पोत दिया। हरे रंगने किसको हरा किया हम यह समझते कि उसने चौकीको हरा किया, परन्तु निश्चयसे हरे रंग ने चौकीको हरा नहीं किया, हरे रंगने तो अपने हरेको ही हरा किया। हरे रंगके भीतर भी चौकी उसी रूपसे रही। इसी तरह प्रत्येक ज्ञानीने अपने ज्ञानके द्वारा अपने आपको जाना, परको नहीं जाना अपने आपको जाननेकी तरंग जो है। ज्ञान ऐसी स्वच्छताको लिये हुए है कि उसका विषयभूत पर पदार्थ ज्ञेय कहलाते इसलिए कहा जाता कि हमने ज्ञेयको जाना। कहते घड़ीको जाना। परन्तु ज्ञान उसका नहीं है। ज्ञानकी तरंग ज्यादासे ज्यादा क्या कर सकेगी ? जिसकी तरंग है अथवा जिस द्रव्यकी तरंग है उसको कर सकेगी ज्यादासे ज्यादा। इससे बाहरको क्या कर सकेगी। द्रव्यकी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हुआ करती। ज्ञानकी तरंग घड़ीको कहाँ टच कर गई। उस आकारक जो समझ है उस समझसे तुम यह कहते कि मैंने घड़ीको देखा। परन्तु मैंने तो केवल अपने आपको ही जाना। भगवान जो सारे विश्वको जानते हैं वे सारे विश्वके कारण विश्वको नहीं जानते किन्तु वे उनके निज स्वच्छ स्वरूप प्रकार हीं ऐसे हैं कि सारे विश्वके विषयोंको जान जाते। किन्तु वह ज्ञान किसीको जानता है ऐसी बात नहीं। जानता है, के क्या मायने ? जैसे चौकीको हरे रंगने रंगित कर दिया

तो हरे रंगने केवल अपने आपको हीं तो रंगित किया। इसी तरह ज्ञानने जो जानन किया वह अपने आपका ही तो जानन किया। उसके विषयभूत जो पर पदार्थ हैं उनके कारण उपचारसे कह रहे कि परपदार्थको जान रहा।

निश्चयसे कारकोंकी अभिन्नता—निश्चयसे वह ज्ञान तो ज्ञान रूप हीं रहता निश्चय से वह पर पदार्थको नहीं जानता। निश्चयसे कर्ता,.कर्म करण आदि कारक वहीं हुआ करते उससे भिन्न नहीं हुआ करते। तो ज्ञान जिससे जानता वह भी वही, जिसके लिये जानता वह भी वही, जिसमें जानता वह भी वही और वह ज्ञान स्वयं भी वही। कारक क्या कहलाते ? जैसे कुम्हारने दंड चक्रके द्वारा अपनी कुटीमें पैसे उत्पन्न करनेके लिये लौंदेसे घड़े बनाये। तो इसमें छहों कारक न्यारे-न्यारे हैं कुम्हारने लौंदेसे घड़ोंको कुटीमें, पैसोंके लिये, चक्रके द्वारा बनाए, ये सब कारक अलग अलग है। ये वृक्ष अपनी शाखाओंमें अपने फूलोंसे अपने भारके लिये फल रहा है, ऐसा कहा तो सारी की सारी चीज वृक्षकी ही आई। ये ६ कारक जैसे अभिन्न होते हैं वैसे भिन्न भी होते हैं। निश्चयसे छहों कारक अभिन्न होते और व्यवहारसे छहों कारक भिन्न होते। इस तरहसे ज्ञान खुद प्रकाश रूप होता खुदको ही जानता, खुदके लिये ही जानता, खुदसे ही जानता, और खुदमें ही जानता। ज्ञानीके सभी गुणोंका प्रयोग निश्चयसे स्वयंपर ही होता है। बाह्य पदार्थोंपर नहीं हो सकता। वह केवल खुद ही को तो जानता है खुद ही दुखी सुखी होता है दूसरेको सुखी दुःखी क्या कर रहा है। मैं खुद ही विकल्पक बनता हूं। परपदार्थ पैसे धन आदिको मैं क्या पैदा कर सकता हूं। वे तो सब स्वतन्त्र हैं। उनको मैं क्या कर सकता हूं ? दुनियाँमें कोई निमित्त अपनी परिणति से किसी द्रव्यको परिणमा नहीं देता। आत्मा और ज्ञानमें करता और करणका भेद नहीं। यहाँ कर्ता और करणका भेद भी दूर करते।

ज्ञानकी स्वसंवेद्यता—जो जानता है सो ज्ञान है ऐसा नहीं है कि वह आत्मा किसी भिन्न ज्ञानके द्वारा जानने वाला बनता हो। कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि एक ज्ञान जानता है तो उस ज्ञानको जाननेके लिये दूसरा ज्ञान पैदा करना होता है जिस तरह हम पहले यह न जान जाय कि कदाचित् यह घड़ा है ज्ञानके द्वारा घड़ेको जाना, परन्तु "घड़ेको जाना" यह ज्ञान सही है या नहीं ? उस ज्ञानको सही करनेके लिये दूसरे ज्ञानको पैदा किया जाय और फिर दूसरे ज्ञानकी बात भी सही करनेके लिए तीसरे ज्ञानको पैदा किया जाय और फिर तीसरे ज्ञानकी भी बात सही करनेके लिये चौथे ज्ञानको पैदा किया जाय और इस तरह तो दुनियामें ज्ञानोंके ढेर लग जायेंगे और पहले ज्ञानको सही करनेके लिये दूसरे ज्ञान उत्पन्न करते सारी जिन्दगी लगा दो तो जगतके तो अन्य कोई काम ही नहीं हो सकते और न उस घड़ेका ही ठीक ठीक ज्ञान समझ सकते। देखो भैया ! कैसे कैसे सिद्धान्त निकल आते कि

यवस्था ही नहीं बन पाती । घड़ा दूर रखा है परन्तु जान लिया कि घड़ा है । घड़ेका ज्ञान ीक नहीं है, फिर भी उपचारसे ठीक है । फिर घड़ेमें ज्ञानको सही बनाना चाहिए सही नाना तो एक ही दफामें हो गया । दूसरे ज्ञानको पैदा करनेकी आवश्यकता नहीं है । दशायें ो होती है अभ्यस्त दशा और अनभ्यस्त दशा । अनभ्यस्त दशामें ज्ञानको सही करनेके लिए ूसरा ज्ञान लाते है पर उसीमें ही सारा काम पूरा हो जाता है । अभ्यस्तज्ञानको जान लेनेके लिए फिर ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती । जैसे कि हम कहीं जा रहे हैं, रास्तेमें हमने सोचा कि वहाँ कुआ है । कोई कहता कि वहाँ कुआ बुआ कुछ नहीं तुम्हें भ्रम हो गया है तो इस ज्ञानको सही बनानेके वास्ते अनुमान ज्ञान प्रयोगमें लाना पड़ता है निर्बलको सबल ज्ञान बनानेके लिए । वह परिचित अभ्यस्त है तो उसके लिए अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं । यदि ऐसा ही माने कोई कि प्रत्येक ज्ञान ऐसा ही है कि खुदको तहीं जानता, पर दूसरे ज्ञान के द्वारा जाननेमें आता । तो एकके बाद एक ज्ञानसे जाननेके लिए वह अपनी जिन्दगी इसी काममें निकाल देगा । इसमें तो यह मन्तव्य निकाल बैठेगा कि ज्ञानमें स्वयं जड़पनेका स्वभाव है तभी वह किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाननेमें आता । कभी ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह ज्ञान ही सही नहीं है तो उस ज्ञानके भ्रमको मिटानेके लिए एक ज्ञान और खड़ा करना पड़ता उसी ज्ञानकी सचाई सिद्ध करनेके लिए हम एक ज्ञान और प्रगट कर रहे हैं । परन्तु वह ज्ञान स्वयं जड़ है, अपने आपको नहीं जानता ऐसी मान्यता आ जाना मिथ्या है ।

अभिन्नसाधनता—आत्मा कर्ता है और ज्ञान करण है, आत्मा और आन अलग प्रलग चीज नहीं है । आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता परंतु वे अभिन्न हैं । जानना आत्माकी तरंग है, प्रकाश हैं, स्वच्छता है, ऐसा नहीं है कि आत्मा किसी भिन्न ज्ञानके द्वारा जानने वाला कहला रहा है । ज्ञान स्वयं ऐसी स्वच्छतासे परिणमता कि जिसमें विश्व विषय बन जाता है । जैसे साक्षात् तो दर्पणको ही देखा जाता पर व्यवहारसे सबके सब जड़ पदार्थ जाने जा रहे हैं । इसी तरह आत्मा निश्चयसे अपने आपको ही जानता है और व्यवहारसे सब पदार्थों को जान रहा है । जानना यही उसका काम है, इससे बाहर कुछ नहीं होता । इसके जानने में ही ऐसी विशेषता है कि सारे विश्व विषय कहलाते उस समय यह कहा जाता कि ज्ञान ने सारे विश्वको जाना । वह ज्ञान आत्मासे अभिन्न वस्तु है । वह सारा ज्ञान आत्मा ही है । आत्मा और उसकी तरंग ऐसी हो रही है । जितने जीव हैं सब स्वयं चैतन्य भगवान् स्वयं ज्ञानवान् सब परमेश्वर सबके अन्दर अनन्तज्ञान स्वभाव मौजूद है, पर कषायोंके कारण अपने ज्ञानको तिरोहित किये रहता है । परन्तु मैं पर पदार्थका कुछ भी नहीं कर सकता हूं । पुण्य, पाप, सुख, दुःख, अमुक आत्माको कर सकता हूं, ऐसे बाह्यदृष्टिके यह सब कथन एक बार भी 'यह भ्रम है, समझ हो जाय और निश्चयसे आत्मा कर क्या सकता है यह

समझ ले तो इसका संसारभ्रमण नष्ट हो जाय और अपने आपको परमेश्वरके रूपमें प्रगट पा सके।

वस्तुस्वातन्त्र्य—जैसे एक अणु पाँच डिगरीके स्निग्धवाला और दूसरा अणु तीन डिगरीके रूक्ष वाला हो दोनोंका मेल हुआ तो दोनों स्निग्ध बन जाते। तो वह ५ अंश वाला परमाणु अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे हैं, दूसरा रूक्ष परमाणु बदलकर स्वयं स्निग्ध अवस्थामें आ गया। वे अन्य स्निग्धकी परिणतिसे स्निग्ध नहीं बने। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता कभी नहीं बन सकता। एक अणु दूसरे अणुको नहीं परिणमा सकता किन्तु दूसरे अणु का प्रभाव ऐसा पड़ा कि उसका संग पाकर स्वयं रूक्ष भाव छोड़कर स्निग्ध भावमें आगया। वह भी मात्र निमित्त हुआ और अपने आप अपनेमें अपने रूपसे परिणम गया। सब जीवोंकी सब द्रव्योंकी सब अणुओंकी यही व्यवस्था है। मोही जीव ऐसा मानता कि इसकी वजहसे ही सब कुछ होता। उसकी वजहसे ही संसारका पालन होता है। इसलिए ही वह दुखी होता है। ज्ञानके अतिरिक्त दुनियाँमें सुखका कर्ता कोई नहीं है। ज्ञान वही है जो वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपको प्रतिभासित करता है। केवलीके तीनों लोकका भी ज्ञान आ गया फिर भी पूर्ण अपने आप रूप हैं परोक्षमें नाना प्रकारसे तीन लोकका भी ज्ञान करो और वहाँ उस ज्ञानमें स्वतन्त्रताका बोध नहीं है तो वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं है जो शांति दे सके। विद्या पढ़ने वालोंके वस्तुस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा नहीं हो तो तभी इस तरह झगड़ा लट्ठबाजी हो जाती। क्या बात है ? जहां वस्तुकी स्वतन्त्रताका बोध है वहाँ ही शान्ति है। वस्तुकी स्वतन्त्रताके बोध के बिना विडम्बना पैदा होती है। स्वातन्त्र्य जाननस्वरूप निश्चलताकी भावना रहती और यही प्रयत्न होता है अपने सम्बन्धमें खूब मनन करो कि मैं अपने जानन अनुभवके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता हूं।

कर्ताकरणकी अभिन्न शक्ति—आत्माकी जो कर्ता और करणकी अभिन्न शक्ति है वही है परमेश्वरता सदैव इस परमेश्वरतासे सहित रहने वाला आत्मा परमेश्वर है। ऐसा परम ऐश्वर्य है कि इसको अपना काम करने के लिये दूसरी वस्तु आवश्यक नहीं होती। वह अपना ही काम करता, खुद ही करता, खुदके लिये करता और खुदमें करता, लोकमें भी कहते कि वह गाँवका जमींदार अथवा गाँवका ईश्वर है। जमींदार वह है जिसे अपनी पूर्तिके अर्थ परकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती जो भी उसकी आवश्यकताएं होती हैं वह अपने खेतसे पैदा करके निकाल लेता है। उसीको लोकमें जमींदार या ईश्वर कहा करते हैं। इसी तरहसे यह आत्मा निश्चयसे अपना काम अपने द्वारा अपने लिये अपनेमें ही करता है, इस आत्माको अपना काम करनेके लिये परपदार्थ की अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। इसलिए आत्मामें परम ऐश्वर्य पाया जाता है। आत्मा अभिन्न है, कर्ता भी है और करण भी है। सब कुछ

शक्ति वह एक ही है। यहाँ भी आत्मा द्रव्य तो एक है और पर्याय की जो तरंगें होती हैं उसीमें छहों कारक लग जाते हैं। इसलिए आत्मा जो खुद जानता है वही ज्ञान है। उसमें कर्ता और करणकी भिन्न प्रसिद्धि नहीं है।

ज्ञानका व्यपदेश—आत्मामें जाननेकी खूबी होनेके कारण आत्मामें ज्ञानका व्यपदेश होता है। आत्माका काम जानन है। आत्मामें जाननेकी क्रिया पाई जाती है। इसलिये ऐसा व्यपदेश करते हैं कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। वह ज्ञान आत्मासे अलग नहीं, परँतु आत्माकी एक जाननेकी क्रिया देखकर यह कहा जाता कि आत्मा ज्ञानसे जानी जाता। आत्मामें जाननेकी क्रिया देखकर यह कहा जाता कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। परन्तु जैसे भिन्न दाँतलीसे द्वैत बांसको काटनेका काम होता है इसी तरह भिन्न आत्माके स्वभावसे ज्ञायक होता है यह बात नहीं है। वह तो स्वयं ही काम करता है। वहाँ ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना यह कथन सहन नहीं हो सकता। आत्मा है जानता है, जाननेकी आत्माकी क्रिया देखकर यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है। अग्निकी जैसे गर्मीकी क्रिया देखकर यह कह दिया जाता कि गर्मीके द्वारा जलाता। उसी तरह आत्मामें स्थित ज्ञानकी जाननेकी क्रिया देखकर यह कह दिया जाता कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। परन्तु आत्मा और ज्ञान जुदा जुदा तो नहीं है यदि ज्ञान अलग चीज मान ली जाय और आत्मा भी अलग चीज मान ली जाय, और आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता यह बात भी मानली जाय, तो आत्मा अलग और ज्ञान अलग है इसलिए आत्माके बिना ज्ञान अचेतन और ज्ञानके बिना आत्मद्रव्य अचेतन, अर्थात् आत्मा तो ज्ञानके बिना अचेतन हो गया और ज्ञान आत्माके बिना अचेतन हो गया परन्तु यदि दोनों अचेतनोंका सम्बन्ध भी कर दिया जाय तो भी कभी जाना ही नहीं जा सकता इसलिए ऐसी बात नहीं कि आत्मा और ज्ञान अलग-अलग चीजें हैं।

कल्पनामें भेदकी नियामकताका अभाव—कभी कभी अपनी बुद्धिके द्वारा यह जीव कल्पनाएं कर लेता परन्तु उस कल्पनासे द्रव्यमें भेद नहीं पड़ता। जैसे कहते हैं कि एक समय में परमाणु १४ राजू गमन कर जाता है, वहाँ भी ऐसा लगता कि उसने एक साथ ही सारे क्षेत्र नहीं छुये और क्रमशः उठ उठकर ही गया होगा तो उसमें कितने ही समयोंके द्वारा हिस्सा हो गया पर वहां ऐसी बात नहीं। समयसे कोई कम काल नहीं होता। जैसे कोई एक घंटेमें १० कोस जाता और कोई एक दिनमें दश कोस जाता। जैसे १० कोस जानेमें घन्टा भी लग गया औरु एक दिन भी लग जाता, इसी तरहसे अन्तर्मुहुर्तमें भी चला जाता और एक समय भी १४ राजू जानेमें लग जाता। इस तरह बुद्धिमें कल्पनाभेद होने पर भी समयके टुकड़े नहीं होते। इसी तरहसे आत्मा और ज्ञानमें भी गुण और गुणीकी कल्पना होने पर भी गुण गुणीके टुकड़े नहीं हो जाते कि आत्मा और ज्ञान अलग अलग हो जाते हों

यदि ये अलग अलग हो जाते तो एक दूसरेके बिना दोनों अचेतन रह जाते और दोनों अचेतनों के संयोग हो जानेपर भी काम नहीं हो सकता। जैसे यदि आत्मा और ज्ञान अलग अलग हों और वह आत्मा ऐसे ही ज्ञानके द्वारा जाना करता हो तो फिर ये घट पट आदि चीजें भी क्यों नहीं जाननेका काम करती। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान आत्मासे जुदी चीज नहीं। इसलिये आत्माको अधिकार है कि वह ज्ञानके द्वारा जाने। घटपट आदि इसलिये नहीं जानते कि वे ज्ञानसे आत्मासे जुदा है। ज्ञान इस तरहसे आत्मासे अलग नहीं है, तब आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है यह भेद बिल्कुल नहीं सहन होता ऐसा आचार्योंने बताया क्योंकि वहां कर्ता और करणमें कोई भेद नहीं है। आत्मा तो अपने द्वारा जानता भी क्या ? परिणमता है। अपनेमें अपनेको जानता है, वहां और कोई दूसरी चीज ही नहीं हो सकती।

वस्तुकी शुद्ध निजरूपता—जैसे अग्नि जलती है। अग्निकी जलनेकी क्रियाको देख कर यह व्यपदेश किया जाता है कि वह अग्नि अपनी गरमीके द्वारा जलती परन्तु वह अग्नि और गर्मी अलग अलग नहीं है। साधन तीन होते हैं कर्तृसाधन, करणसाधन और भावसाधन ज्ञानमें यह तीनों साधन वर्तमान हैं जो जानता सो ज्ञान, जिसके द्वारा जानता सो ज्ञान और जो जानना है सो ज्ञान। यह सब कहनेपर आत्मा ही पकड़में आता। वह आत्मा एक जगह कर्ता एक जगह करण और एक जगह भावकी मान्यतासे ऐसा कहा गया। आत्मा और ज्ञान अलग अलग माना जाय तो कोई बात ही नहीं बन सकती। जो कुछ जानन है सो वह आत्मा ही है परन्तु उसको समझानेके लिये ऐसा कहा गया कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। आत्माको तो देखो उसमें कुछ जोड़ा तोड़ा कि अशुद्धता आ गई जैसा कि विकल्प रूप अनुभव में नहीं आता। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शुद्ध आत्मा क्या है ? शुद्ध आत्मा क्या इसके उत्तरमें कहते कि जो यह आत्मा स्वतः शुद्ध है अनादि है अनन्त है नित्य प्रगट है चैतन्य-स्वरूप है वह आत्मा है। इस आत्मामें रहने वाला जो ज्ञान सामान्य है वह तो नित्य प्रगट है। ज्ञानसामान्यको यह जरूरी नहीं कि शुद्धपर्यायमें था व ऐसा ज्ञान रहा तो उसका नाम यह कहलाया। वह तो अनादि अनन्तके सारे ज्ञानपर्यायोंमें एक तत्त्वसे रह रहा तो उसे ज्ञान सामान्य कहते हैं। ज्ञान सामान्य जिसका कि दर्शन करनेसे हममें सम्यक् दृष्टि पैदा होती है वह ज्ञान सामान्य प्रकृतिसे घट घटमें अब भी सबके मौजूद है, जिसके दर्शन करनेसे आत्माका भ्रम दूर हो जाता है अनन्त संसार मिट जाता है, ऐसा वह ज्ञानसामान्य भगवान सबके अन्दर सदा प्रगट है जो स्वतःसिद्ध है, अनादि अनन्त है, नित्य प्रगट है ऐसा जो ज्ञायक भाव ज्ञान सामान्य संसारके सब प्राणियोंमें अवस्थित है यद्यपि अनादि कालसे कर्मबद्ध होनेके कारण भ्रममें पड़ा है फिर भी द्रव्यके स्वभावसे यह शुद्धरूप या अशुद्धरूप नहीं परिणमता है। वह परिणामिक वस्तु है उसे कषायसहित या कषायरहित

भी नहीं कहा जा सकता। वह ज्ञानस्वभाव अन्यव्यपदेश रहित है। यह तो जो है सो ही है ज्ञान सामान्यमें व्यपदेश नहीं लगते यह ज्ञान सामान्य आत्मा ही शुद्ध आत्मा कहलाता।

ज्ञेयनिष्ठताके कारण भी ज्ञानमें अशुद्धताका अभाव—किसीने पूछा यह ज्ञान ज्ञेयमें रहता इसलिए तो अशुद्ध होगा जैसे अग्नि ईंधनमें रहती है तो नाना प्रकारकी लम्बी, गोल, आदि हो जाती है! इसी तरह यह आत्मा ज्ञेयोंमें रहता है। जैसे ईंधनके सम्बन्धसे अग्नि नाना रूप हो जाती है और अशुद्ध हो जाती है, उसी तरहसे यह ज्ञान जब ज्ञेयमें जाता है तो वह ज्ञान भी अशुद्ध हो जाता होगा। परन्तु कहते हैं कि नहीं। अग्नि भी अशुद्ध नहीं होती और ज्ञान भी अशुद्ध नहीं होता अग्नि कितनेका नाम है? जो गोल गोल है लम्बी है सो अग्नि नहीं है, अग्नि तो उष्णत्व धर्म करके समवेत जो वस्तु, सो अग्नि है। यह लम्बाई चौड़ाई है सो तो परकी है, अग्नि तो स्वयं अग्नि स्वरूप है। अग्निमें भी अशुद्धता नहीं। इसी तरह ज्ञानका स्वरूप केवल प्रतिभास है। उस स्वरूपसे ज्ञान भी शुद्ध है। आत्मा विश्वको ज्ञेयकी अपेक्षासे नहीं जानता इसकी तरंगमें या स्वभावसे ही अन्तरंगमें विश्वके सारे ज्ञेय जाननेमें आ गए। परन्तु वह ज्ञान तो शुद्ध है।

विविध गुणोंकी प्रतिष्ठासे अशुद्धताकी असंभावना—फिर इस जगह प्रश्न किया जा सकता कि आत्मामें दर्शन भी होता, ज्ञान भी होता और चारित्र भी होता, इस लिए भी तो आत्मा अशुद्ध है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्र, इन तीन गुणों वाला यह आत्मा है, इससे तो आत्मामें अशुद्धता आ गई। जो एक नहीं रहे और उसमें दूसरी बातका सम्बन्ध आजाय तो उसे अशुद्ध कहते हैं। इसलिए आत्मामें एक गुण नहीं रहा और तीन गुणोंका सम्बन्ध हो गया, इसलिए यह बिल्कुल अशुद्ध हो गया होगा। तब उत्तर देते कि नहीं, व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता कि आत्मामें ये तीनों गुण विद्यमान हैं। निश्चयनयसे तो सम्यक्त्वानुभव द्वारा अनुभवसे जो समझमें आये, उस निश्चयकी दृष्टिसे इस आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की भी अशुद्धता नहीं है।

अभेदानुभूतिमें स्वभावानुभव—आपको आत्माका अनुभव करना है तो जब तक आपमें आत्माके सम्बन्धमें यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिकी भेदबुद्धि रहेगी तब तक आत्मा के निर्विकल्प स्वभावका अनुभव नहीं होता। जहाँ इनकी कल्पना भी दूर हो जाती है और केवल संवेदन भाव रहता, ऐसी हालतमें कहते हैं कि आत्माको जाना। जैसे हलुआ बना उसमें पानी, घी, शक्कर, आटा, आदि वस्तुएं पड़ी। जब तक आप घी, पानी शक्कर, आटा, आदिपर दृष्टि डालते रहो चर्चा करते रहो तब तक आपने मानो हलुवा खाया नहीं और खाया भी तो हलुवेका जैसा स्वाद आना चाहिए था वह स्वाद नहीं आया। जिसकी आटेमें अलग घीमें अलग, पानीमें अलग, सिकनेमें अलग दृष्टि है, उसको हलुवेका स्वाद नहीं आता और

जिस समयमें एकचित्त होकर आँखे मींचकर स्वादमें ही आसक्त हो गये उस समयमें केवल स्वादका ही अनुभव है और सब अन्य चीजोंमें उसका अनुभव नहीं है उस समय उन सब चीजोंकी छाँट नहीं होती। हलवेके पूरे स्वादके समय छाँट नहीं होती इसी तरह आत्माके पूर्ण अनुभवके समयमें आत्माकी छाँट नहीं होती। आत्मानुभवके समयमें ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक अन्तस्तत्त्वका अनुभव रहता जिसमें अनंत आनंदका अनुभव सहचर है।

गुणोंकी व्यवहारनयसे सिद्धि—व्यवहारनयसे बतलाया गया कि आत्मामें सब गुण हैं परन्तु निश्चयसे दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण भी आत्मामें नहीं बतलाये, निश्चयसे आत्मा अनन्तगुणात्मक नहीं है, वह तो एक अद्वैतरूप है। व्यवहारसे आत्मा अनन्त गुणात्मक है। आत्माका निश्चयसे एक अद्वैतरूप है। अनन्तगुणात्मक आत्मा होते हुए भी उसमें निश्चयको ढूंढ़ रहे हैं। सम्यक्त्व अनुभवके कालमें जो स्थिति होती उसमें बुद्धिको ले जाना निश्चयनय का प्रयोजन है। इस वजहसे कह देते कि आत्मामें न दर्शन है, न ज्ञान है, और न चारित्र है। आत्माके स्वादमें आत्माके अनुभवमें विभाव पर्यायोंकी तो चर्चा दूर रही, अशुद्धता यह कहना तो दूर रहा, उसमें तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोंके भेदरूप अशुद्धता भी नहीं बताई वह तो दर्शन ज्ञान और चारित्रकी कल्पनासे रहित शुद्ध है। इन गुणोंके निषेधसे आत्मा में निश्चयनय आ गया और इनको कहनेसे व्यवहारनय आ गया।

यथावत् स्वरूपकी अवक्तव्यता—जैसे खेल देखकर आये तो उस खेलका वैसे ही वर्णन करो, वैसाका वैसा ही बताओ। जिससे वैसा ही हमको भी समझनेमें आवे। भारी प्रयत्न करते और बता नहीं सकते। उसी तरह आत्माकी भी वही चीज बतलाओ, जिसमें बहुत काल तक झूलते रहते हो, परन्तु काफी प्रयत्न करनेपर भी आत्माका स्वरूप ठीक तरह नहीं बता पाते। आत्माकी ऐसी स्थिति बतलाई कि वहाँ तो एक अभेद स्वाद ही है, आचार्य ऐसा कहते कि वहाँ तो केवल अनाकुल संवेदन है, आत्मामें वहाँ तो केवल अनाकुल सुखरूप संवेदन है और कुछ नहीं।

शुद्धात्मानुभवका हितकर्तव्य—तब अपनेको आत्माके अनुभवके लिये क्या करना है? अपनेको शुद्ध आत्मारूप अनुभव करना है, तो धन वैभव आदिसे अपनेको कुछ नहीं समझना। इनके कारण तो यह आत्मा कुछ भी नहीं है। इनसे कुछ बननेकी तो बात जाने दो, इनसे कुछ नहीं हो रहा है, इनके सम्बंधसे अपनेको बिल्कुल अलग रखना, ऐसा जानकर जितने भी परपदार्थ हैं, धन वैभव आदि सबसे न्यारा मैं एक अलग ज्ञानमय हूँ, आत्मा हूं, पहले तो ऐसा विचार करो, फिर यह विचार करो यह एक ऐसा पिंड है जो शरीरके छूट जानेपर भी उसमें एक तैजस कार्माण लिये हुए होता है, वह मुक्तिसे पहले नहीं छूटता, वहाँ उसके अंदर अनादि अनंत ज्ञानस्वभाव पृथक् है, यों मुझमें तैजस कार्माण शरीर भी नहीं रहा। शरीर दो होते हैं—

सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर जिस समय छोड़ गया, उस समय सूक्ष्म शरीर तैजस कार्माण रूपसे रहा, परन्तु अनादि अनन्त ज्ञानसामान्यके जाननेके बाद वह सूक्ष्म शरीर भी अब नहीं है और आत्मामें अनन्तगुणोंका पिंडरूप एक मैं रह गया। वहांपर कर्मकी पर्याय भी मैं नहीं हूं। रागद्वेष आदि पर्यायें भी नहीं हैं। इनसे अपनेको जुदा करनेपर मति श्रुतज्ञान रह गया। श्रुतज्ञानकी गुणोंके स्वभावरूप अधूरी अधूरी पर्यायें भी जो हैं इनसे भी अपने आपको अलग करके इस रूपमें भी नहीं हूं इनसे भी न्यारा आत्मतत्त्व है। तब केवल ज्ञानरूप उसकी स्वभाव पर्याय कहलाई यहाँ भी केवल तरंग बता दी। केवलज्ञानकी पहिलेसे सत्ता नहीं थी। केवलज्ञान हुआ तो क्या जबसे सत्ता हुई ? सत्ता तो मुझमें पहले भी मौजूद थी इसलिए केवल ज्ञानकी पर्याय रूप भी मैं नहीं हूं। दर्शनज्ञानचारित्र आदि जो गुण तीन काल चलते हैं इन गुणोंके रूप भी मैं नहीं हूं क्योंकि ये गुण तो कल्पनासे न्यारे न्यारे कर लिये गये हैं, चीज तो एक है। एक चीजकी तरंगसे चल रहे हैं। उस एक चीजको बतानेके लिए आचार्योंने यह बताया कि आत्मामें ज्ञानशक्ति दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति मौजूद तो है परन्तु वह भी कल्पनामात्र है क्योंकि आत्मा तो एक निर्विकल्प द्रव्य है उसके एक स्वभावके ये भेदमात्र हैं आचार्योंने व्यवहारसे भेद करके एक अभेद स्वरूप समझानेका प्रयत्न किया। मैं तो एक ज्ञायकरूप हूं, एक ज्ञानस्वभाव मैं हूं, ऐसा वह मैं शुद्ध हूं, इस शुद्धताका लक्ष्य आ जानेसे पर्यायमें निर्मलता आती है। बाह्यपदार्थोंका अनुभव करनेसे निर्मलता नहीं आती। इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिके भेद भी अनुभव मत करो। इन सबकी घाटीको पार कर एक अद्वैतरूप उपयोग रहता तब यह आत्मा शान्तिका स्वरूप होता। उन सबकी छांटसे या अपनी छांटसे यह स्वरूप हुआ।

द्रव्य एक, काम एक—यहाँ तो यह बात बतलाई कि मैं वह हूं जो हैं भगवान, अर्थात् जो मैं हूं सो केवली है और जो केवली है सो मैं हूं। प्रकृतमें यहां मैं के मायने श्रुत केवली लगाया। केवली और श्रुतकेवलीमें कोई अन्तर नहीं। निश्चयदृष्टिसे ही ऐसा है। निश्चयसे देखो तो केवली भी केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जानता और मैं भी श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी आत्माको वह भी जानता और अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी आत्माको मैं भी जानता। काम एक है, केवल आत्माको जाना। दोनों ही इसके आगे कुछ भी काम नहीं कर सकते। केवली अनन्त शक्तिमान है तो भी अन्य कुछ भी नही कर सकता। वह पर पदार्थोंमें अपने ज्ञानगुणका प्रयोग नहीं कर सकता, वह तो केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करता, इसी प्रकार हम भी केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करते और परपदार्थोंमें अपने ज्ञानगुणका प्रयोग नहीं कर सकते। केवली के केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करनेके कारण उसके जाननेमें विश्व आ जाता। इस

तरह ज्ञानके आधारभूत निज आत्मापर ही सबका प्रयोग होता, यदि विकल्प अतत्त्वको छोड़ दें तो वही स्वच्छता सर्वज्ञता आ धमकेगी। मैं भी क्या करता ? खुदको ही प्रयोज्य मानकर ज्ञान कर पाता हूं। निश्चयसे मैं भी और केवली भी परिणतिविधिमें समानता रखते हैं।

स्वरूपनिर्णय—केवली केवलज्ञान द्वारा जानता और मैं श्रुतज्ञानके द्वारा जानता। ऐसा कहनेमें तो बड़ा भारी फर्क आ जाता है। दोनों ही जाननेके द्वारा जानते हैं। फिर यह श्रुतकी उपाधिसे भेद क्यों पड़ गया ? क्योंकि निश्चयसे ज्ञानमें श्रुतकी उपाधि भी नहीं। इससे यह मतलब निकला कि केवली भी ज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता और मैं भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। केवली और मैं दोनों ही ज्ञानके द्वारा आत्माको जानते, ऐसा कहनेमें भी वह ज्ञानका साधकतम लग गया। परन्तु वह ज्ञान तो आत्मासे अलग कोई साधन नहीं। आत्मा और ज्ञान अलग अलग नहीं है। इसलिए वह आत्मा अपने ही तरंगसे अपने आपको जान रहा। परन्तु जान रहा ऐसी अलग कोई किया भी नहीं है तो। वह तो अपने आपको जानने वाला हो रहा है। वह तो अपने ही द्वारा अपनेको अपने लिये अपनेसे अपनेरूप काम करता। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कौन है इसकी कल्पना करना भी ठीक नहीं ज्ञान तो जो है सो ही है। स्वरूप जाननेका निश्चय रहना चाहिये और कल्पनामें नहीं पड़ना चाहिये। आत्माके अनुभवसे पराङ्मुखकी काल्पनिक सब दशाएं हैं।

संतोंकी वाणीमें स्याद्वाद हितवाद—आचार्य महाराज इतने दयालु हैं कि कोई भी वर्णन करनेपर निश्चयकी हद हो जाय, तो व्यवहारकी पुट लगा देते हैं। व्यवहारका वर्णन करते-करते जब बहुत उलझनकी बात हो जाती है, तो वहाँ भी एक निचश्यकी बात लगा देते हैं। समयसारमें एक जगह पूछा कि आत्मा करता किसे है ? जैसे समुद्रमें लहर उठी तो वहाँ पूछते हैं कि समुद्रकी लहरका कर्ता कौन है ? यद्यपि लहरके कर्ताका उत्तर देंगे तो दो उत्तर आएंगे कि समुद्रकी लहरका कर्ता एक तो समुद्र है और दूसरी हवा है, दोनों उत्तर आएंगे। जब यह सिद्ध करना है कि समुद्रकी लहरका कर्ता समुद्र है तो कहते कि यद्यपि हवाके निमित्त से समुद्रकी लहर उठती है, तो भी हवाका समुद्रसे व्याप्य व्यापक भाव नहीं है, इसलिए कर्ता कर्मपना उसमें नहीं हुआ। जल ही लहरका कर्ता है यह सिद्ध किया। पर पहले तो यह कह दिया कि यद्यपि हवाके निमित्तसे वह लहर होती है तो भी जल ही लहरका कर्ता है और जब यह सिद्ध करना है कि हवा ही लहरका कर्ता है तो कहते कि यद्यपि उपादानसे जलमें ही लहर उठती है तो भी हवाके बिना लहरकी क्रिया नहीं हुई, इसलिए हवा ही लहरका कर्ता है। यह ही आचार्योंका हाल रहा कि पहले तो एक बातको कह देते कि यद्यपि ऐसा है, फिर दूसरी बातको सिद्ध कर देते, परन्तु ऐसा होनेसे ऐसा ही है। ये दोनो बातें असिद्ध नहीं हैं एकमें अन्तर्दृष्टि है, दूसरेमें व्यवहारदृष्टि है। अभी तकके वर्णनको सुनकर यह बात समझमें

आई कि आत्मा अपने द्वारा जानता और अपनेको जानता, बाहरी कोई काम नहीं करता। अब कहते हैं ज्ञान सर्वगत है ज्ञान सर्व पदार्थोंमें रहकर भी उनसे जुदा होता। निश्चयके वर्णनमें व्यवहारका पुट लगा दिया। इसी तरहसे निश्चयके द्वारा उसी द्रव्यका एक अभिन्न स्वरूप बताया जा रहा है उसके बतानेसे व्यवहार मिट रहा है तो मिट जाओ उसकी अभी परवाह नहीं, काममें निश्चयनयके द्वारा वस्तुके अभेद स्वरूपको पकड़े रहो। इस स्वरूपको पकड़नेके बाद कहते कि इसमें तो व्यवहारका नाम उड़ जायगा, किन्तु यह विचार लाओ, वस्तुके निश्चय स्वरूप जाननेकी ड्यूटीमें हो तो वही करो।

स्वयंपरिणमनकी दृष्टि—अपनेसे भिन्न जो ज्ञेय पदार्थ दुनियाभरके हैं, उनके आकारके समान परिणमित हुआ यह ज्ञान, इस ज्ञानमें गर्भित जो ज्ञेयाकार समस्त ज्ञेय है, उन समस्त ज्ञेयोंके आकारमें परिणत हुआ ज्ञान, सो ज्ञान तो स्वयं परिणाम रहा। इसका कार्य क्या हुआ ? यहींके रहने वाले ज्ञेयाकार याने इन पदार्थोंके कारण हुए ज्ञेयाकार। फिर उसकी आकृतिसे यह बतलाते हैं कि ज्ञानके कार्यके बाह्य कारण होनेके कारणसे ऐसा कहा जाता कि सारे पदार्थों को ज्ञान पहिचान गया। ज्ञानके कार्यके कारण होनेसे यह सारे पदार्थ ज्ञानमें आ गए। निश्चय से तो ऐसा ही है कि ज्ञान खुद काम है, और कोई बात मत कहो। ज्ञाता और ज्ञान इसके विभाग करनेका क्लेश उद्योग कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? केवल अपने ज्ञानस्वभावको देखो, निरखो, अनुभव करो और सब प्रकारके विकल्पों और वासनाओंको न करो। ऐसी अवस्था होनी पड़ती है, वहाँ शांतिमार्ग है, जिनकी बुद्धि बाह्य पदार्थोंमें पड़ी हुई है, उनका तो कुछ ठिकाना ही नहीं। अद्वैत परमशान्तिके वास्ते ज्ञानके विभाग नहीं करना चाहिये। शांतिका यह मार्ग निर्णीत होनेपर जान ही गये होंगे—बाह्य पदार्थोंसे कुछ नहीं आता जाता। जैसे सब आदमी चाहे लखपति हों, चाहे गरीब हों, वे आधा सेर अन्न ही तो खाया करते हैं, इसी तरह केवली और श्रुतकेवली दोनों ही एक कार्य करते हैं। तो बाह्य पदार्थोंमें इतना विकल्प दौड़ाने से कोई सिद्धि होनेकी नहीं। इसलिये सब तरफसे अपना उपयोग हटाकर एक इसी आत्मस्व-भावमें बुद्धि लगाना है। मुझे अब बाह्य ज्ञानकी आकांक्षा नहीं। अब मैं मोही नहीं रहना चाहता, ऐसा सोचो, किसीसे ऐसा कहनेकी भी जरूरत नहीं। ज्ञानके अन्दर अपने आप दृढ़ हो जाओ उस अमृतको अपने आपमें बढ़ाते रहो और अपनेको निर्बाध शांतिके मार्गपर लगाओ।

अब ज्ञानके बारेमें अनेक विचार कर लेनेके बाद यह बतलाते हैं कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है ?

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

ज्ञान और ज्ञेयका विभाग—जिस कारण कि ज्ञानके रूपसे परिच्छेदके रूपसे स्वयं हो

परिणम परिणम करके आत्माके स्वतन्त्र स्वरूपसे ही यह जीव जानता है। इसलिए जीव ही ज्ञान है। क्या ज्ञान हैं और क्या ज्ञेय है ? इस बातका वर्णन करते हैं कि ज्ञान तो जीव है और ज्ञेय जीव स्वयं भी है और सारे जगतके पदार्थ भी हैं। जीव ही ज्ञान है, जो जाननरूपसे स्वयं परिणम परिणम करके स्वयं ही जानता है, स्वयं स्वतन्त्र होकर जानता। घटपट आदि पदार्थ तो ज्ञान नहीं है। केवल जीव ही ऐसी विशेषता रखता है कि वह स्वतन्त्ररूपसे परिच्छेदरूपसे परिणमता स्वयं जाननरूपसे परिणमता रहता और ऐसे परिणमनमें वह स्वतन्त्र है। अपनी ही परिणतिसे जानने वाला यह जीव है, इसलिए यह जीव ही ज्ञान है। अनन्त द्रव्य जो संसारके हैं, ये कोई भी द्रव्य जाननरूपमे नहीं परिणम सकते और जब जाननरूपसे परिणमनेमें असमर्थ हैं, तो वे नियमसे अजीव अज्ञान अचेतन कहलाये। जीव ही केवल जानने वाला है, जानन क्रियासे अभिन्न स्वरूप जीवका ही है, परपदार्थोंका जानन स्वरूप नहीं है। रेडियो या रिकार्डोंमें कितने ही शब्द भर दो, पर जाननकी ताकत वहां भी नहीं है, यदि रैकार्डसे प्रश्न करो और वह उसका उत्तर दे दे तो देख लो, जाननकी बात उसमें कुछ भी नहीं आती इसलिए वह अजीव है। उसमें शब्द वर्गणा ऐसी ऐसी भरदी जिसके निमित्तसे उसकी बोली निकलती है वह बोलने वाला तो मालूम पड़ा फिर भी उसमें जाननेकी शक्ति नहीं। केवल अमूर्त जीव द्रव्य ही जाननेमें समर्थ हैं और कोई पदार्थ जगतमें जानने योग्य नहीं, जीव जाननेसे पृथक् कोई चीज होती ही नहीं। जाननका जिसमें स्वभाव या स्वरूप ही नहीं वह जीव ही क्या ? जोव ही ज्ञान है और कोई पदार्थ ज्ञानरूप नहीं हो सकते।

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध—ज्ञेय कौन है ? जाननेमें आने वाले पदार्थ ही ज्ञेय हैं। जो हो चुका है जो हो रहा है जो होवेगा ऐसे नाना पर्यायोंकी परम्परामें चलने वाले जितने द्रव्य हैं वे सब द्रव्य ज्ञेय पदार्थ हैं। ज्ञेय दो प्रकारके होते हैं एक तो जीव खुद द्रव्य है इसलिए वह ज्ञेय और जगतके अन्य पदार्थ द्रव्य हैं, इसलिए वे भी ज्ञेय अर्थात् ज्ञान तो हुआ यह स्वयं आत्मा और ज्ञेय हुए यह आत्मा स्वयं और जगतके अन्दर रहने वाली अनन्त आत्माएं और अनन्त पुद्गलद्रव्य आदि परन्तु जानने वाला केवल मैं ही हूँ। ज्ञानका आलम्बन पाकर यह पदार्थ ज्ञेय कहलाता और ज्ञेयाकारको आलम्बन पाकर यह जीव ज्ञान कहलाता इसी तरहसे ज्ञान और ज्ञेयका ज्ञायकज्ञेय सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें ज्ञान तो एक ओर रहा और जगतके सारे पदार्थ और स्वयं जीव ज्ञेय एक ओर रहे। इन सारे पदार्थों और इस ज्ञानके साथ ज्ञाता ज्ञेयका सम्बन्ध चल रहा है। यह ज्ञान स्वयं ज्ञेय बन रहा है और जगत पदार्थ भी ज्ञेय बन रहे हैं।

कर्ताकर्मकी अविशेषता—यहाँ यह शंका की जा सकती है कि पहले तो अभेददृष्टिकी बात चल रही थी—कर्ता और करणमें भी भेद नहीं, आत्मा और ज्ञानमें भी भेद नहीं, चर्चा

चल रही थी, फिर यह बतलाते कि ज्ञान और ज्ञेय क्या है ? ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय जगतके पदार्थ हैं। इतनी भी मोटीसी बातके वर्णन करनेकी बात क्यों चल रही है ? इसको उत्तर देते कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है ? यह बतानेमें यहाँ एक भारी बुद्धि और महत्त्व की बात भी निहित है। वहां ज्ञान और ज्ञानीमें अविशेषता दिखलाई, ज्ञान और कर्तामें भी अविशेषता दिखलाई, यहां ज्ञान और कर्ममें अविशेषता दिखा रहे हैं, वही एक जीवद्रव्य स्वयं ज्ञान भी है और स्वयं ज्ञेय भी है। ज्ञान भी स्वयं है, और ज्ञानका प्रयोग जिसपर हुआ, वह ज्ञेय भी स्वयं है। कर्ता और कर्मका अभेद दिखानेका इस वर्णनमें प्रयोजन है, इसलिए प्रकरणके विरुद्ध यह गाथा नहीं, वस्तुतः तो ज्ञानका ज्ञेय, ज्ञानके परिणमनको छोड़कर अन्य पदार्थ होते नहीं हैं, किन्तु जिन पदार्थोंके आकारवत् ज्ञानमें ग्रहण हुआ, उन्हें ज्ञेय उपचारसे कहते हैं।

परमार्थतः स्वकी क्रियाका स्वमें ही प्रयोग—अब यहाँ शंका उपस्थित होती है कि यह ज्ञान स्वयं जानने वाला है, और यह ज्ञान स्वयं जाननेमें आ गया यह बात समझमें नहीं आई। खुदकी क्रियाका प्रयोग खुदमें हो रहा है, ऐसी बात तो उदाहरणमें भी नहीं मिलती। कुल्हाड़ीका काम लकड़ीको काटना है, परन्तु उसका यह काम तो नहीं होता कि वह खुद ही के दो टुकड़े कर दे, इसी तरह ज्ञानकी क्रियाका काम जानना है, तो वह खुदमें जानन कर दे, यह कैसे हो ? खुदमें खुदका प्रयोगका क्या मतलब ? खुदकी क्रियाका काम खुदमें नहीं हो सकता, तब फिर यह ज्ञान आत्माका परिच्छेदक कैसे है ? यह जीव स्वयंका जानने वाला कैसे है ? इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि यह आत्माका जो जानन काम है, वहाँ क्रिया क्या है, और विरोध क्या है ? क्रिया है जानना, तब विरोध क्या है ? जो विरोध करे, ऐसी क्रिया उत्पत्ति रूप है या ज्ञप्तिरूप ? कोई बात पैदा की, यह आत्माकी क्रिया है या प्रतिभास हो गया, यह आत्माकी क्रिया है ? जीवने अपनेमें अन्य उत्पन्न कुछ नहीं किया, किन्तु उसकी जाननरूप ज्ञप्तिरूप तरंग हुई, यह जो तरंग है वह तो प्रकाशन क्रिया रही तो प्रकाशन क्रिया में क्या विरोध ? कुल्हाड़ीका काम दो टुकड़े करना लगाते तो वहाँ विरोध होता, परन्तु कुल्हाड़ीका काम अपनी सत्तासे रहना है। काठके टुकड़े करना तो निश्चयसे कुल्हाड़ीका काम ही नहीं, कुल्हाड़ीका परिणमन उसका काम है, क्या सत्तात्मक रहना। तो कुल्हाड़ीके इस कामको कुल्हाड़ी करती, यहाँ तो विरोध नहीं हो सकता। इसमें क्या विरोध है, इसी तरहसे काम यदि यह रखा कि आत्मा कुछ अपनेमें नवीन वस्तु पैदा करे, नवीन बात पैदा करे, तब तो विरोधकी बात है, किन्तु जब आत्माकी क्रिया केवल प्रकाश ही रखे, केवल जानन ही काम बतलाया तो याने उसमें जानन मात्रमें फिर क्या विरोध आया ?

स्वकी क्रियाका स्वमें प्रयोगका अविरोध—जो दीपक है, उसको खुदको प्रकाशमान

करनेके लिए दूसरे प्रकाश नहीं ढूंढ़े जाते। अतः जहाँ भिन्न काम है, उस भिन्न काममें तो विरोधका प्रश्न हो, परंतु अभिन्न काममें यह प्रश्न नहीं हो सकता, और फिर देखो भैया भिन्न काम तो उपचारसे माना है। वस्तुतः वस्तुका काम वस्तुसे अभिन्न ही होता। दीपक घटपट आदि पदार्थोंको प्रकाशित ही नहीं करता, केवल खुदमें ही प्रकाश करता है, ज्ञान दूसरेका भी जानन करता और अपनेका भी जानन करता, ऐसी उसमें शक्ति है। दीपककी वह प्रकाशन क्रिया जैसे दूसरों और खुदपर भी अपना प्रयोग करती है। इसी तरह ज्ञानकी जानन क्रिया भी दूसरों और खुदपर भी प्रयोग करती है। जैसे कि दीपकका मतलब प्रकाशन किया, उसकी प्रयोग क्रिया खुद दीपकपर भी हो जाती है, अन्यपर भी निमित्तदृष्टिसे हो जाती है, प्रकाशन क्रियाका अपने आपमें प्रयोग करनेमें विरोध नहीं। इसी प्रकार जानन क्रियाका भी अपने आपमें प्रयोग करनेमें कोई विरोध नहीं। पहले यह तो देखो कि ज्ञानकी क्रिया है क्या ? ज्ञान की क्रिया प्रकाशन है, जानन है। जानन क्रिया ऐसी कोई हौवा नहीं है कि खुदके प्रयोग करनेमें कोई कठिनाई आया करे। दीपक जल रहा है, उसे उठानेका किसीने हुक्म दिया तो किसीने ऐसा विसंवाद नहीं किया कि दूसरा दीपक दो जिससे उसे देखकर उठा लाऊं। दीपक को देखनेके लिए दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं पड़ी जैसे दीपककी क्रिया प्रकाशन है, तो खुदकी प्रकाशन क्रियाका खुदमें विरोध नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानकी क्रिया जाननका खुदमें भी विरोध नहीं आता। इसी प्रकार ज्ञान जानता है, तो सारे पदार्थ भी जाननेमें आते और खुद भी जाननेमें आता। जानन क्रियाका ज्ञानमें विरोध नहीं।

निमित्तदृष्टिके व्यामोहकी अनुचितता—निमित्तदृष्टिका यह अनुचित व्यामोह है कि ऐसा मालूम देता कि अरे ज्ञानकी क्रिया अपने आपमें कैसे आ जायगी। भैया ! वस्तुके अखंड सत्की खबर लो तो यह बात सहज समझमें आ जावेगी। प्रश्न तो यह किया जा सकना ठीक था कि ज्ञान अपनेसे भिन्न सत्ता वाले परपदार्थोंको कैसे जान सकता सो इसका उत्तर तो उपचार मात्र है। यह बात हम खुद अनुभव करके भी देख सकते हैं कि हम भी हैं और दूसरे भी हैं 'जीवो और जीने दो' ऐसा हम खुद भी अनुभव करते हैं। यद्यपि जैनधर्ममें यह कहा कि न खुद जीवो और न दूसरेको जीने दो अर्थात् चतुर्गतिमें न खुद भ्रमण करो और न दूसरे को करने दो अथवा न खुद जन्म मरण करो और न दूसरेको जन्म मरण करने दो किन्तु यह यदि हम लोकमें कहें तो बड़ी आफत पैदा हो जाय। लोक सोचेंगे यह क्या बात कही जा रही हैं कि न खुद जीवो और न जीने दो। अच्छा, यह तो ठीक है कि न खुद मरो न मरने दो, किन्तु भैया जीना बंद करोगे, तभी तो मरना बंद होगा।

आत्माकी स्वभावतः ज्ञायकरूपता—परपदार्थका परिच्छेदक जो यह आत्मा है सो यह आत्मा ज्ञेय पर पदार्थोंको जानता है, ज्ञेय पदार्थको जानते हुए भी इस आत्माको खुदको

जाननेमें अन्य ज्ञानको नहीं ढूँढ़ा जाता, क्योंकि यहाँ स्वयं ही ज्ञानक्रियाकी उपलब्धि है। जानन क्रिया खुद अपनी आत्मामें है तो जानन क्रियाको समझनेके लिए दूसरे जानने वाले ज्ञानको ढूंढ़नेकी आवश्यकता क्या ? क्योंकि स्वयं ज्ञानक्रिया करके उपलब्धि होती। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय उत्पादव्यय वाले ये पदार्थ हैं अथवा ज्ञेय तो द्रव्य हैं ज्ञान पर्याय स्वरूप वस्तु है। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय जीव खुद भी और अन्य समस्त अनंतानंत जीव भी तथा अनंतानंत पुद्गल व धर्मादिक हैं। यह जीव स्वयं स्वतन्त्र होते हुए भी जानने वाला होता ऐसी खासियत दुनियाके और वस्तुवोंमें नहीं होती। रेडियो रिकार्ड चलचित्र सब जगह ज्ञानका बिल्कुल अभाव है, शरीर भी जड़ है, उसमें जानन क्रियाका अभाव है, जानन क्रिया का सद्भाव केवल जीवमें ही होता जाननेकी क्रियाका परिणमन वाला केवल जीव है और कोई पदार्थ नही है, जगतके अन्य सारे पदार्थ मात्र ज्ञेय हैं।

प्रकाशक प्रकाश्यकी स्वनिष्ठता—इस प्रकार कर्ता और कर्ममें भी भेद मत डालो। ज्ञानमें श्रुतकी उपाधि भी नहीं लगती। यद्यपि प्रकरणवश निश्चयके बाद व्यवहारका प्रकरण चला दिया। इसमें भी निश्चयका पुट लगा है कि यह आत्मा ज्ञान तो है ही, परन्तु खुद भी ज्ञेय है। यहाँ ज्ञेय जाननेमें आने वाला है। दीपक प्रकाशक है और प्रकाश्य भी है। इसी प्रकारका ज्ञान याने जानना, जानने वाला भी है और जाननेमें आने वाला भी है। प्रकाशका काम एक ही ढंगसे एक ही तरंगसे चल रहा है। उसका परिणमन प्रकाशन कहलाता। आत्मा भी अपनी एक तरंगसे है, एक जानन क्रियाको परिणाम करके सत् है, ऐसा वह आत्मा उसका वही परिणमन एक ज्ञायक ज्ञान और ज्ञेय है। तीनों बातें रूप स्वयं एक ही कामको करने वाला आत्मा है। यह क्रिया क्रियावानको अभेद करके जैसा है समझाया गया है। इस तरहसे यह आत्मा ज्ञान है और ज्ञेय भी है। यह आत्मा स्वयं ज्ञान है और यह आत्मा स्वयं ज्ञेय है। दीपकका प्रकाश है सो वह तो एक है, पर वह प्रकाशक भी है और प्रकाश्य भी है। प्रकाशमें स्वयं भी आ रहा है और प्रकाश करने वाला भी हो रहा है। इसी तरहसे ही एक ही जानन ज्ञायक और ज्ञेय बन रहा है। उसकी एक ही तरंगके होनेसे ज्ञायक भी बन रहा और ज्ञेय भी बन रहा। वह स्वयं जानने वाला है और स्वयं जाननेमें आने वाला भी है। जैसे प्रकाशक दीपक अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावसे ही सत् है और प्रकाश्य परसे असत् है इसी प्रकार ज्ञाता भी अपने द्रव्यक्षेत्रकाल भावसे सत् है और ज्ञेय परसे असत् है। जैसे दीपककी उत्पत्तिमें ही पर निमित्त है किन्तु प्रकाशन क्रिया स्वतंत्रतासे हो रही है वैसे ही ज्ञानपर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्ररूप ज्ञानावरणका क्षय अथवा काल द्रव्य निमित्तमात्र होओ किन्तु जानन क्रियामें वह पूर्ण स्वतन्त्र है। षट् द्रव्योंमें प्रधान एक जीव द्रव्य ही है। एक जीव द्रव्य न होवे और सभी द्रव्य बने रहें तो कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती।

आत्माकी सारभूतताका कारण—जगतके जितने भी द्रव्य हैं उनमें सारभूत एक जीव द्रव्य है। जीव द्रव्यकी तीन अवस्थाएं होती हैं। बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा ही सारभूत अवस्था है। इस अवस्थामें भी दो अंश द्रष्टव्य होते हैं, स्वभाव और तरंग। इनमें स्वभाव ही सारभूत है, तरंग नहीं। केवलज्ञानमें भी स्वभावको ही सारभूत माना है। उसी सारभूत तत्त्वका लक्ष्य करके भव्य जीव संसारसे तिर जाते हैं। तब आत्मा द्रव्यरूप रहा और आत्मा ज्ञानरूप रहा अर्थात् आत्मा ज्ञेयरूप रहा और आत्मा ही ज्ञानरूप है। बाकी जितने भी द्रव्य और ज्ञेय हैं वे सब आत्माके ज्ञेयरूप ही रहे। परन्तु मैं स्वयं ज्ञेयरूप भी रहा और ज्ञानरूप भी रहा। आत्माके अतिरिक्त सारे द्रव्य मेरे लिये केवल ज्ञेय रूप है ज्ञानरूप नहीं। इसी तरह सबमें तत्त्व जानना। यह आत्मा तो जानने वाला है और ये सब जाननेमें आने वाले हैं। ज्ञानका भी ऐसा परिणमन है जो जाननेमें आया करे और जाना भी करें। जो जाननेमें भी आया करे और जानने वाला भी हो सके। आत्माके ज्ञानका आलम्बन करके यह पदार्थ ज्ञेय बनते हैं और इनके आकारका आलम्बन करके यह आत्मा ज्ञानरूप बनता है। इन दोनोंमें ऐसा सम्बन्ध है। जैसे दर्पणके आगे मयूर अर्थात् मोर खड़ा हो गया तो उसमें मोरका प्रतिबिम्ब आ गया। दर्पणने मोरको झलकता कर दिया। इस प्रकार दर्पणमें झलकानेकी शक्ति है और मोरमें झलक जानेकी शक्ति है। यदि इसका विरोध करो तो मोरको भींतके सामने खड़ा करदो तो वहाँ भींतमें झलकानेकी शक्ति नहीं है सो झलकता तो नहीं। अथवा दर्पणके आगे सारे अमूर्त पदार्थ पड़े हुए हैं तो भी दर्पणमें वह काम नहीं बना जो पहले बन रहा था, तो कहा जाता कि उन अमूर्त पदार्थोंमें झलक जानेकी शक्ति नहीं। जैसे झलकनेकी शक्ति वाला पदार्थ हो और झलकानेकी शक्ति वाले पदार्थ हो तो फिर उसमें झलकनेकी बात आती है। इसलिये ये सब पदार्थ झलकनेकी शक्ति रखते हैं और आत्मा झलकानेकी शक्ति रखता है और इस प्रकार ये सब पदार्थ आत्माके ज्ञानमें झलक जाते हैं।

पदार्थमें प्रमेयत्व गुणकी सार्थकता—अभी प्रश्न उठा है कि जगतके और जितने भी पदार्थ हैं इनमें प्रमेयत्व-ज्ञेयत्व धर्म बतानेकी आवश्यकता क्या है? ये तो जड़ आदि पदार्थ हैं, जाननेमें आ गए। इनमें ज्ञेयधर्म माननेकी आवश्यकता क्या? प्रमेयत्व धर्मकी क्या आवश्यकता है? जैसा अस्तित्व है समझमें आता परन्तु प्रमेयत्व ऐसा कौनसा गुण है जो इसमें भरा है। इसमें इसकी आवश्यकता क्या है? उत्तर देते हैं कि जैसे मोरमें झलक जानेकी शक्ति नहीं होती तो दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब नहीं होता। जगतके पदार्थोंमें प्रमेयत्व धर्म नहीं होता तो वे जाननेमें नहीं आ सकते। इसलिये अन्य गुणोंके साथ प्रमेयत्व, गुण भी इन पदार्थोंमें माना गया है। इसी तरहसे वह आत्मा ज्ञान है और जगतके सारे पदार्थ ज्ञेय हैं

और आत्मा स्वयं ज्ञेय भी है। इनका आलम्बन करके द्रव्यके ज्ञानका अवलम्बन करके ज्ञेयके आकारसे जो आत्माकी परिणति होती वह ज्ञान कहलाया।

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता—ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध दोनोंका रूखापन होने पर भी स्नेहत्व सिद्ध करता। ज्ञाता तो मैं एक अकेला ही हूं। मेरे ही जाननेमें अनन्त पदार्थ आते हैं। ज्ञान भी इतना शक्तिशाली बताया गया है कि उसमें सब पदार्थ आ जाते हैं, वह जानने से वजनदार नहीं होता। यदि अनन्त द्रव्य भी जाननेमें आवे तो भी वह हलकेका हलका ही रहता। लम्बाई चौडाई या वजन ज्ञानमें नहीं होता। वह तो गोल और लम्बाईको ग्रहण कर रहा है, इतना ही मात्र ज्ञानका काम है। किन्तु पदार्थोंके आकारसे ज्ञान लम्बा चौड़ा हो जाया करे ऐसा नहीं। यह ज्ञान अमूर्त, सूक्ष्म और विलक्षण वस्तु है कि जगतके सारे पदार्थ इसके जाननेमें आते तो भी वह निर्मल और स्वच्छ है और वैसेका वैसा ही रहता है। यह ज्ञान समस्त परद्रव्योंसे अत्यन्त प्रथक् रहता हुआ स्वयं परप्रकाशक है। इस लोकमें ज्ञानमय आत्मा सर्वकी व्यवस्था बतानेवाला सारभूत तत्व है इस प्रकार ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता कही।

समस्त परिणमनोंकी ज्ञानमें वर्तमानता—अब यह सिद्ध करेंगे कि अतीतकालमें हुए द्रव्योंकी पर्याय और भविष्यकालमें होने वाले द्रव्योंकी पर्याय ज्ञानमें वर्तमान पर्यायकी तरह ही प्रतिभासित होती। वर्तमानकी पर्यायें भी वर्तमान हो जानेसे प्रतिभासमें नहीं आ रही है। वर्तमान होनेके कारण वर्तमान पर्याय सर्वज्ञके ज्ञानमें आये तो सर्वज्ञके ज्ञानमें परकी अपेक्षा हो गई। मतिज्ञान वर्तमानमें ही जान सकता! जैसे हमारे मतिज्ञानको वर्तमान नाना पर्यायकी अपेक्षा आवश्यक होती वैसे केवलीके केवलज्ञानको नाना द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा आ जायगी। फिर वर्तमान पर्याय केवलीके ज्ञानमें आए क्यों? इसलिए आये कि उनमें सत्ता है। सत्ता जो है, सत्ता जो होगी, और सत्ता जो थी, पर्यायकी दृष्टिसे सत्ताकी उनमें समानता है, इसलिये वे ज्ञानमें आ गये। जब तीनों कालकी पर्याय एक साथ ज्ञानमें है तो वर्तमान भी ज्ञानमें है। एक भीतपर हम अतीत कालके २४ तीर्थंकरोंके फोटू लगा दें तो वे तीनों कालके फोटू एक साथ वर्तमानमें ही दृष्टिगोचर हो गये। इसी तरहसे इस ज्ञानरूप भींतपर केवलीके ज्ञानभूमि पर वर्तमानकी तरह ही भूतकाल और भविष्य कालके द्रव्योंकी पर्यायें एक साथ प्रतिभासमें आईं। इस तरह यह सिद्ध करते हैं कि भगवान एक साथ ही तीनों कालके पर्यायोंको जानते तथा सब पर्यायोंको युगपत् जानते हुए भी सबमें संकरता नहीं हो पाती है सभी द्रव्य और पर्याय पृथक् पृथक् रूपसे प्रतिभात होते हैं, इस तत्त्वको उद्योतयति अर्थात् उसकाते हैं जैसे दीपक जब कम उजाला देता है तो उसकी बाती उसकेर दी जाती है मानों इसी प्रकार आचार्य महाराज अपनेमें बसे ज्ञानको तीर्थप्रवृत्तिके लिये उसका रहें हैं, बढ़ा रहे हैं, प्रगट कर रहे हैं, उद्योतित करते हैं—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

सर्वज्ञमें प्रतिसमय समस्तज्ञेयाकारता—समस्त द्रव्यसमूहोंकी समस्त पर्यायें जो कि अभी सत् हैं अथवा असत् अर्थात् पहिले थीं और आगे होगी ऐसी है वे सभी सर्वज्ञके ज्ञानमें पृथक् पृथक् रूपसे वर्तमान हैं जाननेमें आ रहे हैं । देखो जितने प्रकारके द्रव्य हैं सभी प्रकारके द्रव्य तीनों समय अपने स्वरूपही की भूमिका लिए हुए हैं, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य था, है और होगा । वह तीनों समयोंमें अपनी सत्ताको लिए हुए रहता है और उनकी जो पर्यायसम्पत्तिका लाभ है वह होता है क्रमसे । प्रत्येक पदार्थ पर्यायसम्पत्तिको क्रमसे पाता रहता है एक साथ सारे पर्याय नहीं आते, सब पर्याय द्रव्योंमें क्रमसे आयेंगे । तो कितने ही पर्यायें तो ऐसी हैं जो हो चुकी हैं, कितने ही पर्याय ऐसी हैं जो हो रही हैं और कितनी ही पर्याय ऐसी हैं जो आगामीकालमें होवेगीं । इनमें से जो हो चुकी हैं वे और जो होवेगीं वे भी सभीकी सभी पर्यायें भगवानके ज्ञानमें एक साथ ही प्रतिभासमें आ रही हैं एक द्रव्यकी तीनों समयकी पर्यायें एक साथ जिस समय ज्ञानमें आवें सभीकी सभी पर्यायें एक समयमें एक साथ आ गईं तो ज्ञानमें संकरता आ गई और यदि क्रमसे एक एक पर्याय आये तो कुछ भेद भी रहा, वहां सर्वज्ञता नहीं । जिसके तीनों कालकी पर्यायें एक साथ आजायें तो आत्माके अनुभवसे वह स्थिति क्या होती होगी ? सबका संकर होगा उस ज्ञानकी स्थिति क्या रही ? वह ज्ञेयाकार भी क्या रहा ? तीनों कालकी पर्यायें सब द्रव्यकी एक साथ वहाँ आजाती हैं । तो भी विशेष लक्षण उनका निश्चित है वह छूटता नहीं । देखो प्रभुके विराट् रूपको, अनंतानंत पदार्थ व उनकी अनंतानंत पर्यायें एक साथ ज्ञानमें आ धमके फिर भी सब ठीक रहे एक ही कालमें उस ज्ञानकी स्थितिमें सबकी सब तीनों कालकी पर्यायें आजाती यह शंकास्पद बात नहीं । छद्मस्थ भी अतीत कालका चिन्तवन करता तो यहांके ज्ञेयाकारमें वह अतीत प्रगट हो जाता है और भविष्यकी बातका भी चिन्तन करे तो वह पर्याय भी वर्तमानमें इस आकार हो जाती है । छद्मस्थके भी अतीतकी बात बिचारनेपर वह आकार ज्ञानमें आ जाता है भविष्य विचार सही हो या न हो सके आकार तो आ ही जाता है हमारे भविष्यका भी आ जाता है तो केवली के आ जानेमें कोई शंका नहीं । जैसे चित्रपट है उसमें अतीत कालके तीर्थंकरोंका भी चित्र लगा दो और वर्तमानके तीर्थंकरोंका भी चित्र लगा दो तथा भविष्यत्के तीर्थंकरोंका भी चित्र लगादो तो वे अतीत वर्तमान और भविष्यतके चित्र उस चित्रपटपर वर्तमानकी तरह एक साथ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । इसी तरहसे भगवानका ज्ञान तो चित्रपटकी तरह है और अतीत और अनागत सभी पर्यायोंका वहाँ ज्ञेयाकार हो रहा है । भूत भविष्यत और वर्तमान के सभी पदार्थ उनके ज्ञानमें एक साथ वर्तमानकी तरह प्रतिबिम्बित हो रहे हैं फिर भी सब

पर्याय भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतिभात हैं।

त्रैकालिक पर्यायोंकी वर्तमानमें दृष्टिगोचरता—दूसरी शंका यह उठती है कि भूत काल और भविष्यकालकी सभी पर्याय भगवानके ज्ञानमें वर्तमान जैसी कैसे हो गई। तो वे पर्यायें अथवा पदार्थ चाहे वर्तमान नहीं हैं, परन्तु पदार्थोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है जो ज्ञेयाकार बना है वह ज्ञेयाकार तो भगवानके ज्ञानमें वर्तमान ही है। जैसे अपनी कोई अतीतकी घटना बिचारी, वह घटना जिस दिन हुई थी उस दिन हुई थी, आज वह नहीं है तो भी जिस कालमें वह विचार रहा है उस विचारके आनेके समय तो घटना वर्तमान रूपमें दीखती है उस घटनाका आकार अथवा बंध अब भी मौजूद है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवानके तीनों कालोंकी पर्यायें वर्तमानमें दृष्टिगोचर होती हैं। जो ज्ञेयाकार होता है, सारे पदार्थोंका जो ग्रहण होता है ऐसा वह जो ज्ञेयाकार है वहां वर्तमानपनेका बिरोध नहीं रहता, अर्थात् वे सारे के सारे ज्ञेयाकार ज्ञानमें वर्तमान हैं ही वर्तमानकी तरह ही हैं। जैसे जो पर्याय आ गईं, आ रही हैं और आवेगी, ऐसी पर्यायें, उनका जो चित्र आया या ग्रहण आया या ज्ञेयाकार जो उसके ग्रहणमें आए वे तो वर्तमानरूप ही हैं। उपयोगभूमिमें तो भूत और भविष्यके पदार्थ व वर्तमान ही हो रहे हैं। भगवानके ज्ञानकी जगह तो वे पर्यायें वर्तमान ही हैं। जैसे छद्मस्थ पुरुषके मनके अतीत पर्यायका विचार आवे तो जिस कालमें विचार आया उस काल में तो वह पर्याय वर्तमान ही है, जैसे चित्रकी भींतमें बाहुबल आदि, या श्रेणिक आदि जो तीर्थंकर आगे होवेंगे, उनका भी चित्र लग गया तो वे तो सब वर्तमानकी तरह ही झलक रहे। इसी तरहसे केवली भगवानके उपयोगकी भींतपर अतीत अनागतके चित्र एक साथ वर्तमान रूपमें आ रहे हैं। इसलिये उनकी ज्ञान भींतपर द्रव्यकी जितनी भी पर्यायें हैं वे सब वर्तमानकी तरह ही प्रतिविम्बित हो रही हैं।

परमें तन्मयता न होनेसे ज्ञानका परमें अप्रयोग—सर्वज्ञतामें भी केवली भगवान पर द्रव्यकी पर्यायोंको जाननेमात्रसे जानते हैं, तन्मयतासे नहीं जानते। उनका परपदार्थोंपर प्रयोग तन्मयतासे नहीं होता। निश्चयसे केवलज्ञान आदि गुणोंके आधारभूत निज पर्यायमें तन्मय होकर जानते। बाह्य पदार्थोंको अपने संवेदनाकारसे तन्मयताकारसे नहीं जाना वे तो अपने संवेदनाकारसे तन्मय होकर अपने आपको ही जानते। भव्य जीव अपने सिद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप जो निश्चय रत्नत्रय पर्याय है, उस पर्याय को ही ये भव्य जीव जानते, इसके अतिरिक्त और किसी दूसरी चीजको नहीं जानते। यह आत्मा अपने ही पर्यायको जानकर सबका जानने वाला कहा जाता। यह जीव अपनी पर्याय को ही निश्चयसे जानता। व्यवहारसे बाह्य पदार्थका भी जानता कहा जाता। तो वह केवली निश्चयसे अपने ज्ञानको ही जान रहे हैं और अपने ज्ञानको जाननेमें व्यवहारसे ज्ञानको जो

तीनों कालकी पर्यायें विषय हो गई हैं वे तीनों कालकी पर्यायें भी जाननेमें आई हैं किन्तु उनमें वे तन्मय नहीं हो रहे हैं। तन्मयता तो भगवानकी निज वर्तमान पर्यायमें ही सहज हो रही है।

ज्ञानमें तन्मात्रकी जाननरूपता—आजकल भी यहाँ तपस्वी लोग और ज्ञानी लोग अतीतकी और भविष्यकी बात बताते हुए देखे जाते हैं। ज्ञानमें ऐसी एक शैली पड़ी हुई है कि यह ज्ञान भविष्यकी बात भी इस ज्ञानको आलम्बन करके यह ज्ञान भविष्यके ज्ञेयाकार रूप हो जाता है। जिनके सम्यग्ज्ञान होता है वे भविष्यकी बातको निश्चय रूपसे कहते हैं और जिनके यह नहीं होता वे कुछ न कुछ रूपसे जानते तो रहते हैं। उस ज्ञानमें ऐसी शक्ति तो है कि अतीतके और भविष्यके पदार्थोंका भी आकार वह जान लेता है। यहाँ पर यह बात सिद्ध होती है कि सिद्ध भगवानके या केवली भगवानके जहाँ कि अतीत और भविष्यके पर्याय झलकते हैं वहाँ ही वर्तमानके भी पर्याय झलकते हैं और जहाँ वर्तमानके पर्याय झलकते हैं वहाँ ही भूत और भविष्यके पर्याय भी ज्ञानके आकारमें आते, वह सबको अविशेषताके साथ एक समय ही जानता है। इस ढंगसे सभी पदार्थ उनके ज्ञानमें आगए विश्वमें अनन्त पदार्थ है, असंख्यात है, वे अनन्त और असंख्यात पदार्थ भी उनके ज्ञानमें आ गए हैं। तो वह ज्ञान तो उनसे भी ज्यादा अनन्त और असंख्य हुआ। उस अनन्त ज्ञानमें अनन्तों पर्यायें आती हैं न उन पर्यायोंमें अन्त होता है और न ज्ञानमें अन्त आता है और जान जाते हैं सब।

वस्तुतः ज्ञानकी असीमता—ज्ञानकी जाननेकी शैली इतनी अद्भुत होती है कि ज्ञान का काम तो जाननेका है और इस जाननेमें भूत भविष्यत और वर्तमान सभी पदार्थ एक साथ आ जाते हैं। केवल वर्तमानका जानन, ऐसा पचड़ा तो मतिज्ञानमें लगता है। ज्ञानका वह इतना ही विकास है, वह स्वयं अनेक निमित्तोंकी अपेक्षा रखने वाला है, ऐसा समझते इसलिये इन्द्रियोंके समक्ष होने वाली बातें ही मतिज्ञान जान पाता है। परन्तु ज्ञान तो केवल जानता है। वह है, था और होगा, इस सबको जानता है। उसमें केवल सत्ताका सम्बन्ध होना चाहिए। सत्ताका सम्बन्ध था, है और होगा, ऐसी बात होवे जब, सबको वह जानता है। पर्यायकी सत्ता वर्तमान होनेके कारण केवली जानते हैं ऐसी बात नहीं है। उनका ज्ञान तो ऐसा संकर हो गया कि सारीकी सारी पर्यायें उनके आ गईं। द्रव्यमें तो वे पर्याय क्रमसे आवेंगी परन्तु क्रमसे आने वाली सारीकी सारी पर्यायें केवलीके ज्ञानमें एक साथ आ गईं। इस तरहसे यह बात सिद्ध की है कि ज्ञानकी ऐसी शक्ति है। ज्ञान तो केवल जानता है। जब तीनों कालकी पर्यायें एक साथ सिद्ध भगवानके ज्ञानमें आ गई तो वहाँ क्रम कहां रहा? जाननेमें आनेका क्रम रहा ही नहीं। दूसरे सिद्ध भगवानके स्वयं यह विकल्प नहीं है कि यह भूतकी है, यह वर्तमानकी है और यह भविष्यकी पर्याय है। वहाँ तो समस्त पर्यायोंका ऐसा

आक्रमण हो गया कि सबकी सब एक साथ प्रगट हो गईं। यह अतीन्द्रिय ज्ञानकी बात है। यहाँकी व्यवस्था अतीन्द्रिय ज्ञानके महत्त्वके द्वारा नहीं कर सकते और केवलीके ज्ञानकी व्यवस्था यहाँके ज्ञानकी व्यवस्थासे नहीं हो सकती, और न वहाँकी व्यवस्थासे यहाँकी अवस्था कोई कर सकता। केवलीके तो एक साथ सारी तीन लोक और तीन कालकी पर्यायें ज्ञानमें एक साथ आ गईं। पदार्थोंकी यह व्यवस्था है कि इनकी अनेक पर्यायें क्रमसे होती हैं, एक साथ नहीं हो सकती। परन्तु सिद्ध भगवान या केवलीके ज्ञानमें तीनों लोक और तीनों काल और तीनों लोककी पर्यायें एक साथ आ गईं। यह केवलज्ञानकी महिमा है। उसको जानकर हम यहाँकी व्यवस्था करें तो वह सब बेकार। किनके लिए बेकार, मोहियोंके लिए। उनका तो अनन्त ज्ञान है, अनन्त स्वरूप है, स्थिति ही अनन्त है, स्वच्छता अनन्त है, जिससे उनके ज्ञान में सब पर्यायें एक साथ प्रतिभासित हो जाती हैं।

त्रैकालिक पर्यायोंकी ज्ञानमें सद्भूतता—अब तक जो पर्यायें नहीं हुईं या जो पर्याय आगे होंगी, ऐसी असद्भावात्मक वस्तु भी ज्ञानमें सद्भूत ही हैं। जो पर्यायें हुईं नहीं या जो अपना स्वरूप पाकर नष्ट हो गईं वे सब वर्तमानमें असद्भूत हैं, परन्तु ज्ञानकी तो प्रत्यक्षताका आभिमुख्य करती ही हैं जैसे श्रेणिक भी जब तीर्थङ्कर होंगे उनकी प्रतिमा या आकार कोई बना ले तो जैसे कि उस शिलाके अन्दर वह आकार निष्प्रकम्प स्वभाव वाला ही है। वैसे ही केवलियोंके जाननेके आकारमें पूराका पूरा ही तो प्रतिभासमान हो रहा है वह पर्याय इस समयमें भी ज्ञानमें ग्रहणमें आ रही है तो ज्ञेयाकार तो वर्तमान ही होगा। कलकी चीज तो कल होगी, किन्तु ज्ञानमें तो वह वर्तमान ही होगी। यादके कालमें तो १० साल पहलेकी भी घटना वर्तमान ही होगी। दो साल पहलेका दुःख भी आज विचारने लग जायें तो आज भी कुछ दुःख हो जायगा। जिस समयमें विचार रहे उस समयमें भूतकी भी और भविष्यकी भी चीज वर्तमान ही हो रही है। इस तरह अतीतकी पर्याय और भविष्यकी पर्याय ज्ञानीके आकारमें आ रही है, तो वे तो उस कालमें वर्तमान ही हो रही हैं। वर्तमान ज्ञेयाकार होने की वजहसे वह सबको जान गया। ज्ञानमें जब ऐसी निर्मलता आ जाती है तो ज्ञानमें यह सीमा नहीं होती कि इतना सीमाको और इतने कालको जाना वह तो अनन्त सीमा और अनन्त कालको जानता। सीमा होगी तो उसके अतिरिक्त पदार्थका ज्ञानावरण आ गया। ऐसे स्वच्छ ज्ञानमें यह सीमा नहीं लग सकती, जिससे कहा जाय कि इतने कालकी पर्याय जानता है, और इतनी सीमाकी जानता है। उसके लिये तो सभी पदार्थ वर्तमान हो रहे हैं। अतीत और भविष्यकी पर्यायें वर्तमान हो रही हैं। इसी प्रकार वह केवली भगवानका ज्ञान है। जिस समय छद्मस्थ अपने ज्ञानमें अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावकी ही जिसकी दृष्टि रहती थी, ऐसा वह छद्मस्थ अपने ज्ञानको केन्द्रित करनेके कारण, अपने आपको संयमित कर

देनेके कारण, उनकी ऐसी निर्मल पर्याय है, ज्ञान ऐसा निर्मल बन जाता है कि आवरणके क्षय होते ही तीनों कालके सारे पदार्थ वर्तमानकी तरह प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। यह केवलज्ञान की स्वच्छताकी महिमा है। वे भगवान परपदार्थको नहीं करते। आत्माके प्रदेश तो यहाँ ही हैं और सारे पदार्थ एक साथ ज्ञेयाकार बन रहे तो यहाँ क्रम कैसे चले यह इस प्रकरणमें बतला रहे हैं। सबके सब पर्याय एक साथ ग्रहण हो रहे हैं, उनका क्रम नहीं हो सकता। वहाँ तो केवल जानन जानन ही हो रहा है। उनके क्रमका विकल्प नहीं है। परन्तु पर्यायोंमें स्वयंमें क्रम है। केवलीके जाननेमें क्रम आना या विकल्पका आना एक ही अर्थ रखता है, सिनेमाकी तरह क्रमसे केवलीके ज्ञानमें सब चित्र आये तो यहाँ विकल्प हो जाता है। केवली भगवानका सातिशय माहात्म्य है कि सबके सब पदार्थ सबकी सब पर्यायें एक साथ उनके ज्ञान में झलक रही हैं, वहाँ विकल्प नहीं। छद्मस्थके ही क्रममें विकल्प आता है। केवलज्ञानकी महिमाका पार गणधर जैसे बड़े-बड़े महर्षि भी न पा सके।

ज्ञानस्वभावके अनुभवका प्रताप—जिन साधुओंने अपने आपमें बिराजमान अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञानस्वभावका आदर किया, उसपर ही जिनकी दृष्टि रहती है, इस प्रकार परके स्वरूपका त्याग करके निजके स्वरूपको ग्रहण करके अपने आपके स्वरूपमें जो निश्चल होकर रहे, ऐसे उन साधुओंके जो निर्मल ज्ञान पर्याय प्रगट होती वह त्रिकालज्ञ और निर्दोष है वह निर्मल ज्ञान पर्याय कैसी है ? उसके आवरणका क्षय हो गया है अतः तीनों लोक और तीनों कालोंकी पर्यायें वर्तमान हो जाती हैं। ज्ञानमें जो पर्यायें आईं तो उस कालमें तो वह ज्ञेयाकार के बराबर ही है। यादमें आई हुई घटनायें; ज्ञानमें आए हुए विचार भी तो वर्तमानकी तरह ही यहाँ हो रहे हैं वे विचार अथवा घटना वर्तमानकी तरह यदि नहीं हैं तो दुःख भरी घटनाओं के याद आते ही दुःख नहीं हो सकता। जिन जिन जीवोंको जब जब दुःख होता वह वर्तमान पर्यायके अनुभवसे होता। द्रव्यमें जो आकार होनेको हैं ये ही ज्ञानमें झलकते। द्रव्यमें जो पर्याय थी और जो है अथवा जो होवेगी वही ज्ञानमें जानी गई। होनेके कारण जाना गया परन्तु जाननेके कारण वह हुआ नहीं। जैसा पदार्थ हो रहा है उसका आकार वह जानेगा। वह ज्ञान जैसा स्वच्छ है कि जैसा हुआ है या हो रहा है या होवेगा वह उस ज्ञानमें आता है। जो कुछ होना है सो केवलीके ज्ञानमें है। ज्ञानके कारण कुछ होता नहीं है, परन्तु निमित्त-दृष्टिसे वैसा होनेके कारण वैसा ज्ञान होता है। जो कुछ हुआ है या होवेगा, जो था वह ज्ञानमें आता। परन्तु मैं तो ऐसा ही जानूँगा, तो ऐसी हठसे तो वैसा हो नहीं सकता। यहाँ तो जो होवेगा सो ज्ञानमें जाना। हमने जो किया वह ज्ञानमें जाना गया। जो कर रहे हैं वह ज्ञानमें जाना गया और जो करेंगे वह ज्ञानमें जाना।

साक्षितामें कर्तृत्वका अभाव—भावनका काम भी ज्ञातादृष्टा, साक्षी रहनेका है।

उनका काम तो केवल जानना ही है। यदि उनके ज्ञानमें ज्ञानके कारण यहाँ वे सब पर्यायें है तो वे सृष्टिके कर्ताके विकल्पी हो गए और केवलज्ञानमें फर्क आ गया। जैसे हम कभी किसी आत्माके विषयमें ऐसा विचार करें कि इसके सींग होगा और पूँछ होगी तो ऐसा हो ही जाय यह तो नामुमकिन बात है। यदि हमारे जाननेके कारण ऐसा होवे तो बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। पदार्थमें पर्याय होती है वह ही केवली जानेगें। जो होवेगी सो ही जानेगा। केवली तो जाननेकी व्यवस्थाके मात्र ज्ञाता है। जैसे ज्योतिषीने जान लिया कि ६ बजे सूर्य उगेगा, तो ज्योतिषीके जान लेनेके कारण सूर्य ६ बजे थोड़े ही उगा, परन्तु सूर्य ६ बजे उगनेसे ज्योतिषीने जाना कि ऐसा होवेगा। ज्योतिषीने बताया कि फलाँ दिन चन्द्रग्रहण होगा। तो चन्द्रग्रहण ज्योतिषीके बतानेके कारण थोड़े ही होगा, चन्द्रग्रहण तो होना ही है, ज्योतिषो तो उसको जानता है और उसने मात्र बताया ही है। उसके ज्ञानमें ऐसा आया कि उस दिन चन्द्रग्रहण होवेगा ऐसा निश्चय है। तो इस प्रकार वह तो ज्ञाता दृष्टा मात्र ही रहा। वह जगतके पदार्थोंका कर्ता नहीं रहा।

आत्मज्ञता व विश्वज्ञता—इस प्रकार अब तक जो हुआ नहीं होगा किन्तु आगे वह व जो हो चुका वह सब वेवलीके ज्ञानमें वर्तमानकी तरह ही प्रगट हो गया, असद्भूत किन्तु अपने अपने कालमें सद्भूत जो पर्याएं हैं वे भी केवलीके ज्ञानमें झलकी। अब यहाँ निश्चय और व्यवहारको भी लगाओ। निश्चयसे ज्ञानी अपनी पर्यायोंको जान रहा है और व्यवहार से सारे विश्वको जान रहा है। ज्ञान गुण तो आत्माके प्रदेशमें ही है, आत्माके बाहर नहीं है। तो ज्ञानकी क्रिया जो भी होगी वह आत्माके प्रदेश ही में तो होगी। आत्माके ज्ञानगुण की क्रिया आत्मप्रदेश ही में तो रहेगी बाहर नहीं रहेंगी। ज्ञानकी जाननेकी क्रिया आत्माके अन्तर ही रहेगी बाहर नहीं हो सकती इसलिए निश्चयसे तो यह वर्णन है कि केवली अपनी ही पर्यायोंको जान रहा है, परन्तु व्यवहारसे यह वर्णन है कि वह सारे विश्वको जान रहा है।

अब आचार्य श्री कुन्दकुन्द महाराज असद्भूत पर्यायोंकी अर्थात् जो हो चुकी हैं अथवा जो आगे होंगी, इस समय सत् नहीं है, उन पर्यायोंको कथंचित् सद्भूतपना धारण करते हैं, यहाँ विदधाति क्रिया देकर श्री अमृतचन्द जी सूरि बड़े रहस्यको स्पष्ट कर रहे हैं—भगवान केवलीके ज्ञानमें असद्भूत पर्यायें ज्ञेय होनेके कारण सद्भूत हैं, और इस विषयको कुन्दकुन्द महाराज बताते हैं, तो बतावेंगे तभी ना, जब अपने ज्ञानमें उसे धारण कर लें, यहाँ कुन्दकुन्द देवने इस प्रकार इस तथ्यको जान लिया कि सूरिजी विदधाति शब्दसे वर्णन कर रहे हैं—

जेणेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया-पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

वर्तमानमें असद्भूत पर्यायोंकी भी ज्ञानमें सद्भूतता—जो पर्यायें अब तक भी संभूति का अनुभव नहीं करती हैं अर्थात् जो पर्यायें अब तक हुई नहीं है। वे भी प्रभुके ज्ञानमें प्रत्यक्ष है यहाँ पर्यायें ऐसा कर्तृपद देनेसे इतना तो सुनिश्चित हुआ कि जिनके बारेमें कहा जा रहा है, वे अवश्य सत्तावाली हैं, परन्तु वर्तमानमें सत्तारूपसे नहीं है, ऐसी भविष्यकाल सम्बन्धी पर्यायें हैं। तथा ऐसी पर्यायें जो आत्मलाभका अनुभव करके विलयको प्राप्त हुई हैं, ऐसी भूत-काल सम्बन्धी पर्यायें हैं, वे भी प्रभुको ज्ञानमें प्रत्यक्ष है। ये पर्यायें अपने स्वरूपका लाभ करके अर्थात् पर्यायोंकी वर्तना प्राप्त करके विलयको प्राप्त हुई हैं। इन पर्यायोंने द्रव्यमें से ही आत्मलाभ किया था, और द्रव्यमें ही विलयको प्राप्त हुई हैं। वे द्रव्यकी एक समयकी अवस्था थीं, द्वितीय अवस्था होनेके कालमें विलयको प्राप्त हुईं यह विलय बड़ा विलक्षण है। द्रव्यसे बाहर कहीं जाकर नष्ट नहीं हुई और न द्रव्यमें गुप्तरूपसे उपस्थित है, फिर भी द्रव्यमें विलीन हो गई हैं। द्रव्यकी समस्त पर्यायें उद्भव, विलय या भावरूपसे द्रव्यमें है। द्रव्य त्रैकालिक है वह अवस्थासे दूर होकर रह ही नहीं सकता। यही कारण है कि हम किसी भी पर्यायको मुख्य करके द्रव्यको नहीं विचार सकते। द्रव्य या तो सर्व पर्यायरूप एक चिन्तनामें आवे या किसी भी पर्यायरूप नहीं, किन्तु मात्र स्वभाव रूपसे चिन्तनमें आवे तब ज्ञेय होता है। ये सभी भूतकाल या भविष्यकाल सम्बंधी पर्यायें यद्यपि वर्तमानमें असद्भूत हैं, असत् हैं, तथापि सर्वज्ञ भगवान अथवा सीमित पर्यायके लिये अवधिज्ञानी आदिके ज्ञानके प्रति नियत हैं। अतः वे सब पर्यायें ज्ञानकी प्रत्यक्षताको अनुभव करते हैं। ज्ञानमें तो सदा ही वर्तमान है, इस कारणसे सद्भूत ही हैं, यहाँ ज्ञानकी ओरसे देखो, वे सभीकी सभी पर्यायें वर्तमान पर्याय ही की तरह ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं, वर्तमान हैं।

क्रमवर्ती पर्यायोंकी युगपत् झलक—यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके ज्ञानमें, जिस कालक्रमसे वे सब पर्याय होना है, उस क्रमसे सद्भूत पर्याय ज्ञेयमें हो रही है, परंतु भूत भविष्य वर्तमान का केवली भगवानके विकल्प नहीं हैं, और वे सब पर्याय एक कालमें ज्ञेय हैं, तब छद्मस्थको भी शायद केवलीके विषयका पता लग जाय, तो वह भी क्या निर्णय करे कि इन पर्यायोंमें यह पर्याय वर्तमान है और यह पर्याय भूतकालकी तथा यह भविष्यकालकी है एवं केवली भगवान तो निर्विकल्प हैं उन्हें निर्णय जैसे विकल्पकी पड़ी ही क्या है ? भैया ! देखो क्रम भी झलका तो भी उन पर्यायोंका यहाँ यह निर्णय कठिन है, भूतकालकी कौन और भविष्य अथवा वर्तमान कालकी कौन पर्याय है ? प्रभुकी यही तो विलक्षण लीला है इसका अनुभव वे ही कर सकते हैं। धन्य है, हे केवलज्ञान ? तुम उत्कृष्ट निर्मल ज्ञानवृत्ति हो किसी भी प्रकारकी मली-मसताको तुममें स्थान नहीं है। अहा, इस केवलज्ञानमें सभी पर्यायें सद्भूत हो रही हैं। जैसे एक पाषाणकी शिलामें भूतकालके देवों और भविष्यकालके देवोंकी तथा वर्तमानमें विहरमान

देवकी प्रतिमायें उकेर दी जावे तो उस शिलामें भूतकालके वर्तमान कालके व भविष्यकालके सभी वे देव एक कालमें वहां या जानने वालेके ज्ञानमें सद्भूत ही हैं। उसी प्रकार समस्त पर्यायें भगवानके ज्ञानमें उत्तीर्ण हैं, सो वे सब पर्यायें भूतकी हों, वर्तमान व भविष्यकी सभी सद्भूत हैं।

निश्चय और व्यवहारसे ज्ञेयाकार व ज्ञेयकी सद्भूतता—यहाँ नयविभाग करके ऐसा विशेष ज्ञान करना चाहिये कि ज्ञानमें सर्व पर्यायोंका ग्रहण है, सो ज्ञानमें ज्ञेयाकारकी अपेक्षा सद्भूत निश्चयनय है, परन्तु ज्ञानमें वे सब भासते हैं। अतः वे सर्व पर्यायें सद्भूत हैं, यह व्यवहारनयसे है। जैसे कि भगवान उत्कृष्ट आनन्द ही है, एक स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाववर्तनको मोक्षपर्यायको तन्मयतासे अनुभवते हैं, जानते हैं। इसी प्रकार सर्व पर्यायोंके अनुरूप ज्ञानमें जो ग्रहण है, उस निज ज्ञेयाकार रूप ज्ञानवृत्तिको तन्मयतासे उस काल करके परम्परया अनंतकाल तक तन्मयतासे अनुभवते हैं, जानते हैं। हम सब भी तो इसी प्रकार यथासंभव जितने पदार्थोंके अनुरूप हमारे ज्ञानमें जो ग्रहण है, उस निज ज्ञेयाकार ज्ञानवृत्तिको उस कालमें तन्मयतासे अनुभवते हैं, जानते हैं। परन्तु इस ज्ञेयाकारमें जो विषय पड़ा है। ऐसे समस्त परद्रव्य पर्यायोंको भगवान जानते हैं, यह व्यवहारनयसे कथित है। हमारे ज्ञानके लिये भी जो परद्रव्य पर्यायोंका जानना कहा जाता है, यह भी व्यवहारनयसे कथित है। भगवानका ऐसा परिस्पष्ट ज्ञानस्वरूप है, जिसमें कि सर्वद्रव्य पर्यायें सहज ज्ञेय होते हैं, उसकी भावना करने वाले निजसंवेदन पर्यायको तन्मयतासे अनुभवते हैं, जानते हैं। यह तो निश्चयनयसे है, और सिद्ध भगवानको या केवलज्ञानको हम जान रहे हैं, यह सब व्यवहारनयसे कथित है। यहाँ ज्ञानकी असीम महिमा बताई है। ज्ञानका कार्य जानना है, सो जो कुछ भी था, है, होगा, उस सबको जाननेमें आवारक कोई पदार्थ नहीं, अतः सर्वको यह केवलज्ञान जानता है। अतः जो पर्यायें बीत चुकी हैं अथवा जो पर्यायें होने वाली हैं, वे भी सब केवलज्ञानमें प्रत्यक्षविषयताको अनुभवते हैं, सो सब सद्भूत हैं। अब आगे इसी सम्बंधमें और भी पुष्टि करते हैं कि असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष ही हैं—

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वंति हि के परूविति ॥३९॥

ज्ञानकी दिव्यता—यदि अजात कहिये भविष्यकी पर्याय तथा प्रलयित कहिये अतीतकालकी पर्यायें समस्त ज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होवे तो फिर वह दिव्य ज्ञान कैसे कहला सकता, उसे दिव्यज्ञान कौन कह सकता। दिव्य ज्ञानकी कथा छोड़ो वास्तवमें तो वह ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञानका स्वभाव जानना है। हमारा वर्तमान ज्ञान भी अपने स्वभावका काम कर रहा है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश ज्ञानावरणका निमित्त पाकर सम्पूर्ण विकासमें नहीं है,

फिर भी अतीत अनागतकी बात समझनेको उद्यत हो ही रहा है। यह तो ज्ञानावरणका निमित्त पाकर सम्वृत्त हुए ज्ञानकी कथा है, किन्तु जहाँ ज्ञानावरण लेश भी नहीं रहा, वहाँ ज्ञानके कार्यमें मर्यादा बनानेका हेतु ही क्या ? अतः वह ज्ञान असीम जानता ही है। यदि यह ज्ञान समस्तको न जाने तो थोड़ेको जानना तो सर्वथा असिद्ध है ही और समस्तको जानना स्वीकार नहीं है तब वह ज्ञान जाननपनसे रहित होनेके कारण ज्ञान ही नहीं रहा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ज्ञान निश्चयसे सहज आनंद है एक स्वभाव जिसका ऐसे निज शुद्ध आत्मामें तन्मयतासे जानन करता है तथापि यह निश्चयकी दृष्टिसे तो सत्य है, फिर भी परिणमन तो वहाँ समस्त विश्व ग्रहणरूप है। अतः व्यवहारनयका विषय खंडित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकारसे तो हम सभी मात्र स्वमें ही तन्मयतासे परिच्छेदन करते हैं, किन्तु जो परिच्छेदन है वह जिन-जिन वस्तुओंके परिच्छेदनरूप है, उन द्रव्योंके तथा उनके गुण और पर्यायोंके परिज्ञानसे बाहर नहीं किया जा सकता है। निर्दोष आत्माके विज्ञानमें समस्त तत्त्व जो पर्यायमें सत् है, पर्याय है अथवा होगा, वे सभी द्रव्य गुण पर्याय क्रमरहित एक साथ इन्द्रियों बिना साक्षात् प्रत्यक्ष होते हैं।

संभावित भाव व असंभावित भावकी ज्ञानप्रत्यक्षता—भविष्यकी पर्यायोंको असंभावित पर्याय हैं। होना तो अपने कालमें निश्चित है, परन्तु अभी संभावित नहीं हुए इसी तरह अतीत पर्यायोंको संभावित भाव कहते हैं, जिनका होना अच्छी तरह यथास्थितिसे हुवाया गया है। पर्याय, परिणमन उसी द्रव्यकी वर्तमान तरंग अवस्था है, वह अपने उपादानसे ही उत्थित होती है। वह द्रव्यमें उस काल तन्मय होती है, तथापि उस काल भी द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करती अर्थात् उस कालमें भी वह स्वभाव नहीं हो जाता है। पर्याय द्रव्यका क्षणिक प्रभाव है। वह प्रभाव यदि स्वभावके अनुकूल है तो वह केवल साधारण काल निमित्तको पाकर जो कि स्वतः सदा अनिवार्य होता ही है, होता है। इस स्वभाव प्रभावमें पर उपाधि नहीं होती। किन्तु यदि प्रभाव स्वभावके विपक्ष है, तब साधारणकाल निमित्तके अतिरिक्त अन्य उपाधिके सन्निधानको निमित्त पाकर अपने उपादानसे ही उठकर वर्तमान होता है। ऐसी समस्त पर्यायें वस्तुतः अपने कालमें वर्तमान समयमात्र क्षणिक हैं, परन्तु विभाव अन्य समयनिरपेक्ष न होनेसे किसी जातिका विभाव साधारणतया आवली, अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होता है। सर्व द्रव्योंकी समस्त पर्यायें सर्वज्ञके ज्ञानमें युगपत् प्रत्यक्ष प्रतिभासित हैं, क्योंकि कोई प्रतिबन्धक निमित्तरूप ज्ञानावरण कर्म न रहनेसे ज्ञानका प्रताप निर्विघ्न बढ़ ही जाता है वह प्रताप किसी प्रकार खंडित नहीं होता। यह ज्ञान ऐसे एकदम वेगसे सर्व विश्वको जानता है जैसे मानो ज्ञानने अनिवार्यतया सर्व तत्त्वोंपर आक्रमण कर दिया हो अथवा सर्वज्ञेय अपना स्वरूप सर्वस्व ऐसे वेगसे सर्वज्ञके ज्ञानको समर्पित कर देते हैं मानों सर्वज्ञेयोंका सब ज्ञानमें

एक साथ हमला हो गया हो। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानकी महिमा ही क्या? अथवा वह ज्ञान ही नहीं रहेगा। अतः आवरणके हटते ही स्वयं ज्ञानशक्तिसे प्रगट होने वाले केवलज्ञानके सब द्रव्य गुण पर्यायोंका जान लेना निश्चित सिद्ध है। अतीत और अनुत्पन्नको जाननेकी सामर्थ्य न होना तो इन्द्रियज्ञानमें ही घटित होता है इस अभिप्रायको लेकर अब श्रीमत्कुंदकुंद देव इन्द्रियज्ञानीके सम्बन्धमें वितर्कण करते हैं—

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कंति पण्णत्तं ॥४०॥

इन्द्रियज्ञानकी परोक्षभूतता—इन्द्रियोंके सन्निधानमें प्राप्त हुए पदार्थको विचार विमर्षपूर्वक ईहादिज्ञानपूर्वक जो जीव जानते हैं उन जीवोंको परोक्ष वस्तु जानना अशक्य ही है ऐसा वीतराग ऋषिराजने कहा है। छद्मस्थोंका ज्ञान ईहादिक्रमसे होता है वह अनेक पदार्थोंको स्पष्ट कैसे जान सकता है? तथा छद्मस्थोंको ज्ञान - इन्द्रिय और विषयोंके सन्निकर्षको पाकर उत्पन्न होते हैं अतः सबके साथ ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध असंभव है। पुनः वह इन्द्रियज ज्ञान सबको कैसे जान सकता है? यहां इन्द्रियाँ और पदार्थोंके सन्निकर्षसे तात्पर्य इतना ही समझना कि जितने दूर समीप योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको इन्द्रियोंके निमित्त द्वारसे आत्मा जानता है उतने मुकाबलेमें इन्द्रिय व विषयोंका उपस्थित होना सन्निकर्ष है। इस प्रकारके सन्निकर्षको पाकर जानने वाला ज्ञान न विस्तृत क्षेत्रको जान सकता है, न भूत भविष्यत्को जान सकता है और न सूक्ष्म पदार्थोंको जान सकता है। किन्तु ये हैं सब ज्ञेय। तब किसी न किसीके द्वारा ज्ञात होना ही चाहिये सो वह अतीन्द्रिय ज्ञानका ही कार्य है। अतीन्द्रिय अनैमित्तिक उत्पत्तिके स्वभाववाला होनेसे एक साथ ही सर्व कालवर्ती सूक्ष्म, स्थूल, मूर्त अमूर्त सर्व पदार्थोंको जानता है। अतः सर्वज्ञ आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होता है इन्द्रियज्ञानसे नहीं। क्योंकि इन्द्रियका सन्निपात किसी स्थूल पदार्थके एकदेशपर ही हो सकता है। अमूर्त पदार्थोंमें तो असंभव ही है सूक्ष्म पदार्थमें भी असंभव है। जिन पर्यायोंने अपना कोई विशिष्ट अस्तित्वकाल ढो दिया है उन्हें तो जानेगा कैसे तथा जिनका अस्तित्व अभी उपस्थित नहीं हुआ ऐसी पर्यायोंको जाने कैसे? एक पदार्थमें पर्यायोंकी अपेक्षा भिन्न २ अस्तित्व है अतीन्द्रियज्ञानके लिये पदार्थका अस्तित्व मात्र ही बात है। विशिष्ट अस्तित्व चाहे बीत चुका हो तो क्या? व उपस्थित न हुआ तो क्या है? किसी कालावच्छेदेन अस्तित्व हो उस सबको विशुद्ध ज्ञाता जानता है। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञता अतीन्द्रियज्ञानमें ही होती है, इन्द्रियज्ञानमें उसकी संभवता नहीं हैं। अतीन्द्रियज्ञानमें क्या क्या ज्ञेय हैं इस विषयमें जो जो भी उत्तर दिये जावें वे सब संभव हैं। अब इस गाथामें उक्त भावका विवरण करते हैं—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

जो ज्ञान एक प्रदेशीको, बहु प्रदेशीको, मूर्त पदार्थको, अमूर्त पदार्थको, भविष्यत् पर्यायों को, अतीत पर्यायोंको सबको जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है ।

इन्द्रियज्ञानमें अनेक वैकल्य—इन्द्रियज्ञान अनेक बहिरंग व अन्तरंग कारणपूर्वक जानता है अतः वह सबको जाननेमें असमर्थ है । इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्तिके बाह्य कारण ये हैं—उपदेश, मन, इन्द्रिय आदि और अन्तरंग कारण ये हैं—लब्धि, उपयोग, संस्कार आदि । यद्यपि इन्द्रियज्ञानमें ज्ञानकी ही सामर्थ्य है, अन्य किसी भी परद्रव्यकी सामर्थ्य नहीं है, तथापि जहाँ ज्ञान अपना असर इन्द्रिय मनके व्यापारको निमित्त पाकर प्रकट करता है, वह ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान है । इसमें यद्यपि अपने कार्यके लिये स्वतन्त्रता है, यद्यपि विशिष्ट क्षयोपशम वाला यह ज्ञान अन्यको निमित्तमात्र पाकर अपनी स्वतन्त्रतासे परिणम रहा है, तथापि यह बहुप्रदेशीको ही एकदेश जान सकता है, एक प्रदेशीको नहीं । यहाँ अप्रदेशसे तात्पर्य एकप्रदेशी द्रव्यसे है, जैसे अणु व कालद्रव्य । इन्द्रियज्ञान स्थूल पदार्थका ही उपलंभक है, जानने वाला है, वह सूक्ष्मद्रव्यके जाननेकी व्यक्तिवाला नहीं है । इन्द्रियज्ञानका विषय मूर्त पदार्थ ही है, अतः वह मूर्त पुद्गल द्रव्यको ही जानता है, अमूर्त पदार्थको नहीं जान सकता । इन्द्रियज्ञान विषय विषयीके सन्निपात पूर्वक उत्पन्न होता है और यह सम्बन्ध वर्तमानमें ही हो सकता है, क्योंकि जो पर्याय प्रलीन हो चुकी अथवा जो अब तक आई नहीं उनके साथ इन्द्रियोंका सन्निधान है ही नहीं । इसका कारण स्पष्ट है कि भूत भविष्यत पर्यायें वर्तमानमें स्पष्ट हैं । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियज्ञान बहुप्रदेशी मूर्तिक पुद्गलद्रव्यकी वर्तमान पर्यायको एकदेश जान सकता है, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान सर्वको जानता है । अतः सर्वज्ञता अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही है ।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी सकलप्रत्यक्षता व समृद्धता—अतीन्द्रियज्ञानकी दशा पूर्ण निराकुल रहनेकी अवस्था है । पूर्ण निराकुलता ही हमारा ध्येय है, इसकी अवस्थाको पहिचानना हमें आवश्यक है, जिसे प्रथम ध्येय बनाकर स्वभाव में विलीन कर स्वभाव प्रतिभास रूप पुरुषार्थसे पाना है । निराकुल प्रतिभासका परिणमन एक ऐसा अपूर्व निमित्त है कि जिस निमित्तको पाकर ज्ञानावरणादि आत्मघाती कर्म स्वयं क्षीण हो जाते हैं, तब आवरण रहित यह ज्ञान अतीन्द्रियज्ञान होता है और सर्व प्रकारके पदार्थोंको सर्वदेश स्पष्ट जानने लगता है । ज्ञानका स्वभाव जानना है । हमारा ज्ञान साधारण है । अतः अन्तरंग आवरण रागादि पर्याय व बहिरंग आवरण ज्ञानावरणादिको निमित्तमात्र करके अपनी अजघन्य वृत्तिसे परिणम रहा है, किन्तु अतीन्द्रियज्ञान निरावरण है । अतः उसकी सीमा होना असंभव है, इस ही कारण जो कुछ भी ज्ञेय है, वह सब अतीन्द्रियज्ञान द्वारा परिच्छेद्य है, चाहे वह एक प्रदेशी

हो, बहुप्रदेशी हो, मूर्त हो अथवा अमूर्त हो, भूत हो अथवा भविष्यत् कुछ भी हो, सभी अतीन्द्रिय ज्ञानमें ज्ञेय है। समस्त पदार्थोंमें प्रमेयत्व गुण है। अतः अवश सकल ज्ञानके प्रमेय होते हैं। जैसे ज्वलमान अग्निका दाह्य वह सब है, जितनेका आकार रूप अग्निका परिणमन है, और अग्निका उतने आकार रूप परिणमन है, जितना वह सब दाह्य है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानका उतने आकाररूप परिणमन है, जितना कि सर्व ज्ञेय है। इस प्रकरणसे यह प्रयोजन लेना कि सर्वज्ञ अतीन्द्रियज्ञानसे ही होते हैं। सर्वज्ञता निराकुल दशाकी स्थायी अवस्था है। इससे विपरीत इन्द्रियजज्ञान और मानसिकज्ञान है। अतः इस अशक्त ज्ञानकी दृष्टिको त्याग करके समस्त विकल्परहित परम समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें रमण करना चाहिये, इससे ही वीतराग व सर्वज्ञकी अवस्था प्रकट होगी। जिस अवस्थामें निराकुलताके विनाशका कभी किञ्चित् भी संदेह नहीं है।

प्रश्न—जब यहाँ हम लोगोंका ज्ञान जिस ज्ञेयके आकाररूप परिणमता है, उस ज्ञेयके अनुरूप साता असाता विकल्पकी क्रिया बन जाती है, तब ज्ञेय अर्थके अनुरूप परिणमनेकी बात सर्वज्ञके भी होगी और इस प्रकार हम थोड़ेसे ज्ञेयके ज्ञानसे इतने व्याकुल हो जाते हैं, तब सर्व के जाननहारकी विह्वलता तो असीम हो जायगी ? उत्तर—बन्धुओ ! ज्ञेय अर्थके अनुरूप साता असाता रूप परिणमनकी क्रिया ज्ञानसे नहीं होती, किन्तु निर्विकार स्वसंवेदन रूप ज्ञानानुभव के अभावमें किसीके चारित्रगुणके विकारसे होती है। आगे इसी विषयके सम्बंधको लेकर प्रकारान्तरसे आचार्य देव कहते हैं—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणंत्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

ज्ञेयार्थपरिणमनमें विशुद्धताका अभाव—यदि ज्ञाता ज्ञेय अर्थको परिणमे अर्थात् पदार्थ को जानते हुए पदार्थ सम्बंधी यह ऐसा है, इत्याद्याकारक विकल्प तो क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही होते हैं। विकल्प करते हुए ज्ञाता पुरुषको जिनेन्द्रदेवने कर्मका अनुभव न करने वाला कहा है। परिच्छेत्ता पुरुष वही है, जो परविषयक ज्ञान करते हुए ज्ञेयसे पृथक् निज तत्त्वके निजके अनुरूप ही परिणमे। यदि वह परिच्छेद्य अर्थके अनुरूप विकल्पसे परिणमता है, तो वह स्वाभाविक ज्ञानका लक्षण नहीं है, अथवा वह ज्ञान ही नहीं है। जो संकल्प विकल्प है, वह श्रद्धा व चारित्रगुणका विकार है। ज्ञानका कार्य मात्र जानन है। ज्ञानका जाननरूपसे ही प्रकट होना ज्ञानकी अवस्था है, इसके साथ जो विकार भाव है, वह सब मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्त पाकर अन्य गुणोंका विकार है। छद्मस्थ जीवोंमें जो यह जघन्य स्थिति पाई जाती हैं, वह कर्मके निमित्तसे है। किन्तु जीवगुणघातक समस्त कर्मोंका जिनके क्षय हो चुका है, उनके अब अत्यन्त स्वायत्त स्वाभाविक परिच्छेद है। पदार्थके विषयमें कुछ भी कल्पना करना

ज्ञानकी अस्वाभाविकता है। पदार्थ जैसा अवस्थित है, उसरूप जाननमात्र ज्ञानकी स्वाभाविकता है। जो कोई जीव अर्थके अनुकूल परिणमता है, अर्थात् विकल्प या इष्ट अनिष्ट भाव करता है, वह कठिन निज कर्मके भारको तथा इस निमित्तको पाकर बँधे हुए कार्माणके भार को भोगता हुआ आकुल रहता है, जैसे कि कोई मृग मृगमरीचिकामें जलकी कल्पना कर दुःसह क्लेशको सहता है।

अतीन्द्रियज्ञानमें मलीमसताका व आकुलताका अभाव—सर्वज्ञ देवका ज्ञान अतीन्द्रिय है, क्षायिक है, उसमें अस्वाभाविकता अथवा मलीमसता नहीं है। क्षायिक ज्ञानीकी विकल्पपरता तो दूर रही, छद्मस्थ अवस्थामें भी जिसे प्रगट करने वाला है, उस योगीके भी विकल्पपरता नहीं है। उसके बहिरंग ज्ञेय पदार्थका अवलम्बन भी नहीं है। इसी कारण रागादि विकल्प रहित उत्कृष्ट स्वसंवेदन ज्ञान उसके होता है। जिसके फलस्वरूप अत्यंत विशुद्ध लोकालोकप्रकाशक त्रिकालज्ञ केवलज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट सिद्ध है कि ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया ज्ञानसे नहीं होती। यदि ज्ञान पहिले अर्थ रूपसे परिणमे पश्चात् अर्थ को जाना करे अर्थात् यह अमुक है, यह अमुक है, इस प्रकार विकल्पकी पूर्ति करे, पश्चात् जाने तब तो पदार्थ अनन्तानंत है, विकल्पोंकी पूर्तिको ही अधिक समय चाहिये, फिर सकलज्ञता कैसे हो सकती है? तथा निरावरण ज्ञान सकलज्ञ न हो सके तो वह ज्ञान ही नहीं है। भगवंत अरहंत सिद्ध प्रभुके केवलज्ञानमें कोई कमी नहीं है। जो ज्ञानकी वृत्ति है, वह पूर्ण है और जो विकाररूप वृत्ति है, वह किञ्चित् भी नहीं है। केवलीके ज्ञानका विलास अद्भुत है, इसमें तीन लोक व अलोक तथा भूत वर्तमान भविष्यत् सर्वकाल विकल्पकी रुकावट बिना स्पष्ट प्रतिभासित होता रहता है। ज्ञानका ही काम ज्ञान करता है, विकारका काम नहीं। एक शक्ति दूसरी शक्तिका काम नहीं करती, और न कोई शक्ति परिणमे बिना रहती है। केवली भगवानकी ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति स्वभावरूप परिणम रही है। परमात्माके ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियाके हेतु रति अरति भाव नहीं है। अतः पूर्ण निराकुल परिणमनके साथ अपने ज्ञाता स्वभावरूप परिणम रहे हैं।

प्रश्न—यदि ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया अर्थात् रागद्वेषमयी वृत्ति ज्ञानसे प्रकट नहीं होती है तब यह क्रिया व इसका फल रूप आकुलता कैसे प्रकट होती है? इसके उत्तरस्वरूप श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य विवेचन करते हैं—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसुहिं मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुहवदि ॥४३॥

उदयगतभावोंमें अनुरक्तके बंधका अनुभव—जीवके कषायभावको निमित्त पाकर बँधे हुए कर्म अपनी अवधि समाप्ति होते ही स्वभावसे उदयको प्राप्त होते हैं उनके निमित्तसे

शुभ अशुभ कर्म फल व्यक्त होता है। यदि आत्मा उनमें रागद्वेष न करे तो उस कर्म फलके कालमें भी बंध नही होता, परन्तु उन कर्म फलोंमें जो मोहित हो, रागी हो, द्वेषी हो, वह बन्धको अनुभवता है। संसारी जीवके तो पुद्गलकर्म उदयागत हैं ही। यह उदय पुद्गलकर्मके परिणमनसे है इसको निमित्त पाकर जीव सुखी और दुःखी होता है अथवा बाह्यविभव व विपदाओंका समागम होता है। यहाँ ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिने अंतरमें ज्ञानमय परिणमता है वह हो रहे कर्मफलमें एकत्व नहीं करता किन्तु कर्मफलोंमें ही "मैं कर्म करता हूं, मैं कर्मफल भोगता हूं" इस प्रकार अनुभव करने वाला मोह राग द्वेषसे परिणत होता है अतएव ज्ञेयार्थपरिणमन रूप क्रियासे बंध होता है। पदार्थोंको जानकर इष्ट अनिष्ट भाव करना ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया है। इसके फलस्वरूप बन्ध हो जाता है। इस प्रकार यही निश्चित सिद्ध हुआ कि क्रिया व क्रियाका फल ज्ञानसे नहीं होता है किन्तु मोहके उदयसे होता कर्मके उदयसे नैमित्तिक भाव जो होता है वह इतना ही सात असात आदि रूप है वह भी आत्मचारित्रगुणका विकार है उसमें एकत्व करना मोहका कार्य है, ज्ञानीके भ्रमका विनाश होनेसे मोहकी योग्यता है ही नहीं। अतः कर्मका उदय बंधका कारण नहीं और न ज्ञेयका जानना रागद्वेषका कारण है निर्विकार शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनासे च्युत हुआ यह जीव अपनी अवस्थामें मोहरूप विशेष करता है तब मोहमूलक रागद्वेष होने से कर्म प्रकृतिके बंध-स्थितिका बंधन अनुभागका सम्बन्ध लेते हुए प्रदेश बंधकर आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें स्थित हो जाते हैं। इसमें मोह रागद्वेष अंतरंग निमित्त कारण है इसके विपाकसे हुए कर्म बन्धके उदयको निमित्त पाकर फिर विकल्पको अनुभवता और यह परंपरा तब तक चलती है जब तक विभावसे एकत्व नहीं तोड़ा जाता। मलीन अवस्थामें भी आत्मा स्वभावसे है परभावसे नहीं। जिस भावसे मैं नहीं उसकी एकताका विकल्प मिथ्या है अहित है। भगवान केवलीका ज्ञान अत्यन्त स्वच्छ अतीन्द्रिय है उनके ज्ञानमें त्रिलोक त्रिकाल असमान होनेपर भी ज्ञेयार्थ परिणति, इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती है यही सुखका मूल है। ज्ञान ज्ञान बना रहना सुख है। कर्मका उदय होनेपर भी ज्ञान बंधका कारण नहीं होता किन्तु बंधके कारण तो रागादि अध्य-वसान भाव ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे ज्ञेयार्थपरिणतिरूप क्रिया नहीं होती है और इस कारण ज्ञानसे बंध नहीं होता है बंधक तो उदयमें जुड़ने वाला जीव है।

अब श्रीमत्केवली प्रभुको विहारादि क्रिया भी क्रियाके फलको अर्थात् बंधनको नहीं करती है ऐसा अनुशासन करते हैं— कहते हैं। भगवानके अनुरूप यथायोग्य अपना उपयोग नहीं बनता, तब इस प्रकार अपने को बनाना अनुशासन ही तो है। प्रभुका शासन कभी न बदलता और न कभी मलिन होता है। यहां आचार्यदेव सर्वज्ञदेवकी निश्चित सहज सुव्यवस्था को कहते हैं।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥४४॥

सकलपरमात्माके अकषाय योग—चारित्रमोहके बिना विचार नहीं होता । अरहंत के विचार भी नहीं, क्योंकि चारित्र मोह नहीं होता । अन्तरंगपरिणतिसे वे तो सिद्धकी तरह हैं । भगवानकी जो क्रिया होती, वह तो योग निमित्तसे होती । योगको यह आवश्यकता नहीं कि वह विचार होय तो होय । योगके प्रवर्तन करनेके सहयोगकी आवश्यकता नहीं । दिव्यध्वनि का भव्य जीवोंका भाग्य और उनका वचनयोग सहयोगी है । दुनियामें कोई काम पुण्य पापके बिना नहीं होता । यह निमित्तकी दृष्टिसे वर्णन है, उपादानकी दृष्टिसे नहीं । निश्चयसे तो निजकी परिणतिसे ही उसकी परिणति है ।

दृष्टान्तपूर्वक प्राकृतिक क्रियाका विवरण—यहां मेघका दृष्टान्त दिया गया है । जैसे मेघ गरजता है, परन्तु वह विचारकर नहीं गरजता या मेघ चलता है, तो वह विचारकर नहीं चलता । इसी तरहसे यह तो दृष्टान्त विहार और वचनपर दिया गया । जैसे मेघका विहार और वचन बिना विचारके होता है, इसी प्रकार अरहंतका वचन और विहार बिना विचारके होता है । अरहंतमें विचार नहीं हैं । उनका मन तो द्रव्य मन है । जैसे मेघके आकारोंमें परिणत हुआ यह पुद्गल इसका गमन भी हो रहा है, यह एक स्थानपर खड़ा भी है, यह गरजता भी है, अथवा पानी भी बरसता है इसी प्रकार भगवानका विहार भी होता है । वे एक स्थान पर अवस्थित भी होते हैं, उनके वचनोंको गरजना, समझना और मेघकी तरह जलकी वर्षा भगवानकी दिव्यध्वनिकी वर्षा अमृतकी वर्षा समझना । तो जैसे मेघ अपनी कोई क्रिया विचार कर नहीं करता उसी प्रकार भगवानकी कोई भी क्रिया विचारकर नहीं होती । पुरुषके प्रयत्नके बिना जैसे मेघमें यह देखी जाती है उसी प्रकार केवलीमें भी ठहरने, चलने आदिकी क्रिया अबुद्धिपूर्वक भी देखी जाती है । इसी प्रकार ठहरने, चलने, विहार करने, धर्मोपदेश देने आदिकी क्रियाएं मोहके उदयसे नहीं होतीं और उनके ये क्रिया विशेष होती भी है, तो उन क्रियाओंसे कर्मफल जो बंध है वह नहीं होता है । कभी-कभी आपमें भी क्रियायें हो जाती हैं, जिनका विचार नहीं होता । जैसे पैदल कहीं जाते हैं और बिना विचारे ही १० कदम आगे चल जाते हैं । तो यह पैदल चलना बुद्धिपूर्वक तो नहीं होता है । उस चलनेके निमित्तसे बंध भी नहीं होता । जहाँ दिमाग लग रहा है, कषाय हो रही है उसकी वजहसे बंध हो रहा है, इसी प्रकार भगवानके भी कोई क्रिया विचारसे नहीं होतीं । वह तो भव्य जीवके भाग्यसे होती है ।

वीतरागकी क्रियामें क्रियाफलकी अनुत्पादकता—भव्य जीवोंके भाग्यसे वीतराग भगवान के जो जो क्रिया होती है वह क्रिया फलको पैदा नहीं करती याने बंधको पैदा नहीं करती ।

केवलीकी क्रिया विचारपूर्वक भी नहीं होती तो भी उनके श्रीविहार आ गया। विहार वगैरहकी क्रियाएं उनके होती ही रहती हैं। केवलीका विहार भी श्रीविहार आचार्यों द्वारा कहा गया है। केवलीके श्रीविहार इस प्रकारका शब्द कहनेमें श्रद्धा आती है। जैसे मेघ ठहरता है अथवा चलता है तो बिना प्रयत्नके या बिना विचारके ठहरता या चलता है, इसी प्रकार केवलीके मोहके अभावमें जो क्रियाएं होती हैं वे उनके बन्धको पैदा नहीं करतीं। केवली भगवान ऐसे वीतराग हैं कि भगवान केवली हो रहे हैं तो आपके लिये कुछ लौकिक सिद्धि करने वाले नही रहे। वे तो भगवान ही रहे। वे दूसरोंसे बातचीत मिलना जुलना भी नहीं करते। वे तो केवल भगवान ही गये, वे तो सबसे निराले, सबसे अलग, सबसे निर्मल भगवान हो गये। भव्य जीवोंके भाग्यकी वजहसे वे समवशरणमें बैठे होते हैं और उनकी क्रियाएं होती हैं। वहाँ उनका कोई सम्बन्धी बैठा हो तो उनसे कोई भी बोल नहीं सकता। वे तो सबके लिये निराले हो गये। भगवान हो गये। भव्य जीवोंका जो भाग्य है व निश्चयतः उनके आयुका उदय है इस लिये वे यहाँ हैं, परन्तु यहाँ रहकर भी वे केवल सिद्ध की तरह हैं। ज्ञानी भी शरीरसे अपने आपको उपयोग द्वारा न्यारा रखता, इसी प्रकार केवली तो परमोपेक्षासे अपने शरीरसे न्यारे हैं। शरीरकी क्रिया इस प्रकार क्रिया विशेष होने पर भी बन्धको करने वाली नहीं होती। जिस जीवने वस्तुके स्वरूपको समझा और इसी तरहसे अपनेको भी वस्तुके एक सत रूप ही समझा, कदाचित बाह्य क्रियाएं भी ऐसे जीवको हो जाएं तो भी उसके उस क्रियाका बन्ध नहीं है।

निज ज्ञान दृष्टिमें कृतकृत्यता—हमारे लिये एक स्वतन्त्र निजज्ञानदृष्टि ही दुनियामें करनेकी चीज है और इसके अतिरिक्त कुछ भी करनेकी चीज नहीं है। केवल इस दृष्टिके पाने पर ही मुनि श्रावक आदि सब धर्म सहकारी बन जाते। ज्ञान स्वभावकी दृष्टिके बिना सारा धर्म कर्म करना मात्र एक क्रिया ऊपरी चीज रह जाती है। जो मुनिराज तपस्या करते हुए दर्शनाचारसे यह कह रहे कि हे ८ अंगवाले दर्शनाचार, तब तक मैं तुमको पाल रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे मैं तेरे विकल्पसे रहित शुद्ध अवस्थाको न पालूँ। तुम्हारी पालनक्रियासे रहित शुद्ध तत्त्वमें नहीं हो जाऊं तब तक तुम मेरे पास बने रहो। ज्ञानाचारों को भी सत्तारूप नहीं रखता है। वह कहता कि मैं तुम्हारा तब तक पालन करता हूं, जब तक तेरे प्रसादसे तेरेसे रहित शुद्ध अवस्थाको न पालूं। ऐसा विरक्त, न्यारा ज्ञानी, क्या पर्यायोंमें अपनी बुद्धि रखेगा, क्या अपने पास रहने वाले कमंडल पीछीमें अपनी बुद्धि रखेगा, क्या शास्त्रोंमें ही उसकी बुद्धि रहती होगी? उसकी बुद्धि तो केवल एक ज्ञानदृष्टिमें होती है, एक अलौकिक अवस्था, लोकोंसे विरुद्ध अवस्था उसकी होती है। विरुद्ध अवस्थासे मतलब जैसा यहाँकी प्रजा करे उससे उल्टी बुद्धि, उल्टे भाव उनके हों। उनका मोह एण्ड कम्पनीसे

स्तीफा हो गया। अब वे उसके सदस्य नहीं रहे, उससे अलग हो गये। जब दुनियासे ही वे अलग रह गये तो दुनियाके लोगोंसे उनका क्या सम्बन्ध रहा ? वे तो केवल एक ज्ञानदृष्टिमें ही सदा रहते। उन्होंने तो संसारसे पार होनेकी चीज अपनेमें रखी।

निजज्ञानदृष्टिमें कृतकृत्यता—विशुद्ध ही उनके संस्कार हैं, उन संस्कारोंके फलसे यह बात पैदा होती कि केवली होनेपर सब क्रियायें बिना विचारोंके अपने आप हो गईं। उनकी दिव्यध्वनि किसीकी प्रार्थनासे नहीं खिरती। इस प्रकार राग द्वेष मोहसे वे अलग रहते। उनकी माँ भी सामने बैठी हो तो वह माँ तो बेटा कहती हो परन्तु बेटा नहीं रहा। जो माँ का बेटा होता हुआ भी माँका बेटा नहीं रहा। न प्रेम, न राग, न आकर्षण कुछ भी तो उनमें नहीं रहा। भगवान तो केवल मूर्तिकी तरह ही हैं। मूर्तिमें और समवशरणमें बैठे भगवानमें केवल इतना ही फर्क है कि मूर्तिमें तो दिव्यध्वनि नहीं रहती और वहाँ दिव्यध्वनि रहती है। जो कुछ चीज आप समवशरणमें देखेंगे वह यहाँ भी देखलें। यहाँ भी तो उन्हींकी मूर्ति है। वहाँ समवशरणमें भी तीर्थंकरकी आत्मा नहीं दीखेगी। आप ही वहाँ कल्पनासे देखोगे तो वहाँ यह देखोगे कि तीर्थंकरका ऐसा स्वरूप है। वहाँ भी स्थापनासे ही तीर्थंकरको देखोगे। तो यहाँ भी तो कल्पनासे और स्थापनासे तीर्थंकरका स्वरूप देख सकते हैं। फर्क इतना ही है कि वहाँ तो उनके रहते हुए स्थापना की और यहाँ न रहते हुए स्थापना की। स्थापनासे ही आपने अर्हंतको समझा। यहाँ भी आप स्थापनासे ही अर्हन्तको समझें। जैसी शक्ल स्वरूप वहाँ देखोगे यहां भी वहां की तरह ही आ जायगा।

स्थापनाका भाव—भैया ! स्थापनासे अरहंत दोनों प्रभुदेह व मूर्ति दोनों ही जगह समझे गये। फर्क इतना ही है कि वहाँ है और फिर स्थापनासे कल्पना की और यहाँ उनकी आत्मा नहीं है, और फिर स्थापनासे कल्पना की। एक फर्क यह भी है कि वहाँ झट कल्पना की जाती थी और यहाँ विलम्ब होता। कितने आडम्बरसे यहाँ स्थापना की जाती है। पाँचों कल्याणक किये और फिर स्थापना हुई। ये सारे काम इसलिये करते कि बहुत काम करनेके बाद स्थापना गहरी हो जाती है, और हमारे भाव भी उनमें गहरी तौरसे माननेको तैयार हो जाते हैं। जैसे कई दिनोंका और कई आडम्बरोंके साथ विवाह करनेसे विवाहका सम्बन्ध अमिटसा रहता था, परन्तु अब एक मिनटमें विवाह हो जाता है, जिसके फलसे यह देखा जाता कि तलाकमें देर नहीं लगती। इसलिए यह सम्बन्ध हमारा जो गहरा बनता है, वह इतने आडम्बरोंके करनेसे होता है। इसी तरह कई काम करनेके बाद स्थापना करनेसे स्थापना गहरी हो जाती है। यहाँ स्थापना गहरी बनानेके वास्ते, अरहंतको जाननेके वास्ते इतना परिश्रम करना पड़ता, और समवशरणमें इतना काम नहीं करना पड़ता। वहाँ स्थापना जल्दी हो जाती है, परन्तु स्थापनाके लिये मूर्ति स्वरूप नहीं होय। यहाँकी मूर्तिका वैसा ही स्वरूप

होय जो समवशरणमें होता है तो भी कम समय लगे।

प्रभुदर्शनका भाव—दारोगा जी के मन्दिरमें यहाँ भी दो कृष्णवर्ण बड़ी मूर्तियां हैं। उनके दर्शन करके हमारी कल्पनाकी बात कहते हैं। पहली मूर्तिके पास जानेपर हमको जवाब मिलता कि तुम रागद्वेष आदिको छोड़कर हमारी ही तरह ऐसे क्यों नहीं बैठ जाते? दर्शन करते-करते हम दूसरी मूर्तिके पास पहुंचते, तो वहाँ भी हमारी कल्पनाको जवाब मिलता कि संसारमें कहीं सार नहीं दीखता, इसलिये हम बैठ गये। ऐसा हमको वहाँ दर्शन करते हुए रोज विकल्प होता। हम भगवानसे वहाँ ऐसी ही बातचीत करते हैं और वहाँ ही हमें आनन्द आ जाता है। इसलिए यहाँ भी भगवानकी मूर्तिसे समवशरणकी तरह ही लाभ लिया जा सकता है। वहाँ और यहाँ इतना ही तो फर्क है कि यहाँ दिव्यध्वनि नहीं निकलती और वहाँ निकलती है। और स्थापनामें इतना फर्क है कि वहाँ भगवान मौजूद नहीं हैं फिर स्थापना करते और यहाँ भगवान मौजूद नहीं हैं, फिर स्थापना करते। वैसे वहाँ भी कल्पनासे अरहंतको जाना और यहाँ भी कल्पनासे अरहंतके स्वरूपको जाना। अतः जिसकी मूर्ति बनाओ, उसके मूर्तिमें दर्शन करो, केवल मूर्तिके दर्शन मत करो। ऐसे भव्य जीवोंका जीवन बहुत पवित्र जीवन था। हमें भी अपना पवित्र जीवन बनाना है। दुनियामें कोई हमारी मदद नहीं करेगा। यहाँ हम असहाय हैं, अशरण हैं, अपनी निर्मलता बनानेसे तो हमारे लिए हम आलम्बन हैं, और यदि हमारी निर्मलता नहीं बनेगी, तो हमारे लिए जगतमें कोई आलम्बन नहीं बनेगा।

धर्मपालनमें समताका उद्देश्य—दर्शन करके, स्वाध्याय करके साधुसमागमसे, चारों भावनावोंको भाकर अपनी निर्मलता बढ़ाओ तो उसका फल यह होगा कि हमारा स्वरूप जिनकी चर्चा करते, उन केवलीकी तरह ही हो जायगा। इसलिये चारों भावना भावो। सब जीवोंमें मेरी मित्रता है। किसी जीवको दुःख पैदा न होय, ऐसी इच्छाका होना मैत्री है। किसीके दुःख उत्पन्न न होय, ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। गृहस्थियोंकी और मुनियोंकी मैत्रीमें फर्क होता है। मुनि दुःखीको देखते हैं, परन्तु कमंडलसे पानी पिलानेका विकल्प नहीं करते। ज्ञानी जीवकी मैत्री तो केवल यह ही होती है कि वह ऐसी भावना भाये कि जगतमें किसीको भी दुःख न हो, इसका मोह मर्म मिट जावे तो स्वयं सुखी हो जावे। यह है मित्रता की भावना। किसी ज्ञानी जीवको देखकर हर्षका परिणाम होय कि मैंने सब कुछ पा लिया है, यह कहलाती है प्रमोदकी भावना। फिर आती है दया। दया किसे कहते हैं? इसका दुःख दूर हो, इस प्रकारका अपनेमें परिणाम आ जाना, यह दया है। राग, द्वेष, मोहरहित ज्ञानी पुरुषोंकी दया यह होती है कि इनका अज्ञान दूर हो जाय। उन्होंने अज्ञानके दूर होनेका स्वाद लिया। अज्ञान ही उनको दुनियाका दुःख रहा है और सारे दुःख तो उनकी दृष्टिमें क्षणिक हैं। केवल अज्ञान मिट जाय और उनके ऐसी ज्ञानदृष्टि ही रह जाय, ज्ञानियोंकी इतनी ऊंची दया

होती है। अज्ञान दूर हो जाय तो दुःखकी जड़ ही मिट जाय। जिसके विपरीत वृत्ति होय तो न प्रेम करना और न द्वेष करना। विपरीत वृत्तिसे द्वेष करना भी बुरा और प्रेम करना भी बुरा। रागको पैदा होनेका मौका ही मत दो। जैसे कटना कुत्ता बैठा हो, तब कहते हैं कि न तो इसे पुचकारो और न इसे मारो, दोनों ही काम मत करो। इसी प्रकार दुःख बुद्धि वाले किसी जीवसे न प्रेम करो और न द्वेष करो।

चारों भावनावोंमें समताकी झलक—एक समता भावको सब जीवोंमें रखो। समता आई कैसे ? सब जीवोंसे मित्रताका परिणाम क्या ? मित्रता करनेसे सबमें समताभाव आ ही गया। गुणीको देखे हर्ष किया तो उनके बराबर कैसे बना ? गुणीके गुणकी जो भावना करी, उस गुणकी भावनासे ऐसी विशेषता पड़ गई कि ठीक अन्तरंगके निकट पहुंच गया, इस तरह से उसके निकट पहुंचा। प्रमोद करनेसे उसके निकट पहुंच गया। दयासे कैसे निकट पहुंचा ? हमारे पेटमें अन्न है अर्थात् हमारा पेट भरा हुआ है और दूसरेका खाली है। यदि दूसरेका भी पेट भर जाता है तो वह भी हमारे समान हो जाय। इस प्रकार दयासे भी समता आ गई, सब जीवोंसे मित्रता करना, सब ज्ञानी जीवोंका प्रमोद करना, दुःखी जीवपर दया करना, दुःखीको अपने बराबर बना लेनेकी पर्याय है, समताका प्रयत्न ही तो उन सबसे होता। विपरीत बुद्धिसे माध्यस्थ भाव रखा, उसमें भी तो समताका भाव ही है।

स्वरूपपरिचयका विवेक—इस समतापरिणामसे यदि चारों प्रकारकी भावना करके निर्मलता बढ़ाओ, तो यह निर्मलता ही आपके कामकी चीज होगी। दूसरोंके बहकावेमें मत आओ और अपनी ओर ही दृष्टि डालो। जैसे किसी लड़केसे कोई कह देते कि तेरा कान तो कौवा ले गया। वह लड़का यह सुनकर रोता जाय और कौवेके पीछे लगा यह कहता जाय कि मेरा कान तो हाय कौवा ले गया। कोई ज्ञानी उससे कहे कि नहीं तेरा कान कौवा नहीं ले गया तो उसकी समझमें नहीं आवे और वह कहे कि मुझे बहुतसे आदमियोंने कहा है कि मेरा कान कौवा ले गया तो मैं तुम्हारी बात कैसे सच मानूं ? तब ज्ञानी कहते कि बात तो तेरी ठीक है, परन्तु तू अपने कानको तो टटोल। कानको टटोलकर लड़का कहता है कि अरे नहीं ले गया, हमारे पास ही हमारा कान है, इसी तरह कोई कहता कि हमारा सुख उसने बिगाड़ दिया। अपने अन्दर टटोलकर देखो कि तेरेमें तेरेसे बाहरकी कोई चीज आई क्या ? अपने स्वरूपको टटोलकर देखनेके बाद यह बात मालूम हुई कि इसमें तो मैंने बड़ी कुबुद्धि लगा रखी है, इसमें तो परपदार्थका प्रवेश ही नहीं है। वह तो अपनी सत्तासे स्वयं सत्तावान है। मेरेमें बड़ी शक्ति है। मेरी ज्ञानशक्ति मेरी आत्माके प्रदेशोंसे बाहर नहीं जाती है। मेरेमें तो बड़ी भारी शक्ति है। उस ज्ञानशक्तिसे परका कोई काम नहीं होता है। न वह किसी परको करता और न कोई पर उसको करता। पर तो अपने आप ही को करता और उसकी

अवस्था ही उसका कर्म है। यह अमृत बुद्धि जीवके आ जाय, तो वह सब कुछ है। यह नहीं है तो मिथ्याबुद्धि स्वयं नष्ट कर देने वाली है।

निमित्त उपादानमें परस्पर अक्रिया—जैसे कहते हैं कि इंजनने डिब्बोंको चलाया। परन्तु यह सब गलत बात है। इंजनका निमित्त पाकर वे डिब्बे अपने आपको चलानेकी क्रिया करने वाले बने। इंजन अपनेमें क्रिया कर रहा है और उसका संयोग अथवा निमित्त पाकर यह जो डिब्बे हैं, वह चले तो अपनी परिणतिसे चले। इंजनके पहियोंके चलनेसे वह नहीं चले। वहाँ ऐसी स्वतन्त्र परिणति देखो तो वह डिब्बा अपनी ही क्रिया अपने आपमें कर रहा है। इसी तरह कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी क्रिया नहीं करता, वे सब तो अपनी सत्तामें ही रहते हैं। जैसे १० हाथ दूरपर एक लड़का खड़ा हुआ कुछ अंगुलीके इस प्रकारके इशारे कर रहा है। जिससे कोई आदमी चिढ़ रहा है। वहाँ अज्ञानी आदमी उस लड़केसे कहता कि तुम उसे क्यों चिढ़ाते हो, और ज्ञानी उस बालकसे ही कहता कि तुम क्यों चिढ़ते हो? वह तो अपनी चेष्टा स्वयं कर रहा है, वह तुम्हें चिढ़ा कहाँ रहा है? जब चेष्टा करते-करते उसके हाथ थक जायेंगे तो वह चेष्टा करना बन्द कर देगा। जैसे तुम उससे कहते कि क्यों चिढ़ाते हो, तो वह यही उत्तर देगा कि मैं चिढ़ा कहाँ रहा हूं, मैं तो अपनी चेष्टा स्वयं कर रहा हूं? वह मेरी चेष्टासे चिढ़ता है तो चिढ़े। इस तरह वह दूसरेका कुछ नहीं बिगाड़ रहा है। वास्तवमें उस लड़केने नहीं चिढ़ाया। व्यवहारमें निमित्त पड़नेके कारण व्यवहारी जीव यह कह देता कि इसने उसे चिढ़ाया। इसी तरह दुनियामें हमारा कोई कुछ नहीं करता, परन्तु उनका निमित्त पाकर चारित्र ज्ञानमें जो विकार होता है, उससे हम यह कहते हैं कि उसने हमारा काम बिगाड़ा, वरन् निश्चयसे हम तो केवल अपना आपको ही करते और दुनिया वाले भी केवल अपने आपको ही करते, और तो और हम अपने शरीरके ही कर्ता नही बन सकते। जिस शरीरमें हम रह रहे उस शरीरके ही कर्ता धर्ता नहीं, और तो जाने दो, जिन कषाय भावोंमें हम रह रहे, उनके भी हम कर्ता धर्ता नहीं। निज कषाय भावोंको मैं करने वाला नहीं, तो दुनियामें किसीका करने वाला मैं कैसे बन गया? ऐसी स्वतन्त्र दृष्टि रखने वाला जो जीव है, वह अपने आपको ही करता है। स्वातन्त्र्य स्वरूपकी दृष्टि रखने वालेके कोई दिन ऐसा आ जायगा कि यह परिणति केवली जैसी हो जायगी और वहाँसे भी चलकर सर्वज्ञ बनकर सिद्ध भगवान हो जायगा।

प्रभुके उदयकी निष्फलता—पहिले यह बतलाया था कि केवली भगवानकी जो क्रिया होती है वह बन्धको नहीं करती है, क्रियाफलको नहीं साधती। इस बातका वर्णन करनेके बाद अब कहते हैं कि जब ऐसी बात है कि केवली भगवानकी क्रिया बन्धको नहीं करती, तो इसके मायने तो यह निकले कि तीर्थंकर भगवानके पुण्यका उदय निष्फल है, बेकार है। हाँ

यही तो है। पुण्यका उदय समवशरणके रूपमें अनेक लोगों द्वारा पूजे जानेमें पुण्य उदय तो है, परन्तु यह पुण्यका उदय अकिंचित्कर ही है। अरहंत देवको उसका कुछ फल नहीं हो रहा है, और उनके द्वारा जो साधन जुटे हैं, उससे भी उनको कोई फल नहीं होता। इसका अवधारण करते हैं। कहते हैं यहाँ अवधारण शब्दका प्रयोग हुआ, जिससे यह सिद्ध है कि यही बात प्रयोगरूपसे आचार्यदेवके श्रद्धानमें अकाट्य है, और इस प्रकरणको करते हुए तो उपयोग इसी प्रकार बन रहा है। यहाँ तीर्थंकर परमदेवका पुण्यफल अकिंचित्कर ही है अर्थात् उनके आत्मसुखमें रंच भी बाधक नहीं और न बंधक है, यह कहते हैं—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगित्ति मदा ॥४५॥

विशिष्ट पुण्यफल—अरहंत पुण्यफल वाले हैं। जो पुण्य पंच महा कल्याणकको पूजा करावे, तीन लोककी विजयको जो करे, ऐसा तीर्थङ्कर भगवानका जो पुण्यफल है, उसके फल से उनकी आत्मामें कोई फल नहीं होता। क्योंकि उनकी आत्मामें मोह रागादि भाव नहीं हैं। शुद्ध ज्ञानदृष्टिका आवरण करने वाले, अपने ही अन्दर अनादिसे अनन्त तक प्रकाशमान ज्ञानस्वभावपर दृष्टि न पहुंच देने वाले, उसमें अड़चन पहुंचाने वाले मोहादि भावोंसे वे विरहित हैं, इसलिये उनकी क्रिया क्षायिकी क्रिया है। हाँ कर्मके उदयसे क्रियायें हैं, एतावता औदयिकी है। यदि भगवानकी क्रियाको औदयिकी न कहें तो विहार करते हैं, चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, ये सब स्वाभाविक क्रियायें हो जायेंगी, सो बात नहीं, क्योंकि ये सब कर्मके उदयका काम हो रहा है, परन्तु वह कर्मोदय क्या उदय है, जो कर्मबन्धको न पैदा कर दें। औदयिकी होने पर भी कर्मोंके क्षयका ही कारण है। कर्मोंके उदयकी दृष्टिसे देखो तो वह औदयिकी है, और उसका फल क्या होता, उस दृष्टिसे सोचो तो उनकी क्रियाको क्षायिकी कह दो।

प्रभुके पुण्यफलसे सहज परम उपेक्षा—अरहन्त भगवान कैसे हैं कि समस्त अच्छासे अच्छा पुण्य कर्म उदयमें आने वाला है ऐसे पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल हैं। तीन लोकपर जिन्होंने विजयकी है, अधोलोकके जीव भी जैसे भवनेन्द्र व्यन्तरेन्द्र आदि जिनको आकर नमस्कार करते हैं, ऐसे वे अरहन्त हैं जिनको की देव इन्द्र आदि भी नमस्कार करते हैं। यहां मनुष्येन्द्र चक्री आदि व तिर्यंचोंके इन्द्रसिंह आदि भी नमस्कार करते हैं जिनको इन्द्र भी नमस्कार करें तो उसमें उस जाति भरकी भक्ति आ गई। इस तरह वे त्रिलोकीनाथ हैं, फिर भी वे अत्यन्त वीतराग जो अपनी क्रियासे कुछ काम नहीं निकालते फिर भी संसारके प्राणी अपना काम निकाल ले जाते हैं। यहाँ भी कोई दूसरेका कुछ काम नहीं करता, मात्र अपनी ही चेष्टा करता है। इस तरहसे अरहंतने भी अपनी ही चेष्टा की। जैसे हम अपना ही काम करते, इसी तरह वे भी अपना ही काम करते और हमारे निमित्तसे दुनियामें कुछ हो जाता

है, इसी तरहसे उनके निमित्तसे भी दुनियामें बहुत कुछ हो जाता है। उनकी दृष्टिसे वह पुण्य का उदय अकिंचित्कर ही है। जैसे यह लक्ष्मी जिन्हें नहीं चाहिये उनके चरणोंमें लोटती है और जो इसकी आराधना करते हैं फिर भी लक्ष्मी वहाँ फटकती ही नहीं। इसी तरह वह पुण्य लक्ष्मी ही तो है। सब स्थानोंमें रहकर भी वह अरहंत भगवानकी हालतसे वर्णन तो है ही, फिर भी किसीमें शंका न हो जाय, इसके लिये माननेकी प्राकृतिक ही ऐसी बात होती कि समवशरणमें रहते हुए भी, गन्ध कुटीर कमल आदि पर रहते हुए भी उनसे चार अंगुल उनसे ऊपर रहते हैं।

तीर्थंकर भगवानकी महनीयता—तीर्थंकर भगवान सर्व महनीय हैं, विशाल बलशाली हैं, उनकी अपूर्व महिमा है फिर भी वे स्वरूपमग्न हैं। बलकी बात देखो भैया! कितना बल है? जैसे बीस बकरोंका जितना बल है उतना एक गधेमें होता है, २० गधोंका बल एक घोड़ेमें होता, २० घोड़ोंका जितना बल एक भैंसेमें होता है, २० भैंसोंका बल एक हाथीमें होता है, कितने ही हाथियोंका बल एक सिंहमें होता है और कितने ही सिंहोंका बल एक अष्टापदमें होता, कितने ही अष्टापदोंका बल एक नारायणमें होता, कितने ही नारायणोंका बल एक चक्रीमें होता, कितने ही चक्रियोंका बल एक साधारणदेवमें होता, कितने ही देवों का बल एक इन्द्रमें होता और अनेक इन्द्रोंका बल एक तीर्थंकर भगवानकी अंगुलीमें होता। यह बल तो गृहस्थ तीर्थंकरका है, अर्हन्त होनेपर तो अनंतशक्ति आ जाती है। दुनियाके विजयी मल्ल जो होते हैं उन्हें यह आवश्यकता नहीं कि वह दुनियाके मल्लोंसे लड़ लड़कर दुनियामें विजयी मल्ल कहलाये, उस एक मल्लको ही पछाड़नेकी उसको जरूरत है। तभी वह विजयी कहलाने लगेगा। इसी तरहसे तीन लोकके नाथ भगवान हैं। वहाँ यह आवश्यकता नहीं है कि उनको सारे जीव आकर नमस्कार करें और सिलसिलेसे उनकी भक्तिमें अपना नाम लिखावें। स्वर्गोंका नाथ इन्द्र उनके सामने झुक गया, मनुष्योंका नाथ चक्रवर्ती उनके आगे झुक गया, तिर्यञ्चोंका इन्द्र सिंह भी उनके सामने झुक गया तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि सारे स्वर्गोंके देव, सारे मनुष्य और सारे तिर्यञ्च उनके सामने झुक गये। तीनों लोकोंके सारे जीव भगवानकी भक्तिमें आ गये। ऐसे तीन लोकोंके विजयी अर्हन्त भगवान बन गये। उन्होंने मोहादि भाव जीता, इसलिये भी वे तीन लोकके विजयी कहलाये क्योंकि मोह तो तीन लोकका विजयी कहलाता और भगवानने मोहको जीत लिया। ऐसे अरहंतकी जो क्रिया होती है वह सभीकी सभी कर्मके उदयके प्रभावसे हुई। उस क्रियाका ऐसा स्वभाव बन पाया इसलिये वह क्रिया औदयिकी ही है। परंतु औदयिकी क्रिया होनेपर भी वह कर्मका उदय व्यवहारसे अरहन्तका और निश्चयसे कर्मका होता है। भगवानकी जो क्रिया होती है उस क्रियामें भव्य जीवोंका पुण्य व्यवहारसे निमित्त होता है।

दिव्यध्वनिमें योग व भव्यभाग्यका निमित्त—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि भव्य जीवोंके पुण्यके उदयसे यह बात सम्भव लगती कि उनके पुण्यके उदयसे भगवानकी दिव्यध्वनि आदि क्रियाएं हुईं, परंतु उनकी जो दिव्यध्वनि आदि क्रिया कर दे, ऐसे उस पुण्य कर्ममें क्या ताकत है ? उत्तर—यदि उनकी क्रियाको केवल भव्य जीवोंका पुण्यफलका ही कारण कहा गया हो तो ठीक नहीं बनता। वह क्रिया तो निश्चयसे उनके ही योगका फल है। भव्य जीवका पुण्य उदय तो केवल निमित्त ही है। उनमेंसे जो वचन वर्गणाएं निकलने लगीं तो वह भव्य जीवोंके पुण्यके उदयका फल है। पुण्य कर्म किसीके ठोकर नहीं मारता। सब अलग-अलग जगह रहते फिर भी क्रिया होती है। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध ऐसा है कि निमित्तकी तो उपस्थितिमात्र है, उपादानमें क्रिया अपने आप हो जाती है। कितने ही कार्य ऐसे होते हैं कि बहुत दूर-दूर रहते हैं, कोई ठोकर भी नहीं लगाता, फिर भी निमित्तनैमित्तिक कार्य होने लगते हैं। भव्य जीवोंका भाग्य और वचन दोनों अलग-अलग हैं, फिर भी कार्य दोनोंका ही हो रहा है। उस समय यह अरहंतका बड़ा अपराध है, (प्रशंसामें) कि बड़े होकर छोटोंमें रह रहे, परन्तु जब छोटोंमें रह रहे तो जहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, वहाँ तो काम करना ही पड़ेगा। बड़ा छोटोंमें रहेगा तो उसे काम तो करना ही पड़ेगा, नेता यदि प्रजामें रहेगा तो उसे काम तो करना ही होगा। यदि वह सिद्धोंमें चला जाय और यहाँ न रहे या योगनिरोध हो तो काम नहीं करना पड़ेगा। हम छोटोंमें रहेंगे तब तक तो सब क्रिया करनी ही पड़ेंगी। ऐसी प्राकृतिकता रहती ही है। अब यहाँ यह प्रश्न उठा कि सिद्धान्तमें ऐसा कहा गया कि एक द्रव्यकी क्रियाका असर दूसरे द्रव्यकी क्रियामें नहीं होता, तो भव्य जीवोंके पुण्यका असर भगवानमें कैसे आ गया ? निश्चयमें यही उत्तर आवेगा कि भव्य जीवोंके पुण्यके प्रतापसे भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती, किन्तु योग व विशिष्ट पुण्यफलसे खिरती है।

प्रभुकी वृत्तिमें क्षायिक भाव—जिसके उदयसे ही सर्व कर्मका बंध होता, ऐसा जो मोहनीय कर्म है, उस कर्मका क्षय हो जानेके बाद जो उपरंजक भाव है, उनका अभाव होनेसे वह क्रिया चैतन्यके विकारका कारण नहीं हो सकती, वह क्रिया औदयिकी तो है, परन्तु उस क्रियाका लाभ बन्ध नहीं है, इसलिए तथा उस कर्मके उदयका कार्य क्या है ? मोक्ष, इसलिये केवलीकी क्रिया क्षायिकी ही है। जैसे कि किसी वृत्तपरसे कोई फल टूटा और वह फल टूटकर उसी डंठलमें फिर तो नहीं लगता, यह फल तो मुक्तिके लिये टूटा। इसी तरहसे जो कर्म उदयमें आकर टूटा वह फिर हमारे नहीं चिपक सकता, वह दूसरी शक्ल बनाकर आ जाय यह हो सकता है। वही फल फिर दूसरी तरहके परमाणु लेकर पेड़में दूसरे किसी वर्ष चिपक जाय यह हो सकता है, परन्तु वह फल उसी शक्लमें फिर उस पेड़में नहीं लग सकता। कर्म उदय मोक्षके लिये ही, छूटनेके लिये ही आते, परन्तु वे उदयमें आकर फिर उसमें नहीं चिपक

सकते। भैया! देख लिया ना अंधेर!! कर्मका उदय मोक्षके लिये होता। भगवानकी औदैयिकी क्रिया एक तो कर्मबंधका कारण नहीं और इसमें मोक्षका कारण देखा गया, इस लिये वह क्रिया क्षायिकी ही है। कर्मके उदयके बिना वह क्रिया नहीं होती, इसलिये वह औदायकी ही कही गई। ऐसी औदैयिकी क्रिया उनके बन्धका कारण नहीं होती, वहाँ कर्म छूटता मात्र है इसलिये क्षायिकी है।

राग द्वेषकी औपाधिकता व विक्षति—यहाँ एक प्रश्न है कि कर्मके उदयसे तो सुख दुःखकी क्रिया होती, उससे तो बन्ध नहीं होता, परन्तु रागद्वेष आदि भावोंसे बन्ध होता और कर्मके उदयसे रागद्वेष आदिकी क्रिया नहीं होती, क्योंकि वह अनादिसे है, फिर मुक्ति कैसे हो? उत्तर—यदि कर्मके उदयसे रागद्वेष आदिकी क्रिया न हो तो कर्म छूटे ही नहीं। क्योंकि वह स्वभाव बन गया। जैसे सुख दुःखका कारण कर्म साता असाता वेदनीय कर्म कहा है इसी तरह रागद्वेषके कारणभूत मोहनीय कर्म कहे गये हैं। जिनके मोहनीय कर्म शिथिल हो जाते हैं, उनके सुख दुःखमें राग नहीं जाता। अनादिसे परम्परा है, किन्तु विवक्षित रागद्वेष तो कारण पाकर हुआ वह क्षणिक है। कारण व उपकारणोंके अभावमें रागद्वेषका भी क्षय हो जाता है।

प्रभुकी क्षायिकी क्रिया—यहां एक शंका यह भी है कि जब कर्मके उदय आनेपर रागद्वेष होते तो उदयमें भी आते रहेंगे और फिर बंध होते भी रहेंगे, तब छूटना कैसे हो? समाधान—यह दोनों पदार्थ सत्तावान हैं। आत्मा और पुद्गल कर्म ये प्रकृतिसे परिणमते ही रहते हैं। प्रकृतिसे कर्मका भी मन्द अनुभाग आ जाता है, परन्तु उस मन्द अनुभागकी हद होती है। उस मन्द अनुभागके समयमें आत्मामें संभालनेकी सावधानी आई और कर्मबन्ध कम हुए और उसकी परम्परा कम होते होते समाप्त हो जाती है और कभी समय ऐसा आता कि वह कर्मबन्ध नहीं करता। औदयिकी क्रिया होने पर भी वह क्रिया बन्धको नहीं करती। यह कर्ममल्ल और आत्ममल्ल, दो मल्लोंकी लड़ाई है। एक तरफका फैसला नहीं देना कि कर्मके आधीन आत्माको ही परिणमना पड़ता क्योंकि आत्मज्ञानके अनुसार कर्मको भी तो मिटना पड़ता। कभी लड़ाई ठीक बनते-बनते किसीकी ऐसी बात बन जाती है कि कर्मोंसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है। इसलिये अर्हन्त भगवानकी क्रिया औदयिकी तो है परन्तु क्रिया फलके नहीं करनेके कारण वह क्षायिकी ही मानी गई है। कर्मका फल अर्हन्त भगवानके स्वभावके विघातके लिये नहीं होता तब ही उनकी क्रिया क्षायिकी है। हम को भी यही सोचना चाहिये कि मैं भी एक निमित्तमात्र हूं और दुनियाके और लोग भी निमित्त मात्र हैं और यह कार्य अपने आप होते। किसी परपरिणतिमें अहंकार करना अज्ञान है।

व्यर्थ कर्तृत्वका अहङ्कार—एक सेठ जी के चार लड़के थे। एक कमाऊ था, एक

जुआरी, एक अन्धा और एक पुजारी, ये चार लड़के थे। कमाऊ कमावे और सभी खावें। कमाऊकी स्त्री उससे रोज लड़े कि तुम तो कमाओ और दुनिया भरके ऐरे गैर खाते हैं, हमें यह अच्छा नहीं लगता, इसलिये न्यारे हो जाओ। तब वह पिताजीके पास जाता है और कहता है कि हमारी स्त्री मानती नहीं है इसलिये हमें न्यारा करदो। पिताजी कहते हैं कि अच्छा तुम न्यारे होना ही चाहते हो तो न्यारे हो जाना, परन्तु न्यारे होनेसे पहले शामिल तीर्थयात्रा तो करलो। वे राजी हो गये। सबके सब ५ दिनके वास्ते यात्रामें एक शहरके पास ठहर गये। पहले दिन पिताने कमाऊ बेटेको २०) रुपये दिये और कहा कि सबके लिये बढ़िया भोजन लाओ। वह बाजार गया और उसने कुछ सामान खरीदा और उसे फिर नफे से बेचा और दो रुपये और कमाये और इस तरह २२) रुपयेका भोजन लेकर आया। दूसरे दिन पिताने जुआरी बेटेको २०) रुपये दिये और कहा कि बढ़िया भोजन लाओ। वह बाजार गया। वहां रास्तेमें कहीं जुआ हो रहा था, तो उसने वे २०) रुपये दावपर लगा दिये, उसका दाव आ गया और उसने २०) रुपये के ४०) रुपये कर लिये और उन रुपयोंका कमाऊ लड़केसे भी अच्छा भोजन लेकर आया। तीसरे दिन अन्धे लड़केकी बारी आई। उसे भी २०) रुपये दिये गये। अन्धेको रास्ता दिखानेके लिये उसकी स्त्री गई। रास्तेमें अन्धेके एक पत्थरकी ठोकर लगी। तब उसने उस पत्थरको ही बीचमें से हटा देनेकी बात सोची, ताकि उसीकी तरहके और अन्धोंके उसकी ठोकर न लगे। उसकी स्त्रीने पत्थरको उठानेमें उसकी मदद की। जब वह पत्थर उखड़ा तो स्त्री चीख पड़ी कि यहां तो अशर्फियोंका हंडा पड़ा हुआ है। उसने उन अशर्फियोंमें से कुछ अशर्फियां लीं और उनसे अच्छेसे अच्छा भोजन खरीदा और उस भोजनके साथ बाकी बची अशर्फियां भी उसने ले जाकर पिताको दे दीं। चौथे दिन पुजारी लड़केकी बारी आई। उसको भी पिताने २० रुपये देकर भोजन लानेको कहा। उसने सोचा कि पहले भगवानके दर्शन कर लूं और पूजा आदिसे निवृत्त हो लूँ, फिर भोजन लेकर घर चलूँगा। उसने उन रुपयोंकी सामग्री आदि खरीद ली और १० बजे पूजन के लिये बैठा तो शामके ५ बज गये और बैठा ही रहा। यह देखकर मंदिरके अधिष्ठाता देव को चिन्ता हुई कि इसके पीछे सारे घर वाले भूखे बैठे होंगे। देवताने उस जैसा ही रूप बनाया और बैलगाड़ियोंमें बहुत अच्छेसे अच्छा भोजन लादकर पुजारीके पिताके पास वह गया और कहा कि पिताजी यह लीजिये भोजन। पिताने कहा कि शाबाश! आज तो तूने कमाल कर दिया। जा सारेके सारे गांवको आज यहाँ ही भोजनका निमन्त्रण दे आ। सारेके सारे गाँवको भोजन कराया गया, भिखारियोंको भर पेट भोजन कराया और खूब ठाटबाट किये। जब शामके ६ बजे तो पुजारी पूजनसे उठा और सोचा कि मेरे पीछे आज तो सबके सब भूखे मरे। उसके पास जो पूजाके उपकरण आदि थे उनको भी उसने वहीं छोड़ दिया

और पिताके पास भागा भागा गया और उनके चरणोंमें पड़कर कहा कि पिता जी मुझसे बड़ा अपराध हुआ। तब पिता बोला कि अरे तूने तो इतना बड़ा भारी चमत्कार दिखाया। तब बेटे ने अपनी कथा सुनाई और बोला कि आप लोग तो भूखे ही पड़े होंगे। तब पिताने भी उसको सारी बात बताई। तब पिताने उस कमाऊ पूतसे कहा कि अकेले अकेलेका पुण्य फल देखा, अब भी यदि तुझे न्यारा होना होय तो होले तुझे न्यारा कर दूँ। तब कमाऊ लड़का बोला कि नहीं पिताजी मेरा पुण्य तो दो रुपयेका है, मैं न्यारा होकर क्या करूंगा? इसलिये जगतमें कुछ भी हो रहा हो उसे देखकर हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मैं जगतका कुछ करता हूं।

प्रभुके कर्मोदय कर्मक्षयार्थ—जगतके सारे काम अपने आप हो रहे हैं, मैं जगका क्या काम करता हूं, इस प्रकारका विचार करके अपनी आत्माके स्वरूपको देखो और किसी प्रकार का विकल्प न करो। भगवानके कर्मका उदय भगवानके स्वभावको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। कर्मका उदय तो रागीके बंधका कारण होता, यह तो आगमका वचन है, परन्तु भगवानके कर्मके उदयका कोई फल नहीं है। भगवानकी क्रिया औदयिकी तो है, परन्तु मोहके उदयसे रहित होनेसे औदयिकी क्रिया भी बन्धका कारण नहीं है। यहाँ कर्मके उदय सब जगह चल रहे हैं, सदा चल रहे हैं, परन्तु अपनी शुद्ध आत्माकी चर्चामें चलते रहें तो हमारे स्वभावश्रद्धानका विघात नहीं करते। द्रव्यमोहका उदय होनेपर भी यदि शुद्ध आत्माके भावसे बंध नहीं हुआ तो उसके बन्ध नहीं होगा, मोक्ष होगा। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध किया कि केवली जीवका जो कर्मका उदय है, उसके उदयसे परिणामोंमें विकार नहीं होता।

आत्मपौरुषकी कार्यकारिता—इस प्रकरणसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि हमें भाग्यके भरोसे ही नहीं बैठना चाहिये। एक कर्मके ही आधीन बनकर नहीं रहना चाहिये। अपने आपको कर्मके आधीन नहीं बनना चाहिये। हमें अपना बल समझना होगा और पूर्ण स्वरूपकी दृष्टि रखनी होगी कि हम जो कर सकेंगे तो पुरुषार्थसे कर सकेंगे। प्राणी अपने आपमें ही परिणमता और किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसी तरह जगतके सारे जीव अपने में ही परिणमते, जगतका कुछ नहीं कर सकते। ऐसे ही संसारमें हम अपने पुरुषार्थसे ही तिर सकेंगे, ज्ञानदृष्टिके बलसे तिर सकेंगे और दूसरोंके बलसे नहीं तिर सकेंगे। अपने ज्ञानस्वभाव की वजहसे तिर सकेंगे, इसलिए मोह आदि विभावोंमें पड़कर हमें अपनी आत्माको बरबाद नहीं करना चाहिये, और एक आत्मदृष्टिको अपनाना चाहिये तभी हमारा कल्याण हो सकता है, और हम संसाररूपी समुद्रसे तिर सकते हैं।

अब यहाँ यह वर्णन चल रहा है कि केवली भगवानकी जो समवशरणादि लक्ष्मी है उनकी नहीं, लोगोंके कहनेमें ऐसा आता है कि समवशरण आदि, लोकपूजा आदि जितने भी

हैं, वे सब पुण्यके विपाक हैं। ये सब ठाठ-बाट उनके स्वभावका घात नहीं करते। ये भगवान के स्वभावका घात नहीं करते। तो कहते कि जब कर्म केवलीके स्वभावका ही घात नहीं करते, तो उनकी तरह सभी जीवोंके स्वभावका घात नहीं करते होंगे, तो फिर ऐसा कहनेमें अनोखी बात क्या बताई ? सांख्याभिनिवेशी शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जितने भी जीव हैं, सभी जीवोंके स्वभावका कर्मघात नहीं करते। प्रयोजन यह है कि तत्त्व दो हैं, जीव और प्रकृति, इनमेंसे जीव जो है, वह सत्य जीव है, पुरुष है, वह हर प्रकारकी गड़बड़ियोंसे रहित है, केवल अपने स्वरूपका लाभ करता है, और कोई बात यह जीव नहीं करता। यह जितना भी ठाट-बाट है सब प्रकृतिका है। इस तरह केवलीकी तरह सभी जीवोंमें स्वभावका घात नहीं देखा जाता, इसका समाधान करते हैं।

जदि सो सुहोव असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो विन विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

शुभाशुभभावारूपता—यदि जीव अपने उपादानसे शुभ अशुभरूप न होवे तो फिर सभी जीवोंके संसारका अभाव हो जायगा। सो संसारका अभाव नहीं है, यह तो स्पष्ट हो रहा है। जहाँ यह कथन है कि जीव शुभाशुभरूप नहीं परिणमता, वह परम शुद्ध निश्चयनयका कथन है, सर्वथा ऐसा नहीं है। इस ४६वीं गाथामें केवलीकी तरह कर्मों द्वारा सभी जीवोंके स्वभावके घातका अभाव निषिद्ध करते, कर्म सभी जीवोंके स्वभावका घात नहीं कर पाते ऐसा नहीं है। निश्चयके विषयको अशुद्धभाव होनेपर भी पर्यायमें घटाने वाले सत्पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं। एक संन्यासी और एक शिष्य था। संन्यासी शिष्यको प्रतिदिन यही पढ़ाया करता था कि आत्मा पुरुषका कर्म निमित्त आदि कुछ भी नहीं करता है, वह तो केवल ज्ञातादृष्टा ही है। किसी कार्यसे पुरुष अशुद्ध नहीं होता। एक दिन गुरुजी एक मुसलमानकी दुकानपर रसगुल्ले खा रहे थे, तो शिष्य उधरसे निकला और उसने गुरुजी को रसगुल्ले खाते देख लिया। उसने गुरुजी के पास जाकर पूछा कि महाराज आप मांस वाली दुकानपर रसगुल्ले कैसे खा रहे हैं ? गुरुजी ने उत्तर दिया—कौन खा रहा है, आत्मा कुछ नही खाता है, न छूता ही है। जो खा रहा है वह खा रहा, आत्मा नहीं खा रहा। शिष्यको यह सुनकर गुस्सा आया और उसने गुरुजी के एक तमाचा जड़ दिया। तब गुरुजी बोले कि अरे यह क्या कर रहा है, तो शिष्यने उत्तर दिया कि महाराज तमाचा तो आत्मामें लगता नहीं है, और न यह आत्मा दुःखी होता है, न पिटता है, और न कुछ करता है। यह सुनकर गुरुको बड़ा क्षोभ हुआ, परन्तु सत्यता का पता भी लग गया। उसने शिष्यसे कहा कि तूने आज मेरी आँखें खोल दीं। इस तरह सब कुछ दुःख सुख इस आत्मामें विषयकषाय रोग आदि होते हैं, यह समूचे आत्माके भाव हैं। पर्यायतया भी यह आत्मा न करता है, न भोगता है, न कोई गड़बड़ पैदा करता है, इस

निश्चयाभासीको मिथ्यादृष्टि कहा गया है। जो समूची बातको मानने वाला नहीं है व मैं शुद्ध बुद्ध हूं, कुछ भी नहीं करता हूं ऐसी बात बनाता और अन्तरङ्ग में दुःखी हो रहा है मोही भी हो रहा है, उसको कहते हैं निश्चयाभासी।

आवसरिक परिणमनकी सिद्धि—इस गाथामें बताया है कि आत्मा यदि स्वयं शुभ या अशुभ नहीं होता, तो समस्त जीवोंके संसार भी विद्यमान नहीं है, ऐसा सिद्ध होगा। यदि यह माना जाय कि आत्मा स्वयं स्वभावसे शुभ या अशुभ नहीं है तो शुभाशुभ भावोंसे परिणमित नहीं होता, तो समस्त जीव निकायोंके संसार भी विद्यमान नहीं है, ऐसा सिद्ध होगा। यदि यह आत्मा अपनी ही परिणतिसे शुभरूप या अशुभरूप भावसे नहीं परिणमता होता, तो संसारके सारे जीवोंके संसारका अभाव होता। प्रकृति और पुरुषका विवेक करनेकी आवश्यकता उस सिद्धान्तको क्यों करनी पड़ी ? जब आत्मा कुछ करता ही नहीं तो यह उपदेश क्यों करते हो कि पुरुष और प्रकृतिमें भेदविज्ञान करो। सिद्धान्त तो यह बनाते कि पुरुष अलिप्त है, और उपदेश यह दिया जाता कि मोहमें मत पड़े रहो, प्रकृति और पुरुषमें भेदविज्ञान करो। ऐसा कहनेकी आवश्यकता क्यों हुई ? भेदविज्ञानकी आवश्यकता इसलिए है कि दुःखी हम होते हैं, संसारमें भ्रमण करनेवाले हम ही हैं, भ्रमके कारण यह जीव शुभ और अशुभभावसे अपनी परिणतिसे परिणमता। न परिणमता तो संसाररूप भाव ही नहीं रहता। सारे जीवोंके संसार नहीं है, यह तो प्रकृतिके संसार लगा हुआ है। प्रकृति ही कर्ता हो रहा है। यह बात सुननेमें तो सुहावनी लगती, परन्तु है नहीं। संसार नहीं है, इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ मोक्ष है। सो हमारी आत्माके मोक्ष है क्या ? जब प्रकृति और पुरुषका भेदविज्ञान करो और वह दृढ़ हो जाय तो मोक्ष होता। इसका अर्थ है अभी मोक्ष नहीं, मोक्ष नहीं होना, इसका भी नाम संसार है। यदि यह आत्मा एकन्तसे नियमसे शुभ अशुभभावसे नहीं परिणमे, तो हमेशा ही सर्व प्रकारसे बिना विरोधके शुद्ध स्वभावरूप ही इस जीवको रहना चाहिए। तो सारेके सारे प्राणी समस्त बन्धके साधनोंसे शून्य हो जायेंगे। बन्धका साधन संसार और संसारका साधन रागद्वेष है। सारे वैभवका कारण या साधन भी रागद्वेष है। संसारका साधन रागद्वेष मोह आदि और कर्मबन्धका साधन भी रागद्वेष मोह आदि भाव। जब कर्मबन्धका साधन ही नहीं रहा तो उसके आवागमन ही नहीं रहा। संसार ही नहीं रहा तो नित्य मुक्त हो गया।

पर्यायदृष्टिसे जीवकी अनादिमुक्तताका अभाव—अभी जैनियोंमें भी जो अध्यात्मका पाठ बतलाते हैं, ऐसे कुछ त्यागी जनोंने इस बातकी श्रद्धा कर ली है कि एक आत्मा ऐसा है जो अनादि अनन्त नित्य मुक्त है। वह बन्धमें पड़ा ही नहीं था और बाकी जितने आत्मा कर्म काटकर मोक्षमें जाते, वे नित्य मुक्त नहीं है। जैनियोंमें भी इस प्रकारकी श्रद्धा करने लगे हैं कि एक परमात्मा तो अनादि अनन्त है, और अनेक परमात्मा ऐसे हैं जो अनादि अनन्त नहीं

हैं। यह सिद्धान्त निकल कहाँसे आया ? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रोंमें हर जगह यह लिखा कि अनादि अनन्त अहेतुक करता, भोगता, भावसे रहित बन्ध मोक्षकी कल्पनासे दूर ज्ञानस्वभाव है। यह तो अपनेमें देखनेकी बात थी, अपनेमें निरखे, ऐसा जो सामान्य ज्ञानमें है उसको निजमें निरखो, वह है अनादि अनन्त परमात्मा। कथन तो यह था कि निजमें ही उस परमात्माको ढूंढ़ना। एक परमात्मा जो सब भेदोंसे रहित है, वह अपने अन्दर न पढ़कर दूसरे क्षेत्रोंमें पढ़ने लगा, ऐसी परमात्मामें दृष्टि आ गई और जैनोंमें भी किसीमें यह श्रद्धा बन बैठी, परन्तु ऐसा कोई आत्मा नहीं है, जो अनादि मुक्त हो। पर आत्मा है तो सही। अनादिकालसे मोक्ष भी जा तो रहे हैं, परन्तु जो अनादि मुक्त हैं, वे भी कभी संसारमें थे। जब हम स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं, तो उस स्वरूपकी आराधनामें पड़ करके हमें जो फैसला देना पड़ता है, उस स्वरूपका घात नहीं है ऐसा देखना पड़ता है, तो यह कहना पड़ता है कि प्रत्येक जीव कर्मसे छूटा है, यह कहते हुए भी यह कहना पड़ता है कि छूटनेसे पहले वह कर्मबद्ध था। न मोक्षका आदि बताया जिसको और संसारका भी आदि नहीं है, फिर भी संसार मोक्षसे आठ वर्ष जेठा है। इस तरहसे अनादि मुक्त ईश्वरकी कल्पना लोगोंमें थी, वह अपने आपमें रहने वाले अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञानस्वभावको देखकर यह चर्चा करते। इस निजदृष्टिको भूलनेका फल है, यह भूल है। यह जीव स्वयंकी परिणतिसे संसारी है। केवली बाह्य पदार्थोंमें रहते हुए भी स्वभावके घात वाले नहीं हैं, इसी तरहसे संसारी भी बाह्य पदार्थोंमें रहते हुए अपने स्वभावका घात करने वाला नहीं हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। संसारीके स्वभावका घात तो हो रहा है।

पर्याय स्वभावघात सम्बन्धी शंका समाधान—यहाँ एक प्रश्न उठा कि जैसे संसार की समस्त वस्तुएं अनादि हैं, इस तरहसे सिद्ध भी एक वस्तु है, वह भी अनादि सिद्ध माना जाना योग्य है ? समाधान—सिद्ध वस्तु नहीं है, सिद्ध तो पर्याय है। आत्मा वस्तु है और सिद्ध अवस्था है, पर्याय है, वस्तु नहीं। यह तो वस्तुकी तरंग अवस्था है। वस्तुकी अवस्था एक समयकी ही होती है। प्रत्येक अवस्था क्षणिक है सिद्ध वस्तु नहीं, किन्तु आत्मा वस्तु है। वह सिद्धपर्याय या सर्वगुणोंकी पर्याय क्षणिक होकर उसकी एक ही प्रकार अनन्तकाल तक होवेगी, क्योंकि वह स्वाभावपर्याय है। अब यह प्रश्न होता है कि ये अवस्थाएं संसार भी हैं, केवलज्ञान भी हैं, सिद्ध भी हैं; तो क्या ये अनादिसे चल रही हैं। उत्तर है कि अनादि से ही चल रही हैं, परन्तु समूह रूपसे यह उत्तर होगा कि ये सब अवस्थाएं अनादिसे चल रही हैं। ऐसा नहीं है। किसी आत्माकी सिद्ध अवस्था है तो किसीकी केवलज्ञान अवस्था है और किसीकी संसारी अवस्था चल रही है। यदि जीव अपनी परिणतिसे शुभ अशुभ भावसे परिणमता है ऐसा न माना जाय तो वह नित्य मुक्त बन जायगा। इसलिए आत्माके परिण-

मनका उपादान कारण विवक्षित पर्यायी आत्मा वस्तु है, सत्ता है, इसलिए प्रति समय निरंतर परिणमता ही रहेगा। आत्मा द्रव्य है इसलिए परिणमता है। जब आत्माका परिणमनेका स्वभाव है तो कर्मोदयकी उपाधि रहेगी तब शुभ अशुभ भावसे परिणम जायगी जैसे स्फटिक है उसमें मयूर पंख जटा आदि उपाधि लगा दी जाय तो उसमें वह रंग आजायगा क्यों कि स्फटिकका उन परिणमनेका स्वभाव है, इसी तरहसे आत्मा परिणमे बिना नहीं रह सकता। इस तरहसे यह बात सिद्ध की है कि संसारी जीवके यह कर्मोदय सम्पदा ऐश्वर्य वगैरा स्वभावके विघातको करता है और केवलज्ञानीके ये स्वभावके विघातके कारण नहीं है। कोई कहे कि ये सब तो स्वभावका घात करने वाले नहीं हैं, इनके छोड़नेका उपदेश क्यों करते ? परन्तु इस जीवके कर्मोदयका डंक लगा है तब तक यह बाह्य पदार्थोंको निमित्तमात्र बनाकर उन रूप परिणमता।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध और अशुद्धता—अब यह प्रश्न है कि जब यह जीव पहले शुद्ध नहीं था तो हम भी नहीं कह सकते कि बाह्य वस्तुओंने हमें अशुभता या अशुद्धता लगाई। समाधान यहाँ पहले और बादका सवाल ही नहीं, यहाँ तो वर्तमान कालमें ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। अर्थात् जिस कालमें उपाधि रूप निमित्त है उस समयमें वहाँ रागद्वेष रूप परिणमन है और अनादि से प्रति समय उपाधि रूप रागद्वेष रहे तब प्रति समय रागी द्वेषी रहा, अतः यह आवश्यकता नहीं है कि पहले शुद्ध होय फिर निमित्त आये तो अशुद्ध हो जाय। दूसरा कारण यह है कि जिस उपाधिके कारण आत्मामें वर्तमानमें राग है वह राग उस उपाधिके निमित्तसे पहले नहीं था। ऐसी हालतमें वर्तमानमें जो राग जिस निमित्तसे होता है उस रागसे तो वह आत्मा पहले शुद्ध था, यहाँ शुद्धसे मतलब सर्वथासे नहीं किन्तु उस विवक्षित रागसे है। वर्तमानमें जो कार्य होते हैं वे अनादिसे नहीं चले आते। यदि अनादिसे चले जाते तो यहाँ यह सन्देह होता कि जब पहले से ही ये चले आ रहे हैं तो फिर निमित्तका नाम क्या ? निमित्तने जो उसी कालमें गड़बड़ी की वह पहले तो नहीं थी। प्रति समय निमित्त रहा और प्रति समय उसका कार्य रहा। ऐसा भाव इस जीवके अनादिसे चला आ रहा है। इसलिए यह आवश्यकता नहीं रहीं कि पहले यह आत्मा शुद्ध हो और फिर अशुद्ध हुआ हो। जैसे स्वर्ण पाषाणका जबसे जन्म हुआ तभीसे वह अशुद्ध है। शुरूसे शुद्ध होवे और फिर कालिमा आवे तो वह अशुद्ध होवे यह उसमें आवश्यकता नहीं रहती। जब उसको अग्निमें पका कर उसका निमित्त हटा देते हैं तब वह शुद्ध हो जाता है। इसी तरह आत्मामें प्रति समय निमित्त और प्रति समय अशुद्धता है।

परिणमनमें नयविभाग—जिसे शंका होती है, उसकी वह शंका उस सिद्धान्तमें कहीं कुछ किसी ढंगसे कही गई हो तो भी प्रायः उपस्थित होती है। इस गाथामें यह शङ्का उप-

स्थित की गई कि जैसे केवली भगवान किसी बाह्य कारणसे शुभ अशुभ भाव नहीं परिणमते, इसी तरहसे संसारके कोई भी जीव किसी भी तरह शुभ अशुभ रूप नहीं परिणमते। निश्चय का सिद्धान्तमें कथन था। उस कथनको सुनकर शुद्ध नयकी बात बोलकर यह पकड़कर रह गये कि आत्मा शुभ अशुभ भावसे नहीं परिणमता। शुद्धनयसे इसके क्या अर्थ हैं ? जैसे ज्ञान में ज्ञानकी पर्यायें होती जा रही हैं, प्रति समय उसमें पर्यायें चल रही हैं, और उन पर्यायोंमें लगातार एक चीज है, जिसकी कि वे पर्यायें हैं। ज्ञानकी जितनी हालत हो रही हैं, उन सबमें ज्ञान कोई एक चीज है। वह एक चीज जिसे हम समझना चाहते हैं क्या वह कोई पर्यायरूप है। यदि हम किसी पर्यायरूप उसे खोजते हैं तो केवल पर्याय ही हमारे हाथमें आती है। इसलिए हम उस ज्ञानको किसी पर्यायरूप न निरखें, एकस्वरूप सब पर्यायोंमें अनुगत ऐसा निरखें तो हम एक शुद्धनय ज्ञानस्वभावको जान सकेंगे, शुद्ध रूप वह ज्ञानस्वभाव तो किसी रूप भी नहीं परिणमता। परिणमता तो है, परन्तु वह परिणमन व्यवहारका विषय है, परन्तु निश्चयसे जिस एक चीजका वह परिणमन है, वह एक तत्त्व तो परिणमता नहीं तो उसमें शुभ अशुभभावसे परिणमन नहीं हो सकता। ऐसा मान लो कि वह चीज नहीं, हम तो सोच रहे, क्योंकि चीज जो है, वह द्रव्यपर्यायात्मक होती, सामान्यविशेषात्मक होती। इसलिए सामान्यविशेषात्मक उस चीजमें जिस समय सामान्यको मुख्यरूपसे देख रहे हैं, उस समयकी यह चर्चा है और उस वस्तुमें जिस समय पर्यायको मुख्य करके देख रहे हैं, उस समयकी चर्चा है परिणमन, और बिना पर्यायको मुख्य करके देख रहे हैं, उस समयकी चर्चा परिणमन नहीं है। जो परिणमन है, वह तो परिणमन है, और जिसका परिणमन है, वह एक सामान्यतत्त्व है। उसमें परिणमन नहीं देखा जायगा। उस वस्तुकी दृष्टिके रूप देखो, तो यह चर्चा है कि वह चीज शुभ अशुभ रूप नहीं परिणमता।

द्रव्यदृष्टिमें परिणमनका असद्भाव—देखो भैया ! द्रव्यार्थिकनयका लक्षण क्या व पर्यायार्थिकनयका लक्षण क्या ? वहाँ यह बताया कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें द्रव्यको मुख्यरूपसे देखो—द्रव्यार्थिकनय है, द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें परिणमनकी दृष्टिसे देखने वाले नयको पर्यायार्थिकनय कहते हैं। सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें सामान्यको मुख्यतया देखने वाले नयको शुद्ध निश्चयात्मकनय कहते हैं, और सामान्यविशेषात्मक वस्तु व्यवहारको मुख्यतया देखने वाले नयको व्यवहारात्मकनय कहते हैं। सामान्यविशेषात्मक कहनेमें वस्तुके दो तरहके तत्त्व हुए—सामान्यतत्त्व और विशेषतत्त्व। उसमें सामान्य तत्त्व क्या है ? यदि उसको निराकारतासे देखें तो वह सामान्य तत्त्व होगा, और यदि पर्याय तरंग परिणमनको देखें तो वह विशेष तत्त्व हो जायगा। उस समय वह सामान्यतत्त्व नहीं होगा। वह सामान्य एकस्वरूप है, सामान्य अंश परिणमन रूप नहीं। उसका जो परिणमन होता वह तो परिणमन है ही। किन्तु सामान्य न

शुभरूपसे परिणमता और न अशुभरूपसे परिणमता, ऐसी सिद्धान्तकी चर्चा जैनसिद्धान्तमें है। उस चर्चाको सुनकर कितनों ही ने यह मान लिया कि यह आत्मा संसारमें परिणमता ही नहीं। यदि यह आत्मा शुभ अशुभ रूप भावसे न परिणमे तो व्यवहारनयसे भी संसार नहीं रहेगा।

नयविभागसे संसारसिद्धि—एक बात और है कि संसार व्यवहारसे है कि निश्चयसे। संसार व्यवहारसे है। व्यवहार पक्ष वाले मनमें यह चुलबुलि रखते हैं कि व्यवहारसे संसार है तो संसार झूठमूठका है, परंतु संसार व्यवहारसे है, यह कहनेका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए। अर्थ यह लगाना चाहिए कि पर्यायमें संसार है, द्रव्यमें संसार नहीं है। सामान्य अंशमें संसार नहीं है। जब हम विशेष अंशसे देखते हैं तो संसार नहीं है। एक नयसे संसार है और एक नयसे देखते हैं तो संसार नहीं है। यह आत्मा शुद्धनयसे शुभाशुभरूप नहीं परिणमता, इस तरह अशुद्ध नयसे भी नहीं परिणमता, तो इसका संसार ही खत्म हो जायगा। सभी जीवोंमें संसार खत्म हो जायगा, सो है नहीं, प्रत्यक्ष संसार दिख रहा। तो यह सिद्ध होता कि आत्मा परिणमता है। परिणमनेका आत्माका स्वभाव है। वह कर्म उपाधिके कारण उपाधियोंको ग्रहण कर लेता है। ऐसा नहीं हो तो संसारका अभाव हो जाय, परंतु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि संसारके अभावका मतलब मोक्ष, परन्तु उन सबके ऐसा नहीं है। वह संसारमें पड़ा हुआ है, इसलिए सब संसारी संसारमें पड़े हुए हैं। वे तो उसी जैन सिद्धान्त स्याद्वादकी मुद्रासे मुद्रित हैं। ये तो हमारी द्रव्य कम्पनीका ट्रेडमार्का है। जैन सिद्धांतका भी ट्रेडमार्का स्याद्वाद है। जिस ग्रंथके यह ट्रेडमार्का हो, उसी ग्रंथको जैनशास्त्र कहा जा सकता है। जिस ग्रन्थमें बराबर हम लोगोंको सम्हालनेके वास्ते बीचमें व्यवहारका प्ररूपण है, और निश्चयका प्ररूपण नहीं है, तो उस शास्त्रसे हमारा हित नहीं हो सकता। इसी तरह जहाँ व्यवहारको छूये भी नहीं, वर्णन में वहाँ हित नहीं, तो निश्चय व्यवहार दोनों दृष्टियोसे स्वरूपको समझाकर निश्चयको भी छोड़ देंगे और व्यवहारको भी छोड़ देंगे और एक निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी कल्पना करेंगे।

निष्कलङ्क स्वभावकी ओर गमन—जो ज्ञानस्वभाव सामान्य है, वह तो शुभ अशुभसे नहीं परिणमता। वह तो सामान्यदृष्टिसे शुभ अशुभ भावसे नहीं परिणमता, परन्तु जिस द्रव्यमें वह सामान्य है, वहाँ भी शुभ अशुभभावसे परिणमता और वह सामान्य उस समय उस दृष्टिमें कहलाता विशेष। इसलिए हम अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिको प्रबलसे प्रबल बनाएं और पर्याय-बुद्धिसे अपना चित्त हटावें। पर्यायका अनुभव हम यहां बराबर करते, परन्तु भेदविज्ञानसे व्यवहार करें तो कुछ उत्तम है। जैसे मैं इस आत्मासे पृथक् चीज हूं, इसी तरह दुनियाके प्रत्येक जीवको देखकर भी हमारे अंदर यह भाव आये कि उनकी आत्मा भी उनके शरीरसे अलग चीज है। हमारी आत्मा भी इस शरीरसे न्यारी है, दूसरोंके प्रति भी यही है। यह भाव

लानेमें कितना झगड़ा मिटता ? जैसे मेरी आत्मा मेरे शरीरसे अलग है, उसी तरह दूसरेकी आत्मा भी उसके शरीरसे अलग है। आत्मा-आत्मा न्यारी हैं और शरीर-शरीर न्यारे हैं। शरीर-शरीर लड़ नहीं सकते, क्योंकि वे अजीव हैं। सबका स्वरूप बिल्कुल पृथक् है। इस दृष्टि से निरंतर बंधा हुआ भी राग मिटना भी सरल है। कदाचित् राग मिट जाय तो जो अनुकूलता आई है, उससे सुख आ ही गया तो दूसरेकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ ? संसार अनादिसे रहा और अनन्तकाल तक रहेगा। जितने भी मोक्ष गये तो संसारका लक्ष्य चले जानेसे गये। उनका रागादि भाव सब जाता रहा। यदि कोई मोक्ष चला जाता तो उसके पीछे भी संसारका कार्य उसी प्रकार चला करता। इसी तरह यदि घरमें से कोई मर जाता है, तो भी घरका कार्य चल रहा है। इससे वस्तुका स्वतन्त्र स्वरूप जानकर जगतके बाह्य पदार्थोंसे अपना चित्त हटाकर अपने स्वरूपको समझकर अपनी आत्माकी उन्नतिमें लगो। यहांकी सारी चीज तो स्वप्ननवत् हैं। केवल आत्माकी दृष्टि करनेसे ही सब कुछ होगा। यहाँका कोई समागम किसी का भला नहीं कर सकेगा।

अतीन्द्रियज्ञानके अभिनन्दनका संकल्प—ज्ञानके इस प्रकरणमें ज्ञानकी विशेषताओंको बतलाते बतलाते बीचमें अभी ३-४ गाथाओंमें ज्ञानका कुछ ऐसा आकार वर्णन किया, जिससे कुछ ऐसा अनुभव किया कि बड़ी कठिन चर्चा करते हुए बीचमें मानो आचार्य महाराजने भी आराम लिया और श्रोताओंने भी आराम लिया। ऐसी आरामकी चर्चा करनेके बाद आचार्य महाराज फिर वही बात लेते हैं। अब फिर उसी प्रकृतका अनुसरण करके यह बात बतलाते कि अतीन्द्रियज्ञान सर्वको जानता है। अतीन्द्रियज्ञानका सर्वज्ञपनेसे अभिनन्दन करते हैं। अभिनन्दनको सारी शक्ति लगाकर भी की जावे तब भी उसके अन्दरकी महत्ता बताना अशक्य है, इसी तरह अतीन्द्रियज्ञान सहज ही स्वच्छ और पूर्ण अनाकुल है, उसकी महत्ता कैसे कही जावे, सो अतीन्द्रियज्ञानमें व्यक्त सामर्थ्य सर्वको जानना भी है। अतः सर्वज्ञपनेसे अभिनंदन करते हैं। अभिनंदन करते समय अन्तर्रहस्य-अन्तर्महत्त्वका अनुभव होते ही सर्व ओरसे नन्दन-प्रमोद हो जाता है, इसकी शैलीसे यहाँ आचार्य देव अतीन्द्रियज्ञानको सर्वज्ञपनेसे अभिनंदनते हैं।

जेतक्कालियमिदरं जाणहि णुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

अतीन्द्रियज्ञानका अभिनन्दन—केवलीके जाननेमें और हमारे जाननेमें ऐसा अन्तर है कि हम चीजको पकड़ते हैं और वे चीजको पकड़ते नहीं। पकड़नेका अर्थ हाथसे पकड़ना नहीं, बातचीतसे पकड़ना श्रद्धासे पकड़ना है। परन्तु उनके ज्ञानमें वह पकड़ना नहीं होता। इस कारण हमें कई बार ऐसी बीचमें शंका हो जाती है कि इसे भी जानता है तो कैसे जानता है व क्या जानता है, कहाँ जानता है तथा सबको कैसे जाना ? परन्तु जाननेका क्या काम है ?

यह सोचे तो कोई शंका नहीं रहती। जाननेका काम तो केवल प्रतिभासमात्र है। उसके अन्दर विकल्प करना भी ज्ञानमें नहीं फंसा है। जैसे कि तत्कालके जाये हुए बालकको कमरे में सारी चीजें प्रतिभासमें आती हैं परन्तु उनमें उसके विकल्प पैदा नहीं होते, इसी तरहसे जब तक ज्ञान इन्द्रियोंसे पैदा होता है तब तक उसमें नाना उपाधियां होती हैं, परन्तु जब वह इन्द्रियोंसे रहित हो जाता है अर्थात् अतीन्द्रियज्ञान हो जाता है तब स्वभावसे ही सबको जानने वाला होता है। केवलीका जानना ऐसा है कि प्रतिभास मात्र। उनके ज्ञानमें सब बात गर्भित हो जाती है। प्रतिभास मात्र स्वरूप होनेसे कहा गया कि वे अनन्त जान गये, परन्तु वहाँ अन्त नहीं कहा गया। जहाँ प्रतिभासमात्र है, उसे हम अपनी भाषामें कहें, अपने विकल्प रूपसे सोचें तो उनका जानना न जानना समान है। ऐसा प्रतिभास मात्र अतीन्द्रिय ज्ञान जो है वह सर्वको जानता है इस रूपसे प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार निर्विकल्प प्रतिभास तक जावें तो प्रतिभासका विस्तार समझमें आवे।

अतीन्द्रिय ज्ञानमें सर्वज्ञानसमृद्धता—जो ज्ञान वर्तमानकालकी बातको जानता है, भूत कालकी बातको जानता है और भविष्यकी बातको जानता है और जो सबको एक साथ ही जानता है, सर्व ओरसे सर्व आत्मप्रदेशोंसे सर्वको जानता, विचित्र या नाना प्रकारके पदार्थोंको जानता, विषमको जानता, ऐसे अर्थोंको जो जानता है वह ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। वर्तमानकालमें जिसकी वर्तना कलित है, वर्तना माने उपस्थिति। एक समयकी सत्ताको या एक समयके परिणमनको वर्तना कह सकते। एक समयके परिणमको परिवर्तनकी शक्लमें नहीं जान सकते। इसलिए एक समयके परिणमनोंका नाम वर्तना रह सकता। भिन्न समय के परिणमनको परिणमन कहा गया। एक समयमें यदि वर्तना नहीं रहे, सत्ता नहीं रहे तो आगे भी क्या हो? वह सत्ता कुछ काम करके ही तो रहती तो उस समयमें वह परिणमन चल रहा है, परन्तु उस समयके परिणमनका नाम वर्तना है। इस तरह वर्तमानकालकी चीज जिसके वर्तना कलित है अथवा चल रही है, अतीत कालकी और भविष्यकालमें भी जिसके वर्तन कलित है, उनकी वर्तना कलित है इसलिए जानते। कलित माने सत्ताका होना। वर्तमान काल, भूतकाल तथा भविष्यकालमें उनकी वर्तना कलित है, इसलिए आत्माके सर्व प्रदेशोंसे तीनों कालोंको एक साथ ही जानते।

पदार्थका प्रतिसमय परिणमन—यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब एक समयमें परिवर्तन नहीं और परिवर्तन भिन्न समयोंमें कहा जायगा और इस तरह केवली प्रत्येक समय की सत्ताको जान रहे हैं, इसलिए उन्होंने पर्यायोंको नहीं जानी। इसका उत्तर यह कि एक समयमें परिवर्तन नहीं होता, यह बात मुकाबलेको लेकर कही है। एक समयमें जो परिणमन है वह पर्याय नहीं है ऐसा नहीं। प्रति प्रति समयका परिणमन पर्याय ही है। परंतु एक समय की परिणतिमें यह नहीं छांट सकते कि इस तरह यह इतना जुदा हो गया, इस लिए वर्तना

कहा गया। तीनों कालोंकी जो पर्याएं हैं जो वर्तना है, उस पर्यायको वर्तनाके लक्षणमें यह बतलाया कि यह नहीं बतला सकते कि इतना बदल गया। यह बात एक समयकी दृष्टिमें नहीं बतला सकते, परन्तु एक समयमें जो वह देखने में आ रहा है वह पर्याय ही है। एक समय वर्तना भी पर्याय ही है। प्रति प्रति समयकी जो पर्यायें हैं उनके होनेके कारण ही तीनों कालोंमें पर्यायें आती हैं ?

प्रतिभासकी निर्विकल्पता—हमारे ज्ञानमें यदि एक समय २५ पदार्थ आ गए तो २५ पदार्थ ज्ञानमें तो एक साथ आ जाते, परन्तु ज्ञानमें एक साथ आ जानेपर भी जैसे ये अपने स्थानपर तो न्यारे न्यारे ही हैं, इसी तरहसे वह सब पर्याय एक साथ उपयोग भूमिमें आजाने पर भी उनके क्षेत्रमें तो न्यारी न्यारी ही हैं। इसी तरहसे केवलीके ज्ञानमें तीनों लोक और तीनों कालकी सारी पर्याय एक साथ आ जाती, फिर भी कहीं ऐसा नहीं होता कि वहां क्षेत्र और कालमें संकरता आ जाय। वे पर्याय जिस भिन्न-भिन्न सत्ता रूपसे, पर्याय रूपसे अवस्थित हैं, वैसे ही उन्होने जानी। उन्होंने उन पदार्थोंको इसी तरहसे जाना कि वे जैसे हैं वैसे ही हैं। वे उनमें विकल्प नहीं करते। जो पर्याय जिस कालकी है, जिस तरहसे है, जिस नम्बरसे है, जो उनकी स्थिति है, वे सब एक साथ प्रतिभासमें आ गईं, परन्तु उनमें विकल्प नहीं होता कि यह भूतमें है, यह वर्तमानमें है और यह भविष्यमें है। जैसे तत्कालका जाया बालकको सब चीज कमरेमें मालूम तो हैं परन्तु उसके यह चीज कोनेमें रखी है, यह छतपर रखी है, यह खूँटीपर रखी है, ऐसा विकल्प नहीं होता, इसी तरहसे ज्ञानीको पदार्थोंके सम्बन्धमें विकल्प न होनेपर भी जहां जिस कालमें जो अवस्थित हैं वे सब पर्याएं प्रतिभासमें आ जातीं वहां विकल्प नहीं होता।

ज्ञानमें सर्वज्ञताका स्वभाव—अभी एक प्रश्न यह उठा कि क्षेत्रकी चीज तो हमारी समझमें आ सकती है, परंतु कालकी चीज सब जो नहीं है, जो होवेगी वह सब एक साथ कैसे जाननेमें आ सकती है ? तो इसका समाधान यह है कि जब छद्मस्थके भी भूतकाल और भविष्यत् कालकी बात आ जाती है तो इसमें भी कोई सन्देह नहीं होता। परन्तु एक साथ कैसे आ जाती है ? एक साथ वहाँ क्यों आ जाते हैं, जैसे वहाँ यह प्रश्न करते वैसे हमें यहाँ भी प्रश्न करना चाहिए कि जब ज्ञानका स्वभाव जानना है तो वहां क्रम क्यों लगाते हैं ? हमारे जो क्रम पड़ गया है, इसका कारण है क्षयोपशम अवस्थामें रहने वाले ज्ञानावरणके पुद्गल। उनके कारण मात्रनिमित्तमें हम तीनों कालके पदार्थोंकी एक साथ नहीं जान सकते। एक साथ जान सकते—इसमें कारण नहीं ढूंढ़ा जाता, स्वभागमें कारण नहीं होता, विभावमें कारण होता है, क्रममें कारण है और अक्रममें कोई कारण नहीं होता। क्रममें आश्चर्य है, खेद है, अफसोस है, पर अक्रममें नहीं। वह अक्रम ही एक साथ जानता।

प्रश्न यह होता है कि जो चीज सत्तासे नष्ट हो गई उसका जानना कैसा ? इसका यह उत्तर है कि जो चीज नष्ट हो गई, उसको हम भी जानते। ज्ञानोपयोगमें इस ज्ञानभावमें जो समस्त ज्ञेयाकार झलक उस ज्ञान पर्यायमें वर्तमानकी तरह है। जैसे कि हमारे ज्ञानमें १० वर्ष पुरानी घटनाकी याद आई, तो वह आजकी हमारी ज्ञानपर्यायमें वह तो वर्तमान है, परन्तु उस जगहमें और उस कालमें तो वह घटना तो भूत ही है। ज्ञानमें तो ज्ञेयाकाररूप में वर्तमान है अर्थात् वे सबके सब हमारे ज्ञानमें झलके, यह झलक तो वर्तमान है, यह झलक तो हमारे ज्ञानकी इस समयकी पर्याय है, इसलिए उनका जानना सब हमारे लिए वर्तमान है, परन्तु वह घटना वर्तमान नहीं है। इसलिए जो वस्तु नष्ट हो गई उसको भी जाना जाता।

स्वतंत्र ज्ञानमें स्वतंत्र समृद्धि—समस्त अर्थसमूहको अतीन्द्रियज्ञान जानता है। कैसा है यह अर्थसमूह ? इसके बहुत सुन्दर विशेषण देते हैं। पृथक् पृथक् रहने वाले जो निज निज के लक्षण हैं, जो पदार्थोंकी विशेषता बतलाते हैं ये जो अलग-अलग अपना लक्षण लिए हुए हैं, इनको कहते हैं उनकी लक्ष्मी। लक्ष्मी नाम लक्षणका है। इस पदार्थका जो स्वरूप है वह इस पदार्थकी लक्ष्मी है। आत्माका स्वरूप आत्माकी लक्ष्मी है। प्रत्येक द्रव्यका लक्षण उस द्रव्य की लक्ष्मी है। पृथक् पृथक् रहने वाली रूप लक्ष्मी, उस लक्ष्मीसे इंगित किया हुआ जो अनेक प्रकारका प्रगट वैचित्र्य है, जिसमें वह है अर्थसमूह। जिन अर्थोंमें यह बात प्रगट कर देते हैं कि यह भिन्न-भिन्न परिणतिको लिए हुए हैं, भिन्न-भिन्न परिणतिको लिए हुए नाना प्रकारके पदार्थोंको यह ज्ञान जानता है, और कैसे हैं वे पदार्थ ? विषम हैं। आग गर्म है, पानी ठंडा है, यह दोनोंमें विषमता है। परन्तु दोनोंका ज्ञान एक साथ है। इस ज्ञानमें परस्पर विरोधी अनेक पदार्थ रहते हैं। परस्पर विरोधी अर्थात् पैदा होती है असमानता जिसमें, ऐसे ये पदार्थ हैं। यहाँ राज्यशासन जैसी वीतराग अवस्था है कि व्यवहारमें विषमता होते हुए भी चतुर राजा वह है कि सबको अपने शासन-सूत्रमें बाँधे रखे। इस लोकमें नाना प्रकारके पदार्थ अलग अलग जाति और परिणतिमें रहते हुए एक समयमें जिनको जान रहा है, ऐसा वह ज्ञान है। वह विचित्र विषम सर्व पदार्थोंको एक साथ ही जानता है। इसलिए वह ज्ञान क्षायिक कहलाता है, स्वाभाविक कहलाता है। स्वभाव विशेष तकका गोचर नहीं। जैसे कोई पूछे कि नीमके पत्ते कड़ुवे क्यों हो गए ? उत्तर दिया जाता, उसका स्वभाव है। स्वभावमें विशेष तक नहीं उठा करते। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, उस स्वभावसे ज्ञान सबको जान गया, यह तो उसका स्वभाव है। अतीन्द्रियज्ञान सबको जानता है इसमें आपत्ति पेश करनेकी गुञ्जाइश नहीं।

क्षायोपशमिक ज्ञानमें क्रम—अपनेमें आपत्ति करो कि मैं त्रिकालको क्यों नहीं जानता, मैं सबको क्यों नहीं जानता ? अपने क्रमज्ञानमें प्रश्न पैदा करें और कारण खोजें, इसका भी

उत्तर साफ है कि अतीन्द्रियज्ञान समस्त अर्थसमूहमें एक ही कालमें प्रकाशित करता है, क्योंकि केवलीके ज्ञानावरणी कर्म पुद्गल नहीं रहे। क्षयोपशम अवस्थामें रहने वाले जो ज्ञानावरणके कर्म पुद्गल हैं, वे कारण हैं हमारे ज्ञानको क्रमसे चलानेमें। उसमें यह व्यवस्था है कि ज्ञानका उपयोग क्रमसे चलता। जिनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी हैं, उनके भी दोनों ज्ञान एक समय में नहीं चलते। हमारी भी यही व्यवस्था है, जिनके ये दोनों ज्ञान हैं, और इस तरह जितना भी हमारा ज्ञान आता है, सब क्रमको लेकर आता है। इसमें कारण वह है कि क्षयोपशम अवस्थामें रहने वाले ज्ञानावरण कर्म पुद्गल वहाँ हैं।

अतीन्द्रिय ज्ञानमें सकलज्ञताका विवरण—केवलीका ज्ञान उन क्षयोपशम अवस्थामें रहने वाले ज्ञानावरण कर्म पुद्गलोंके अभावसे सबको जानता है। सब ओरसे क्यों जानता, अब यह प्रश्न उठता है। सब ओरसे यों जानता है कि वह सबसे निर्मल हो गया। किसी भी आत्मप्रदेशमें कोई कालिमा नहीं रही। उसमें प्रतिनियत देश विशुद्धि भी नहीं होती। जैसे एक कमरेमें ५ खिड़कियां हैं तो प्रतिनियत अवकाश होनेसे हम खिड़कियोंसे ही जान सकते हैं, परन्तु भींत सारी गिर जाय, तो सब विकास हो गया और सब तरफसे देख सकते। जब प्रतिनियत देशविशुद्धि ही नहीं रही और सर्व विशुद्धि रह जाय तो यह आत्मा सर्व ओरसे जानता है। उसको सर्वज्ञ कहा गया है, अनन्तज्ञ नहीं कहा गया। अनन्त कई प्रकारके होते हैं और वे सारेके सारे केवलज्ञानसे कम होते हैं। कम होते हैं ऐसा कहनेमें कहीं यह दृष्टि नहीं लगाना कि उसकी हद हो गई। हद न होनेपर भी कम अधिकका यहाँ प्रयोग है। क्योंकि सर्व पदार्थ समूह मिलकर भी केवलज्ञानकी शक्तिके जो अंश हैं उनकी बराबरी नहीं कर पाते। जैसे किसी आदमीकी समझकी हद १०० की संख्यासे परे है और वह बड़ा जोर लगाकर भी केवल १० तक ही जान पाता और पूछता कि १०० कितने होते तो बताते कि १०० में से १० घटा दो और जो बचे उसमें १० जोड़ दो, इतने १०० होते हैं। इसी तरह बताते कि केवलज्ञानकी शक्तिके अंश इतने हैं कि सर्व प्रकारके अंशोंको सर्व प्रकारके अर्थसमूहोंको जोड़कर उसमेंसे घटादो और जो कुछ बचे उसमें उन अंशोंको जोड़ दो, इतने केवलज्ञानकी शक्तिके अंश हैं। केवली भगवान केवल पदार्थोंको ही जानते होते तो कह देते कि वे अनन्तज्ञ हैं, परन्तु केवली तो अपने ज्ञानकी शक्तिके अंशोंको भी जान रहे हैं, पदार्थोंको भी जानते हैं, जितने केवली हुए हैं उन सबकी शक्तिके अंश भी जानते हैं, उनकी ज्ञान पर्याय को भी जान रहे हैं, इतना जाननेके कारण उनको अनन्तज्ञ कहकर सर्वज्ञ कहा गया। भगवानका ज्ञान अलौकिक है। उसमें ऐसी स्वच्छता है कि सर्व प्रतिभास उसमें आ जाता। परन्तु वह हम लोगोंकी तरह हम लोगोंकी दृष्टिमें स्पष्ट कहा जाता है ऐसा स्पष्टाभास उनके ज्ञानमें आवे तो वह सर्वज्ञ नहीं रह सकते, वे तो हमारी ही तरह रह

जायेंगे। उनका ज्ञान तो सर्वका प्रतिभास है। यह कैसे समझा जाय कि सर्वका प्रतिभास है? उनके सर्वज्ञानावरणका क्षय हो गया। ज्ञानावरण कितने थे? हमारी आत्मामें ज्ञानावरण कितने हैं? जितने ज्ञान हैं उतने ही ज्ञानावरण हैं। जितने ज्ञेयोंका ज्ञान है उतने ही ज्ञानावरण हैं। उन सबका क्षय हो गया और क्षयोपशम यहाँ रहता नहीं तो वे सर्वको ही प्रकाशित करेंगे। जब तक क्षयोपशम रहता तब तक सर्वको प्रकाशित नहीं करता। सर्वज्ञ ज्ञानमें क्षयोपशम नहीं रहता तब वह सबको प्रकाशित करेगा।

अतीन्द्रिय ज्ञानमें समन्तज्ञता—अब कहते कि विचित्रको भी प्रकाशित करता। नाना प्रकारकी सत्तामें रहने वाले विचित्र पदार्थोंको भी प्रकाशित करता। ज्ञानके सर्व प्रकारके ज्ञानावरणोंका हो गया क्षय और कुछ ही प्रकारके ज्ञानावरणी जो क्षयोपशमरूप चल रहे थे उनका भी हो गया विनाश, इसलिए वे विचित्रको भी प्रकाशित करते, विषमको भी जानते। असमानजातीय ज्ञानावरणका हो गया क्षय और कुछ समानजातीय ज्ञानावरणोंका क्षयोपशम जो हुआ था उसका विनाश होनेसे वे विषमको भी जानते हैं, फिर कहते कि ज्यादा विस्तार करना व्यर्थ है। मालूम होता कि जैसे व्याख्याता व्याख्यान देता-देता श्रोताओंको देख लेता कि सुनते सुनते थक गये तो कहता कि अब मैं आप लोगोंका ज्यादा समय नहीं लेकर केवल उपसंहार करके अपना स्थान लूंगा, उसी प्रकार आचार्य भी जो यह कहते हैं कि हम विस्तार करना नहीं चाहते, उसका यह तात्पर्य होगा कि उन्होंने समझा कि ज्यादा विस्तार कर देनेसे ग्रन्थके बढ़ जानेके कारण लोग उसे पढ़कर थक जायेंगे। इसलिए कहते कि ज्यादा विस्तार करना व्यर्थ है। सारा तात्पर्य इतना वर्णन करनेका यह है कि ज्ञानका स्वभाव जानता है। जाननेका अर्थ प्रकाश है और उसका प्रकाश निनवारित है। ऐसा प्रकाश करके सत् होनेमें क्षायिक ज्ञानस्वभाव ही सर्व जगह सर्व प्रकार सर्वको ही जानता—यह तात्पर्य निकला।

आगे चलकर यह बतलाया है कि जो सर्वको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता। सबको न जानता हुआ एकको भी नहीं जानता—इसका निश्चय आचार्यदेव करते हैं। निश्चय प्रभुकी आत्मामें नहीं किया जा रहा है। वस्तुतः निश्चय निश्चय करने वाले आत्मामें ही होते हैं। ज्ञानकी व्यञ्जना कैसी होती है निमित्तदृष्टि छूटकर तथा बाह्यविकल्प भी छूट कर आत्मामें जाननकी क्या परिस्थिति होती है? इन रहस्योंका अनुभव करने वाले आचार्य निःशंक निश्चय करते हैं।

जोण विजाणदि जुगवंअत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णाहुं तस्सण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

सर्वके जाने बिना यथार्थ एक निजके ज्ञानकी असिद्धि—जो त्रिकालवर्ती त्रिभुवनस्थ सब पदार्थोंको युगपत् नहीं जानता है वह निज आत्माको भी नहीं जानता है अथवा वह सब

पर्यायों सहित एक भी ज्ञेय द्रव्यको नहीं जानता। एक ही पदार्थको समस्त पर्याय सहित जाननेकी योग्यता उन्हींमें है जो सब द्रव्योंको सर्वपर्याय सहित जानता है अथवा सर्वज्ञका ज्ञान समस्त ज्ञेयाकार परिणत है, सो सब ज्ञेयोंके जानने पूर्वक हो तो खुदका जानना बन सकता है। केवली भगवान सबको जानते हैं, इसलिए वे अपने आपको भी सही जान जाते हैं। यदि वे सबको नहीं जानते होते तो अपने आपका भी सही नहीं जान सकते थे। वे केवली तीन कालके रहने वाले पदार्थोंको तीन लोकके रहने वाले पदार्थोंको एक साथ नहीं जानते हैं तो सर्व पर्यायों सहित जो एक निजस्वभाव है उसे भी जाननेमें वे समर्थ नहीं हो सकते।

अनन्त ज्ञेयोंका ज्ञाता—एक तो आकाशद्रव्य हैं, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, असंख्यात कालद्रव्य हैं, अनन्त जीवद्रव्य हैं और उससे भी अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य हैं, ये समस्त ज्ञेयोंकी चर्चा चल रही है। इससे कहीं यह बात नहीं सिद्ध होगी कि पुद्गलद्रव्यों से तो अनन्तवें भाग कम जीवद्रव्य हैं, इसलिए उनका तो अन्त आ जाता होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। जीव भी इतने अनन्त हैं कि जिनका अन्त है ही नहीं और इस तरहसे अनन्त पुद्गलद्रव्य हैं जिनका कि अनन्त नहीं है। यहाँ एक जीवके ही भोगमें आने वाले एक जीवके ही सम्बंधमें आने वाले पुद्गल अनंत हैं। सबसे सूक्ष्म अवगाहना वाला जीव सूक्ष्म निगोदिया जीव होता है। उसके भी औदारिक शरीर जब होता है उसमें भी अनेक वर्गणाएं हैं और जो एक जीवके साथ कर्मोंका सम्बंध है, वहां कर्मवर्गणाएं भी अनन्त हैं। यदि जितने जीव होते, उतने ही कर्म होते, उतने ही कर्म परमाणु होते, तो एक परमाणुमें या २-४ परमाणुओंके स्कन्धमें इस निमित्तपनेकी कारणता नहीं हो सकती कि वह जीवके कषाय भावका निमित्त हो सके। ऐसे एक जीवको जाननेके लिये अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओंकी आवश्यकता है। उस जीवके शरीरके परमाणुओंकी संख्या भी अनंत असंख्यात हैं, तब फिर जिन कार्योंको यह जीव छोड़ चुका है, और जो उनके रूपको देख रहा है, तो ये अनन्तानन्त कर्म परमाणु भी उनके दीखनेमें आ गये। तो जीवद्रव्यसे अनन्तानन्त गुने पुद्गल द्रव्य हैं। इतना ही नहीं कितने ही इन द्रव्योंमें से प्रत्येकको अतीत और अनागत कालमें जो अनुभवमें आने वाली पर्यायें हैं, उनकी अनेक पर्यायोंका जो एक प्रवाह होता है, उस एक प्रवाहमें पतित अनन्त पर्यायोंका भी ज्ञान हो गया। इतने तो सारे अनन्त द्रव्य हैं, ये सब स्वतन्त्र हैं। अनन्तानन्त जीवद्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य आदि सब अपनी सत्ताको लिये हुए हैं। असंख्यात काल द्रव्य हैं वे भी, आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य वे भी सब अपनी जुदी-जुदी सत्ताको लिये हुए हैं। अव्वल तो इनकी संख्या ही अनन्तानन्त है, फिर इनकी अनन्तानन्त पर्यायें हैं। यह सब मिलकर ज्ञेय कहलाते। अनन्तानन्त द्रव्य और उनकी प्रत्येककी अनन्तानन्त पर्यायें, यह

सब समूह ज्ञेय है, और यह ज्ञाता कौन है ? एक जीवद्रव्य ज्ञाता है। एक तो ज्ञाता और ये सबके सब ज्ञेय हैं।

सर्वज्ञेयके ज्ञातामें एकज्ञताका विवरण—ज्ञाता भी यद्यपि अनन्तानन्त हैं, परन्तु एक ज्ञाताके लिये तो सबके सब ये ज्ञेय ही हैं। इस तरहसे ज्ञेय तो कितने ही हैं, परन्तु ज्ञाता तो एक जीवद्रव्य ही है। सो वह जीवद्रव्य, जो कि अपने पूरे ज्ञानस्वभावमें आ गया है, वह जीवद्रव्य यदि सर्वको जानने वाला नहीं है, तो अपने आपको भी नहीं जान सकता। सर्वको जान लेता है, इसीलिये अपनेको भी जानता। किस तरहसे सर्वको जान लेता है ? जब कोई ज्ञानावरण ही नहीं रहता, तो इस ज्ञानमें ऐसा स्वभाव प्रगट होता है कि सर्व इसके ज्ञेय हो जाते हैं। ऐसी हालतमें यदि ज्ञेयोंको न जाने तो अपने आपको कैसे जान सकता है। जैसे एक दर्पण है, दर्पणके सामने एक पेड़ खड़ा है, पेड़की डालियां, पत्ते, पुष्प, फल, छाल आदि सभी के सभी दर्पणमें प्रतिबिम्बमें आ रहे हैं। आप प्रतिबिम्बको मत देखो, दर्पणको देख लो, क्या बिना प्रतिबिम्बके देखे दर्पणको देख सकते हो ? प्रत्यक्ष बात है कि आप दर्पणको नहीं देख सकते। दर्पणका प्रतिबिम्ब और उसकी सारी पर्यायें देखनेपर ही दर्पण देखनेमें आ सकता है। जैसे ज्ञानीके ज्ञानमें सर्व पर्यायें आईं, वहाँ सर्व ज्ञेयोंको नहीं जान पाया तो यह अपने ज्ञानको भी नहीं जान सकता। समस्त ज्ञेय जाननेमें नहीं आनेपर वह एक भी जाननेमें नहीं आ सकता। जैसे कोई अंधा सूर्यके द्वारा प्रकाशमें आने वाले पदार्थोंको नहीं देख पाता, तो एक सूर्यको भी नहीं देख पाता, इसी तरहसे यदि कोई सर्वज्ञेयोंको नहीं जान पाये तो अपनेमें अवस्थित एक आत्माको भी नहीं जान पाता। कारण यह है कि जब सारे ज्ञानावरण मिट गये, और ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, और सर्व ज्ञेय इस स्वभावके कारण ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं, कोई यदि यह चाहे कि उन ज्ञेयोंको न जाने और अपने आपको जान जाय तो यह बात नहीं हो सकती। जब जैसे प्रतिबिम्बको न देखते हुए दर्पणको भी देखने वाला नहीं बन सकता, इसी तरहसे सब ज्ञेयोंको न जानते हुए वह केवली अपने आपको भी नहीं जान सकता। जिस ज्ञातामें ज्ञानस्वभावके कारण सर्वज्ञेयोंका आकार आया, वहाँ वह सर्वज्ञेयों को न जाने तो वह अपने आपको भी नहीं जान सकता।

ज्ञेयाकार ग्रहणस्वभाव—इस गाथाको इस तरहसे सोचना चाहिये कि केवलीका ज्ञान जो है, उसका ज्ञानस्वभाव होनेके कारण सर्वज्ञेयोंका प्रतिबिम्ब उसमें आया है। प्रतिबम्ब नहीं आता, उसका ग्रहण आता है, जिसको ज्ञेयाकार कहते। उनके ज्ञानमें सब ज्ञेयोंका ज्ञेयाकार आता। इतना माननेके बाद इस गाथाका रहस्य समझो। यदि वह ज्ञानी सर्वज्ञेयोंको नहीं जानता तो वह अपने आपको भी नहीं जानता। जैसे एक गोलेके प्रमाण वाली अग्नि, यदि वह इतने दाह्यको नहीं जलाती है, तो वह अग्नि इस समस्त दहनके आकार रूपमें नहीं

परिणमन सकती। जैसे समस्त दाह्यको जलाने वाली अग्नि समस्त ईंधनके कारण जो दाह्य आकार बना, तब वह इतने आकारकी अग्नि कहलाई। इसमें दोनों चीज हैं, जैसे मानो कुछ इतने छोटे कंडेमें आग लगी है, उसके पूरे कंडेमें आग लग चुकी है। अब यह जो है, यह इतने समस्त एक दहन आकाररूपमें कैसे परिणमी, क्या करती हुई परिणमी ? इतने कंडेको जलाती हुई हो इतने स्वरूप रख पाई। इसी तरहसे समस्त ज्ञेयोंको जानने वाला ज्ञानी समस्त ज्ञेयोंके निमित्त कारणसे समस्त ज्ञेयाकार ज्ञेयोंमें परिणमता, इसी तरहसे ज्ञाता यह आत्मा होनेके कारण अपनी आत्माको परिणमता है। जैसे कल्पना करो कि यदि यह दर्पण खुद जानने वाला होता तो वह दर्पण अपने निजस्वभावको निज परिणामको तब तक नहीं जान पाता, जब तक वह अपने सारे प्रतिविम्बको नहीं जान लेता। इसी तरहसे आत्मा तो स्वयंका जानने वाला है ही। यह आत्मा स्वयंका जानने वाला तब तक नहीं बन सकता, जब तक कि इसमें समस्त ज्ञयाकारके ग्रहणको नहीं जान पाया, तब तक वह अपने आपको भी नहीं जान सकता। इस बातको अपने पर घटाओ। केवलीको छोड दो। हम अपने आपको जो अनुभव कर रहे हैं, हम अपने आपके ज्ञानको जो जानते हैं तभी जान पाते हैं कि हमारे ज्ञानमें जो भी आये इसको जानते हुए ही हम अपने आपको जान पाये। जो जैसी अवस्था है उसी अवस्थामें जितना ज्ञेयोंको जानना हो रहा है और जो ज्ञेयाकार जान रहे हैं उनको जाने बिना अपने आपको नहीं जान पाते। यहाँ तो हमारेमें कतिपय ज्ञेयाकार आते हैं और वहाँ केवलीके ज्ञान में सर्व ज्ञेयाकार एक समयमें आते हैं।

प्रत्येक आत्मामें स्वका अनुभवन—यहाँ यह प्रश्न किया कि केवलीकी उस बातको समझनेके लिए यह दृष्टान्त किया, कि ज्ञेयाकार को जानकर हम अपने आपको जान पाते। परन्तु ज्ञेयाकारको जानकर भी अपने आपको नहीं जान पाते, ऐसे भी कई व्यक्ति यहां हैं ? उत्तर–यहां आत्माके साधारण अनुभवसे मतलब है। आत्माके अनुभवके बिना दुनियाका कोई प्राणी नहीं रहता। मिथ्यादृष्टि सुख दुःख रूपसे अनुभव करता, सम्यक्दृष्टि अपने आपको ध्रुवज्ञान स्वभावसे अनुभव करता, परन्तु अनुभव करनेसे अलग कोई नहीं रहता। ज्ञेयाकारों का अनुभव किये बिना वह अपने आपका अनुभव नहीं कर सकता। अपने आपके सत्य अनुभव करने की बात नहीं कही है। जैसा भी अनुभव हो उस समय वह ज्ञान उन पर्यायोंके अनुभवके बिना नहीं हो सकता। निगोदसे लेकर सिद्धपर्याय तक सब जीवोंका यही हाल है। प्रत्येक द्रव्य अपनी ही पर्यायोंका अनुभव करता ही है। ऐसा द्रव्यका स्वभाव है।

आत्मसंवेदनकी सब जीवोंमें अनिवार्यता—यदि मिथ्यादृष्टि अपनी आत्माका अनुभव न करे तो उसे सुख दुःख हो ही नहीं सकता। यहाँ आत्माका अनुभव करनेका तात्पर्य शुद्ध-आत्माका अनुभव नहीं। आत्माके अनुभवके बिना सुख दुःखका अनुभव नही हो सकता।

सुख दुःखका भी अनुभव आत्माका ही अनुभव है। सम्यक्दृष्टि तो अपने अन्दर आये हुए पापों की विवेचना करता है और मिथ्यादृष्टि अपने अन्दर आये हुए पापोंकी विवेचना नहीं कर रहा है, वह तो अपने अन्दर आये हुये पापोंका अनुभव कर रहा है। दोनों जगह अनुभवन चल ही रहा है। जैसे किसी मिथ्यादृष्टि ने किसी स्त्री पुत्रके विषयमें ऐसा परिणाम किया कि यही मैं हूं, यह निकृष्ट दर्जेका परिणाम है। परपदार्थके लिये यह सोचना कि यह मैं हूं, यह निकृष्ट परिणाम है। परपदार्थमें यह मेरा है यह उतना खोटा परिणाम नहीं, परन्तु यह मैं हूं यह तो निकृष्ट परिणाम है। यह मेरे हैं यह कहता हुआ वह यह तो कह रहा कि इसकी सत्ता न्यारी और मेरी सत्ता न्यारी है। यह परिणाम करते हुए उसने उस पदार्थपर दया तो कर रखी है कि उसकी सत्तासे न्यारा रखा इसमें अपनी भी दया आ गई। परन्तु 'यही मैं हूं' कहनेमें तो उसने उसकी सत्ता ही मिटा डाली। ऐसा कहने में कि वह आत्मा वह बन गया। इसमें तो उस आत्माकी सत्ता ही मिट जाती। इस परिणामसे तो उसने बिल्कुल अशुद्ध परिणामका अनुभव किया परन्तु ऐसा होनेपर भी उसने अपने विकल्पका ही अनुभव किया, न कि परका वह उसको जानता मात्र है। जो केवली जिनका ज्ञान स्वभाव होनेके कारण सर्व ज्ञेय जाननेमें आये, यदि वह सर्वज्ञेयोंको नहीं जानें तो अपने आपको भी नहीं जाने।

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता बतानेका प्रयोजन—अभी प्रश्न यह उठा कि ऐसा समझाने का अभिप्राय क्या है ? अभिप्राय यह है कि कहीं कोई यह धारणा न कर ले। जैसे कितने ही सिद्धांत भी ऐसे हैं कि आत्मा तो केवल आत्माको ही जानता, जैन सिद्धांतमें भी यही सिद्धांत है, निश्चयसे आत्मा आत्माको ही जानता, ऐसा सुनकर कोई जीव इस सन्देहमें न आ जाये कि आत्मा तो केवल आत्माको ही जानता, और किसी भी पदार्थको नहीं जानता। उसका समाधान करनेके लिये यह बात बतला रहे हैं कि जो समस्त ज्ञेयोंका समस्त ज्ञेयाकार ग्रहणरूप पर्यायमें आ जावे, सर्व ज्ञेयाकार उस ज्ञाताके ज्ञानमें गृहीत हैं, यह बतलानेके बाद यह बतलाते कि नियमसे सर्व ज्ञेयोंके जाने बिना अपने आपको नहीं जान सकते। यह कहते हुए उनके हितके स्वरूपका ज्ञान करा रहे हैं। उस हालतमें वह ज्ञानी भी समस्त ज्ञेयोंको नहीं जानता। समस्त ज्ञेयोंके निमित्तसे जो समस्त ज्ञेयाकार पर्यायोंमें परिणति हुई वह ज्ञान है उसे जानता। यदि समस्त ज्ञेयाकारोंको नहीं जाना तो उस ज्ञेयाकार स्वरूप आत्माको भी नहीं जान सका। वह आत्मा भी स्वानुभव प्रत्यक्षमें नहीं आ सकी। जैसे दर्पण प्रतिबिम्बके ज्ञानके बिना नहीं देखा जा सकता, इसी तरहसे ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा वहाँ है कि समस्त ज्ञेयोंके आकारसे ज्ञानाकार परिणम रहा है, तो वहाँ भी यह नहीं हो सकता कि समस्त ज्ञेयोंको न जाने और अपने आपको जान जाये। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि जो अपने आपको नहीं जानते, वे सर्वको नहीं जानते, और जिसका अभिप्राय था कि आत्मा कैसी है ? यह बात जब तक

जाननेमें नहीं आयेगी तब तक कि वह अपने आपको नहीं जान जायगा।

अविश्वज्ञतामें अनात्मज्ञताका रहस्य—सांख्य सिद्धान्तमें ऐसा माना है कि यह ज्ञाता आत्मा केवल अपनेको द्रव्यरूप करता है, इसके अलावा यह पुरुष और कुछ नहीं कर पाता। इसके लिये जिनसिद्धांतको भी बताता कि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञान आता। यह आत्मा जानता नहीं, परन्तु ज्ञानावरणका क्षयोपशम आत्माको जानता। आत्मा साता है, न असाता, परन्तु वह तो कर्मोंके उदयसे अनुभव करता। यदि वह सुखी है तो उसके साता कर्मका उदय है, वह दुःखी है तो उसके असाता कर्मका उदय है। यदि ऐसा ही मानते रहेंगे कि आत्मा केवल द्रव्यरूपको करता, वह और कुछ भी करे वह क्रिया आत्माको करती ही नहीं, चाहे वह व्यभिचार करे, चाहे वह मांस मदिरा खाये, उससे आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ता। वे आत्मा ज्ञानके विषयमें भी यह ही कह सकते कि वह ज्ञान जानता किसीको भी नहीं और केवल अपने आपको ही द्रव्यरूप करता। तो ऐसे गलत अभिप्रायको मिटानेके लिये यह गाथा कही गई है कि वह ज्ञान जो ज्ञेयाकार उसमें आये हुये हैं उनके अनुभवके बिना रह ही नहीं सकता। एक ज्ञानमें ज्ञयाकार पर्यायोंका अनुभव किये बिना ज्ञान रहेगा क्या? और अपनी क्रियाको करेगा क्या? जिसके जैसी पर्याय है उसका अनुभव किये बिना वह उसकी क्रिया होगी क्या? इसलिये केवली भगवान सर्वको नहीं जानते, तो अपने आपको भी नहीं जान पाते। इस आत्मासे जब तक सर्वको नहीं जान लिया जाय तब तक यह आत्मा जाना नहीं जा सकता। तो इस गाथामें यह सिद्ध किया गया है कि जो सर्वको यहीं जानता, वह आत्माको भी नहीं जानता।

स्वपरप्रकाशकताका विवरण—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि हम जिस समय घटको जानते हैं, उस घटका ज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान दोनोंका ज्ञान एक साथ हुआ कि क्रमसे हुआ है। उत्तर है कि घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान एक साथ होते। ज्ञानमें घटज्ञानके ज्ञानके बिना घटज्ञानका या घटका निश्चय नहीं हो सकता। जो जाना वह ज्ञान उसका सच्चा है, यह पदार्थ सच्चा है, यह जाननेके साथ उसके उत्तरमें यह प्रतीति बैठी कि उसके जाननेवाला ज्ञान वह भी सच्चा है। तो घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान दोनों एक साथ ज्ञानमें हुए। इसका कारण यह है कि आत्मा घटको नहीं जानता। इस घटका निमित्त पाकर इसका जो आत्मामें घटाकार प्रगट हुआ उस आकारको ही जानता। ज्ञानको उस घटज्ञानमें ऐसी आवश्यकता नहीं होती कि वह अपने आत्मप्रदेशको छोड़कर बाह्य क्षेत्रोंमें भी कुछ क्रिया करे। द्रव्यके किसी गुणमें यह शक्ति नहीं है कि वह अपने प्रदेशको छोड़कर बाहर क्रिया कर सके। एक घटकी क्रियाको पाकर जो यहाँ घटाकार होता है, उसने उस घटाकारको जाना। इस तरह ज्ञेयाकार और ज्ञानाकारमें जो परिणमन होता है, वह एक ही साथ परिणमन होता है, छद्मस्थके दो उपयोग

एक साथ नहीं होते, परन्तु वहाँ दो उपयोग ही नहीं, वह तो एक ही उपयोग है। घटज्ञान जो परिणम गया है, वह घटज्ञान और बाह्य उपचारसे किया गया घटका ज्ञान वह दोनों तो एक ज्ञान हैं, प्रकार दो कहलाये, परन्तु वह तो एक ही उपयोग है, और वह एक ही उपयोग की ऐसी क्रिया है। इसलिए ज्ञानको स्वपरप्रकाशी कहा है, अर्थात् ज्ञान स्वयंको और परको एक साथ जानता है। वह एक ही विषयको लिये हुए जानता है। अब प्रकाशपर आइये, इस तरहसे यहाँ यह बात सिद्ध हो गई कि जो सर्वको नहीं जानता है, वह आत्माको भी वहीं जानता है। केवली यदि सर्वको नहीं जानते तो वह अपने आपको भी नहीं जान सकते।

अनात्मज्ञतामें अविश्वज्ञता—अब इसके बादमें यह कहा है कि जो अपने आपको एकको नहीं जाने वह सर्वको भी नहीं जान सकता। जैसे कि आप यदि उस प्रतिबिम्बमय दर्पणको नहीं जाने जिसमें वृक्षका बिम्ब है तो फूल, पत्ती, डाली वगैरह इन सबको भी नहीं जान सकते। आप यदि एक दर्पणको नहीं जान सकेंगे तो सारे पेड़को भी नहीं जान सकते। इसी तरहसे केवली एक उस आत्माको नहीं जाने तो सर्वको भी नहीं जान सकता। इसके कहनेका क्या प्रयोजन ? इसके कहनेका एक प्रयोजन है कि जैनधर्म अनेकान्तमें से निकले हुए सिद्धान्तको रखता है। उस अनेकान्त धर्ममें से निकले हुए एक ही सिद्धान्तको हठ करके मानने वाले जगतमें बुद्ध अनेक हैं। किसीने ऐसा समझ रखा कि ज्ञान तो अपने आपको ही जानता और किसीको भी नहीं जानता, इसलिए यह शंका हो गई कि वह दोनों उपयोग एक साथ कैसे हो गये ? दुनिया भरको तो जान गया पर अपनेको नहीं जान रहा, ऐसी शंका यहाँ भी हम कर रहे हैं। पर वहाँ भी अपने आपको जानन अनुभव बिना उसके सर्वका जानना नहीं हो सकता। जिनका यह सिद्धांत है कि ज्ञान परको ही जानता है उनका यह खंडन है कि वह खुदको नहीं जाने तो परको भी नहीं जान सकता। केवली यदि निजको भी नहीं जान सकते तो सबको भी नहीं जान सकते। जो दुनिया भरके लड़कों को जिनमें वह परकीय बुद्धि करता नहीं जानता तो वह अपने लड़केको भी नहीं जानता। वह यदि अपने लड़कको यह मेरा लड़का है ऐसा नहीं जाने तो दुनिया भरके लड़कोंको भी ऐसा नहीं जान सकता कि ये परके लड़के हैं। जिसने केवल अपना ही लड़का देखा है और दुनियाके और लड़कोंको नहीं देखा तो उसको यह बुद्धि नहीं हो सकती कि यह लड़का मेरा है और जो अपने लड़के को अपना नहीं जानता, वहाँ परके लड़कों को भी यह दूसरेके हैं ऐसा नहीं जान सकता। यहाँ यह शंका उठेगी कि कोई आदमी जिसके लड़का नहीं है तो यह कैसे जानेगा कि यह परका लड़का है। इसका उत्तर है कि वह यह भी तो जानेगा कि मेरे लड़का नहीं है। ऐसा सोचनेमें भी उसने अपना लड़का बना ही तो लिया। जब अपना लड़का बन गया तब यह

कहा जाता कि यह दूसरेका लड़का है। साधुजनोंके यह विकल्प ही नहीं होता कि यह दूसरों का लड़का है क्योंकि खुदका लड़का माने बिना यह विकल्प नहीं हो सकता, यह तो विकल्प आजायगा कि यह इसका लड़का है परन्तु यह विकल्प नहीं आयेगा कि यह परका लड़का है। यह तो बात संगतिमात्र कहो मोहियोंकी लीला का उदाहरण है, यहाँ तो आत्मा व ज्ञेयाकार का व्यापकव्याप्य सम्बन्ध है। अब श्रीमत्कुंदकुंदाचार्य यह निश्चय करते हैं कि जो एक निज आत्माको नही जानता वह सर्वको भी नहीं जानता है।

दव्वं अणंत पज्जव मेक्कमणंताणि दव्व जादाणि।
णविजाणदि जदिजुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

ज्ञानका विशुद्ध रूप—निज आत्मा अनंत पर्याय करि त्रिकालमें सहित है और वर्तमान कालमें निजकी समस्त अनन्त शक्तियोंके पर्याय करि संयुक्त है और शुद्ध आत्मामें भी स्वरसतः सर्वज्ञेयोंका भास है जिससे उन उनके ग्रहणरूप आकार पर्यायसे संयुक्त है, ऐसे अनंत पर्याय वाले निज आत्मायु को जो नहीं जाने तो अनंत पर्याय वाले अनंत द्रव्योंको सबको एक साथ फिर कैसे जाना जा सकता है ? यह आत्मा ज्ञानमय है, स्वयं ज्ञानमय है, क्योंकि ज्ञाता द्रव्य है अतः आत्मा ज्ञान ही है। आत्माका ज्ञान असाधारण गुण है वह प्रत्येक आत्मामें समान स्वभावको लिए हुए है, त्रैकालिक है, अतः प्रतिभासमय होते हुए भी महासामान्यरूप है। प्रतिभासका स्वरूप पदार्थ विषय जानन है। कुछ भी ज्ञेय न हो तो जानन ही क्या ? जाननका अर्थ जानना ही ये है। निरावरण निर्मल ज्ञान स्वरसतः सर्व ज्ञेयोंके जाननरूप है। अतः ज्ञान ज्ञानस्वभावकी अपेक्षा एक होकर भी प्रतिभास क्रियोद्यत अनन्त ज्ञान विशेषोंमें व्यापता है। ज्ञानके ये अनंत बिशेष नाना विध मति विविधभूत विविध अवधि विविधमनः पर्यायम एकविध केवलज्ञानके प्रकारसे अनन्त हैं। उनमें आदिके ४ ज्ञान तो कतिपय द्रव्य-पर्यायविषयक प्रतिभास हैं और केवलज्ञान सर्व द्रव्य पर्यायविषयक प्रतिभास है। जो प्रतिभास है सो प्रतिभास सामान्यकी व्यक्ति है। आत्मा प्रतिभास सामान्यलक्षणक है। प्रतिभास सामान्य प्रतिभासमय अनन्त विशेष पर्यायोंमें व्यापी है। प्रतिभासमय विशेष अर्थात् ज्ञानस्वभावका केवलज्ञान पर्याय अनन्त सर्व द्रव्य पर्याय निबंधनक है, तब जो आत्मा सर्व द्रव्य पर्याय जिसके विषय हैं, ऐसे प्रतिभास विशेषोंमें व्यापी प्रतिभास सामान्यरूप निज आत्माको नहीं जानता है, वह ज्ञान सामान्यमें व्याप्य जो निजके ज्ञान विशेष हैं, उसके विषयको अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायोंको कैसे जान सकता है ? जैसे दर्पणमें बहुतसे मनुष्योंका प्रतिबिम्ब है, तो दर्पण को देखे बिना प्रतिबिम्ब कैसे दीखे जा सकते हैं ? इसी प्रकार आत्मा ज्ञानसामान्य स्वरूप है, उसकी पर्यायें ज्ञान विशेष हैं, ज्ञान विशेषका निर्माण पदार्थके जाननरूप अभेद हेतुसे ही हुआ है, अर्थात् ज्ञानविशेष ज्ञेयभूत अनंत द्रव्य पर्यायोंके जानने वाले हैं। यहाँ यदि कोई

ज्ञान सामान्यात्मक एक निज आत्माको न जाने तो वह इस निजके चित्रामस्वरूप सर्व ज्ञेयाकारोंको कैसे जाने और जो ज्ञेयाकार न जाने तो यह व्यवहार कैसे बने कि सर्व द्रव्य पर्याय उसके प्रत्यक्ष है। अतः वह बात निर्विवाद है कि जो एक निजको नहीं जानता है, वह सर्वको नहीं जानता है। पहिली गाथामें तो यह बताया था कि जो सर्वको नहीं जानता है, वह एक निज आत्माको भी नहीं जानता है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो एक निज एक आत्माको नही जानता है वह सर्वको नहीं जानता है।

अविश्वज्ञतामें अनात्मज्ञताका विवरण—प्रश्न—जो सबको नहीं जानता है, वह निजको नहीं जानता है। यह कैसे ठीक हो सकता जब कि छद्मस्थ अवस्थामें सम्यग्दृष्टि भक्त सबको नहीं जानते, परन्तु निजको जानते हैं? उत्तर—यहाँसे कम ज्ञानमें भी जीव अजीवादि के परिज्ञानमें परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञानके द्वारा सब पदार्थ जान लिये जाते हैं अथवा छद्मस्थ के ज्ञान विशेषमें प्रतिभासमान जो कुछ है, उस सबको जाने बिना निज आत्माको जो कि ज्ञान विशेषमें व्यापक प्रति आत्मा सामान्य रूप है, नहीं जान सकता। प्रश्न—जो कुछ ज्ञेय हो रहा है, उस रूपमें व्यापी निजको जाने तो जानो, इससे सर्वज्ञ तो नहीं हो जायगा? उत्तर—छद्मस्थ अवस्थामें स्वसंवेदनरूपसे आत्मा जाना जाता है, उससे स्वभावरूप आत्माकी भावना रहती है, उस निर्विकल्प प्रतिभासमय निजकी भावनासे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इस केवलज्ञान अवस्थामें ज्ञानकी सीमाका हेतु ज्ञानावस्था न रहनेसे यह ज्ञान निज शक्तिसे सबके ग्रहणरूप परिणमता है। यह सब ज्ञानका स्वरूप है, तभी यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सर्व विश्व इस ज्ञानमें जम गया हो, क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है, स्वसंचेतक है, यह स्व ज्ञान विशेष रूप परिणमता ही रहता है, ज्ञान विशेष ज्ञेयके ग्रहण रूप है। यहाँ मानो ज्ञाता ज्ञेयका परस्पर संज्वलन हो गया, सब चाहे इसका विवेचन करना अशक्य हो तो भी वस्तुतः देखो ज्ञाता ज्ञेय अत्यन्त पृथक् ही है। प्रतिभास्यमान ज्ञेय ज्ञानकी अवस्था है, जिस बाह्य ज्ञेयके अनुरूप यह प्रतिभास्यमान ज्ञेय है, वह बाह्य ज्ञेय अत्यंत पृथक् परद्रव्य रूप है, सो भी प्रतिभासमें निजवृत्तिरूप प्रतिभास्यमान ज्ञेय तन्मय है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान उस सर्व परिपूर्ण निज आत्माको न जानेगा, तब परिपूर्ण आत्माका ज्ञान ही सिद्ध न होगा। अतः यह बात निर्विवाद प्रतीत करनी चाहिये कि एक निज आत्माको जो न जाने तो सर्वको भी नहीं जानेगा।

यहाँ कोई यह तर्क करे कि सर्वज्ञ तो हो सकता है, परन्तु क्रमसे एक-एकको जान-जानकर जब सबको जान लेता, तब वह सर्वगत बन सकता, तो इसके उत्तरमें श्रीमत्कुन्द-कुन्दाचार्य कहते हैं कि यदि क्रम-क्रमसे अर्थको जानने वालेकी कल्पना करोगे तो इस प्रकार वह सर्वज्ञ सिद्ध हो ही नहीं सकता।

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसोऽत्थे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगयं ॥५०॥

क्रमिक ज्ञानोंसे सर्वगतताकी सिद्धि—यदि क्रमसे एक-एक अर्थका आलम्बन करके ज्ञानीके ज्ञान उत्पन्न हो तो वह न अविनाशी रह सकेगा, न क्षायिक, न सर्वव्यापी। क्योंकि जब ज्ञान क्रम-क्रमसे एक-एक अर्थका अवलम्बन कर प्रवर्तेगा, तो जो किसी एक अर्थके अवलम्बनसे उत्पन्न हुआ था, वह आगे अन्य अर्थका अवलम्बन लेनेपर नष्ट हो गया। अर्थके अवलंबनमें जिस अर्थका अवलंबन हो, उसी अर्थका ज्ञान प्रवर्तेगा। इस तरह पूर्व विज्ञात अर्थ ज्ञान एक भी न रहेगा। इसी प्रकार जब एक-एक अर्थको जानकर क्रमसे अन्य-अन्य अर्थको जानेगा, तो वह ज्ञान क्षायिक नहीं हो सकता। समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर अब ज्ञानकी सीमा में बाँधनेका क्या हेतु रह गया? सीमित और क्रमशः ज्ञान क्षायिक–निर्मल नहीं होता। इन दो दोषोंके अतिरिक्त तीसरा यह दोष है कि वह ज्ञान सर्वगत हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि क्रम क्रम जाननेका जिसका व्यापार चल रहा हो वह अनन्त द्रव्योंको व अनन्त द्रव्य क्षेत्र काल भावरूपसे सबको जान ही नहीं सकता। प्रथम तो क्रम क्रमसे जानते रहने से उपयोग वर्तमान अर्थावलम्बन सम्बन्धी रहेगा, वह सदा ही मात्र एक वर्तमान संयोगागत अर्थको ही जानेगा। संचयकी भी अपेक्षासे सबको नहीं जानेगा। कदाचित् ऐसा भी कहा जावे कि जिन भगवंतोंको अनन्तकाल विशुद्ध हुए व्यतीत हो गया, उनके तो अनन्त द्रव्योंके परिज्ञानका क्रम क्रमसे करके भी संचय हो गया हो, सो भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि सर्वका संचय हो गया हो तो फिर इसके बाद आलम्बनके लिये कोई अर्थ तो अवशिष्ट रहा नहीं, फिर तो व्यापार रुक जानेसे ज्ञानशून्यता हो जायगी। यदि कोई अर्थ शेष है जाननेके लिये, सो इनके सर्वज्ञता नहीं रहेगी। इस तरह क्रम-क्रमसे ज्ञानको जानते रहनेके कारण ज्ञानको सर्वगत रख देनेका जिनके विकल्प हो वह विकल्प यथार्थ नहीं है, क्योंकि इस परिस्थितिमें ज्ञान पराधीन हुआ, क्षयोपशमाधीन हुआ व सामर्थ्यविहीन हुआ।

ज्ञानकी निरपेक्ष वर्तना—ज्ञान अर्थका अवलम्बन लेकर जाने तो पदार्थका विनाश होनेपर ज्ञान विनाश हो गया, क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्तभूत पदार्थ था, उसका विनाश होनेपर ज्ञान कैसे सत् रहेगा? इस तरह ज्ञान पराधीन होनेसे नित्य न रहा, ज्ञान क्रमसे एक-एकको जानते तो इसका हेतु ज्ञानावस्थाका क्षयोपशम मुख्य है। क्षयोपशममें प्रकृतियोंका उदयाभावीक्षय व उपशम तथा उदय रहता है, जिसके ज्ञानकी वृत्ति तो चलती है, परन्तु अटक बनी रहती है, तभी ज्ञान क्रम-क्रमसे एक-एक पदार्थको जाननेको वृत्ति रखता है, ऐसा ज्ञान क्षायोपशमिक हुआ, क्षायिक नहीं है। जो ज्ञान एक-एक अर्थको जानता है, वह अनन्तके विज्ञानकी सामर्थ्यसे विहीन होनेसे सर्वगत नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय केवलज्ञानकी सर्वज्ञता

क्रम-क्रमसे जाननेमें नहीं रहती। भगवत् केवली प्रभुका ज्ञान युगपत् ही सर्व लोकालोकको अनंत पर्यायों सहित है। ज्ञानकी स्वभाववृत्ति ऐसी ही है। ऐसा ही वर्तनेका मेरा स्वभाव है। यह निर्मल परिणति प्रभाव स्वभावदृष्टिका परिणाम है। स्वभावदृष्टिकी निर्मलतासे निर्मल स्वभाव वर्तन होता है। अनन्त सिद्ध महंत भगवंतोंने इसी प्रक्रियासे नैर्मल्य प्राप्त किया। इस प्रकार निषेधरूपसे कर्मकृत प्रवृत्तिका खंडन करके अब युगपत् ज्ञानवृत्तिसे ही सकलज्ञानकी सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं।

तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्य माहप्पं ॥५१॥

ज्ञानका माहात्म्य—जिनेन्द्र प्रभुका ज्ञान नाना प्रकारके सब अर्थोंको एक साथ जानता है। वह ज्ञान इस निज ज्ञानकी जाति का है। अहा, ज्ञानका माहात्म्य बहुत ही उत्तम है। जिनेन्द्र प्रभुका ज्ञान जिन सब अर्थोंको जानता है वे सब अर्थ कैसे हैं? तीनों कालोंमें सदा अपने अपने समयके व्यतिरेकी पर्यायोसे परिणत हुए हैं, समस्त लोकमें उत्पन्न व स्थित हैं, ऐसे समस्त अर्थ ज्ञानको जैनज्ञान जानता है। यहाँ जैनज्ञानसे तात्पर्य अरहंत और सिद्ध प्रभुके केवलज्ञानसे है। ज्ञानावरण कर्मके अत्यन्त क्षयसे उत्पन्न हुए का ऐसा ही अपूर्व परम माहात्म्य है। यह क्षायिक ज्ञान एक साथ ही सर्व अर्थोंको आलम्ब करके प्रवर्तता है। यहाँ अर्थोंके आलंबनका तात्पर्य इतना ही है जो क्षायिक ज्ञान सद्भूत अर्थोंको जानता है असत्को नहीं जानता, वस्तुतः अर्थोंको नहीं जानता किन्तु सत् अर्थके ग्रहण रूप निज ज्ञेयाकारको जानता है। यहां ग्रहण उसी विषयका होता जो कि सत् है, था व होगा। यही अर्थोंका आलम्बन है। यह क्षायिक ज्ञान नित्य है। यद्यपि यह ज्ञान भी वस्तुभूत होने से प्रति समय वर्तन करता रहता है तथापि निरुपाधि, अत्यन्त शुद्ध होने से प्रत्येक वर्तनायें समान होती हैं अर्थात् सर्वज्ञ भगवान जो पहिले समयमें जानते हैं वही दूसरे समयमें जानते हैं, वही वही प्रति समयमें जानते हैं अतः समस्त वस्तुका ज्ञेयाकार प्रतिसमयमें है सो टंकोत्कीर्णवत् सकलज्ञानमें निखात (गढ़ गये की तरह) हो गये हैं, अतः नित्य है। केवल ज्ञान समस्त सत्को जानता है अतः स्वभावका पूर्णविकास यही है। ज्ञानका स्वभाव जानना है और जानना भी पूर्ण। इस की पूर्णता समस्त अर्थोंकी ज्ञेयाकारतामें है। यही स्वभावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है।

पूर्णसे पूर्णका उद्भव—यह शुद्ध ज्ञान समस्त ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट होता है सो यह केवलज्ञान क्षायिक भाव है। ज्ञानका स्वभाव वर्तन कितना है जितना समस्त सत्का परिच्छदेन है। इस परिपूर्ण ज्ञानस्वभावको प्रकट करने वाला क्षायिक भाव केवलज्ञान है। यह ज्ञान समस्त अर्थोंका ज्ञान करता है। ये अर्थ भी सब एकसे सरल सीधे नहीं हैं किन्तु तीनों काल विषम परिणमन करते रहने वाले हैं ऐसे सर्व विषम वस्तुवोंको और सम वस्तुवोंको जो

कि अनेक प्रकारके हैं सबको जानता है। यह जानना भी क्रमसे है क्योंकि क्रमसे जानते रहने में किसी भी समय सर्वका जानना होता ही नहीं है अथवा क्रमसे जानने वाला ज्ञान अपूर्ण है, यहाँ तो समस्त विघ्न निमित्तोंका अभाव है और वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिके मुख्य कारण स्वरूप समयसारकी अनन्य दृढ़ भावनासे पूर्व योग्यताका विकास हो गया है, फिर क्रमसे जानते रहनेकी अशक्ति कैसे संभव है ? यह केवलज्ञान तो समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भावरूपसे व्यवस्थित समस्त अर्थोंको एक साथ जाननेरूप आक्रमण करता है। अहा जिनेन्द्र प्रभुके ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। यह ज्ञान सर्वथा नहीं है इसमें कोई सन्देह नहीं है। केवलज्ञान और यह हमारा ज्ञान एक ही जातिका है। पुराण पुरुषोंकी तरह हम भी स्वभावका दृढ़ अवलम्बन लें, यही हमारा हित है। हे सर्वगतस्वभाव ! जयवंत प्रवर्तो।

आज ज्ञानाधिकारकी अन्तिम गाथा है। यह अन्तराधिकार है। प्रवचनसारमें ३ महाधिकार हैं—ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चरित्राधिकार। पहला जो ज्ञानाधिकार है जिसका दूसरा नाम ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन है उसके भी कई छोटे अन्तराधिकार हैं, उनमें छोटा ज्ञानाधिकार आज समाप्त होता है। तीन हिस्से वाला ज्ञानाधिकार समाप्त नहीं होता, परन्तु उस ज्ञानाधिकारका छोटा ज्ञानाधिकार आज समाप्त होता है। इस ज्ञानाधिकारके अन्तमें यह बतलाते हैं कि दुनियामें जो बन्ध होते हैं, जिन जीवोंके जो बन्ध होते हैं, वे बन्ध ज्ञानसे नहीं होते, किन्तु ज्ञेयार्थ परिणमन क्रियासे होते हैं। ज्ञेय पदार्थोंके अनुकूल जो अपना परिणमन है उस क्रियासे बन्ध होता है। 'अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूत बंधं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति।' अब ज्ञानी जीवके ज्ञप्ति क्रिया मौजूद होने पर भी उसकी क्रियाका फल बन्ध होता है, तो वह बंध ज्ञानी जीवकी ज्ञप्ति क्रियासे नहीं होता है, ऐसा कहते हुए इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

णविपरिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवित आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

ज्ञप्तिक्रियासे बन्धका अभाव—यह ज्ञानी आत्मा न तो पदार्थमें परिणमता है, न पर पदार्थको ग्रहण करता है और न परपदार्थमें उत्पन्न होता है, किन्तु वह उन परको जानता हुआ निश्चयसे उन पदार्थोंके निमित्तसे होने वाले ज्ञानकी तरंगरूप ज्ञेयाकारसे बन्धा हुआ वह ज्ञानी अबन्ध ही कहा गया है। पहले यह बताया गया था कि केवलज्ञानीका ज्ञान एक साथ तीन लोक तीन कालके सर्व पदार्थोंको जानता है। यह है ज्ञानकी ज्ञप्ति क्रियाका उत्कृष्ट आदर्श। जिस ज्ञानमें इतनी पूरी बात नहीं आती, एक वीतरागी ११ वें १२ वें गुणस्थान को छोड़कर यह कहा जा सकता कि वहाँ कोई न कोई राग अवश्य है। एक पदार्थको छोड़

कर दूसरे पदार्थको जाननेकी प्रवृत्ति रागकी प्रेरणाके कारण होती। परन्तु अर्हन्त देवमें इच्छाका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनमें ऐसी क्रमप्रवृत्ति नहीं होती जाननकी। वहाँ तो जो जाना सो जाना। वहां रागकी प्रेरणा नहीं होती। वे तो एक साथ समस्त पदार्थोंको जानने वाले ज्ञानके कारण सर्वज्ञ कहलाते हैं, ऐसी बात जानकर हमको करना क्या चाहिए? हमको यह करना चाहिए कि मूर्ख जीवोंके चमत्कार कर देनेके कारण जो मंत्र विद्या, ज्योतिष विद्या, जो जो कि खड ज्ञान हैं, ऐसे खंड ज्ञानोंसे जो कि परमात्माकी भावनाके नाश करनेके ही कारण हैं, जिन सबका उद्देश्य परपदार्थ ही रहता है, जो परपदार्थके लक्ष्यके कारण परमात्माकी भावनाका घात रहा उनसे विमुख हटकर एक निज सहज शुद्धसंवेदनमें भावना करें।

आत्महितभावनाका कर्तव्य—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि ज्योतिष विद्या, मंत्र विद्या आदि जिन्हें कि परमात्माकी भावनाको नष्ट करने वाले कहते हैं, तो क्या ये द्वादशांगमें नहीं आते? इसका उत्तर यह है कि द्वादशांगमें तो सब ही आते हैं, पाप भी मिथ्यात्व भी द्वादशांग में आते हैं और उक्त मध्यमविद्यायें भी, किन्तु सबके उपयोगका विवेक करना चाहिये कि मुमुक्षु को यह चाहिये कि वह इन खंडविद्याओं या खंडज्ञानोंको छोड़कर केवल शुद्ध स्वरूप वांछा रखे और यह विचारे कि रागद्वेष रहित केवल प्रतिभासकी स्थिति ही हित है, उसकी ओर ही उसका लक्ष्य होना चाहिए। ऐसे ज्ञानी जीव इन मूढ़ जीवोंके चमत्कार आदिमें अपने चित्त नहीं लाते हैं। उनके तो केवल एक निज शुद्ध आत्माकी भावनामें ही चित्त रहता है। यहाँ जो हमने समझा और लोगोंने समझा, उस बलसे तो निषेध कर रहे कि दुनियाके किसी भी अन्य काममें अपनी भावना नहीं करनी चाहिये और भावना यहाँ ही करनी चाहिए अर्थात् सहज शुद्ध आत्माके ज्ञानमें भावना करनी चाहिए, बस यही चीज निरन्तर रखो अर्थात् सहज शुद्ध आत्माके त्रैकालिक अखंड एकस्वरूप जो ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभावमें अपने आपको अभेद करके 'यही मैं हूं,' इस तरहसे कल्पना की, उस कल्पनाके द्वारा या उस कल्पना करनेके अनन्तर एक जो सहज शुद्ध आत्मामें रुचि स्थिति होती है, उस स्थितिकी भावना करनी चाहिए। वह अभेद ज्ञान कैसा है? सारे रागादि विकल्पजालोंसे रहित है। एक यह काम करनेसे यह अनुभव होता कि जो पहले जैनज्ञानका वर्णन किया, पूर्ण ज्ञानका वर्णन किया, केवलज्ञानका वर्णन किया, उसकी उत्पत्ति होती ही है। वह केवलज्ञान क्या? चाहे सर्वज्ञ कह दो, चाहे सर्वज्ञान कह दो, चाहे केवलज्ञान कह दो, जो कि एक साथ सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है, अखंड एक प्रतिभासरूप है, ऐसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारणभूत जो आत्माका शुद्ध निज अभेद ज्ञान है, उसकी भावना करो।

केवलज्ञानकी उत्पत्तिका साधन—भैया! जिस केवलज्ञानके विषयमें हमने अब तक

समझा, जिस केवलज्ञानका स्वरूप समझा, उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, तो वह केवल निज सहज शुद्ध त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव आत्माका अभेद ज्ञान है। भीतरसे 'यह मैं' एक यह आवाज निकलती। अहं अहंका सर्व जीवोंको प्रत्यय है। कितने ही जीव उस प्रत्ययको शरीरमें लगाते, कुछ बुद्धिपर ही। तो कहते हैं कि शरीर मेरा है, शरीर मैं हूँ, ऐसा नहीं, यदि ऐसा कर दिया तो भेदबुद्धि होगी। वहाँ तो मैं शरीर नहीं बन पाया। शरीरको देखा तो ऐसा प्रत्यय किया कि यह मेरा है, बाह्य पदार्थोंको देखा तो उनमें प्रत्यय किया। तो अपने आपमें जो कषायोंका कालुष्य पड़ रहा, उनका अनुभव किया, वहाँ मैं का प्रत्यय किया, कुछ हमने खंडज्ञानका अनुभव किया, उनमें भी प्रत्यय किया। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीरमें, कषायोंमें, खंडज्ञानमें अहंका प्रत्यय नहीं करके एक सामान्यतत्त्व जो अखंड त्रैकालिक है, उसमें मैं का अनुभव करता। विकल्प नहीं, उसका अनुभव करनेके बाद जब अभेदज्ञान हो जाता है, तो वह अभेदज्ञानकी स्थिति केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।

अभेदध्यानपर एक दृष्टान्त—किसी पदार्थको सोचते-सोचते एकाग्र चित्तसे सोचनेपर उस पदार्थमें अभेदपना आ जाता है। इस विषयमें कुछ लौकिक दृष्टान्त भी कुछ अंशों तक घटित होते हैं। जैसे कोई मनुष्य ऐसा ध्यान करता है कि मैं गरुड़ हूं, ऐसा अपनेमें गरुड़का अभेद करनेसे जैसे उसे अपना मनुष्यत्वका पता नहीं रहता, परन्तु गरुड़रूपसे अपना अनुभव होने लगता। एक देहाती, एक भूत व्यन्तरके चबूतरेपर चढ़कर अपने आपमें यह अभेद करता कि मैं भूत हूं, जब वह ऐसे अनुभवमें एकाग्रचित्त हो जाता कि मैं भूत हूं, और अपना मनुष्य का रूप भुला देता है, तो वह भूतोंकीसी चेष्टाएं ही करने लगता। समयसारमें बताया कि एक मनुष्य यह एकाग्र चित्त होकर सोचता कि मैं बड़े सींगों वाला ४ हाथ वाले सींगों वाला भैंसा हूं, और उसमें इतना एक चित्त होकर ध्यानमें लग गया कि वह अपना मनुष्यपना भूल गया और यह ही अनुभव हुआ कि मैं भैंसा हूं, इतना सोचते-सोचते उसका ध्यान दरवाजेकी ओर जो डेढ़ हाथ चौड़ा था, उसकी ओर गया। भैंसेका तो प्रत्यय हुआ ही और उसके साथ दरवाजेपर दृष्टि पड़ी कि डेढ़ हाथ दो हाथ चौड़ा दरवाजेमें मैं कैसे आऊँगा, वह घबरा गया कि मैं दरवाजेमें से कैसे निकलूँगा ? यह लौकिक उदाहरण है। यहाँ इससे ऐसा मतलब समझना है कि जो ऐसी सहज शुद्ध आत्मामें अहं अहं करके अभेदज्ञान करता है, उसको जिस कालमें ऐसी प्रवृत्ति मिलती है कि वह अनेक कर्मोंको नष्ट कर देता है। दृष्टान्तमें तो असत्में कल्पना हुई, यहाँ सत्में प्रत्यय हुआ, उस निज शुद्ध सामान्यतत्त्व, जिसे परमात्माका भाव भी कहते। ऐसे उस ज्ञानस्वभावमें अहंका अनुभव ऐसा प्रत्यय करते-करते उसमें अभेदज्ञानरूपसे अवस्थित रह जाता।

अभेदज्ञान और धर्म—अभेदज्ञानकी मोटी पहिचान क्या, कि निजके उपयोगके उस

परिणमनके द्वारा उसके उस कालमें दूसरा कोई ख्याल नहीं रहता, न उसे क्षेत्रका ध्यान रहता और न शरीरका ध्यान रहता और न सम्बन्धका भान रहता और न कोई मानसिक भान रहता। ऐसे उस अभेदज्ञानके अनुभवसे जितने कर्म खिरें, उन्हें अज्ञानी जीव करोड़ों जन्म तक तप करे तो भी नहीं खिर सकता। ऐसा वह महान अनुभव है कि अज्ञानी जीव करोड़ों वर्ष तक तप करनेके बाद भी वह अनुभव ग्रहण नहीं कर सकता, ज्ञानी उस अनुभवको कुछ ही समयमें ग्रहण कर लेता है। ऐसे इस सहज शुद्ध आत्माके अभेदज्ञानमें भावना करो तो उसके द्वारा भविष्यमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होगी और अनन्त सुख होगा और दुःखोंका नाश होगा। जहाँ जैसी अवस्थामें हम हैं, उसी अवस्थामें यह भावना होनी चाहिए। जितना यह किया उतना तो धर्म और जितना परलक्ष्य किया उतना अधर्म। धर्म जो है, वह चारित्र है और चारित्र है जो निज आत्मामें सहज स्वभावमें, सहज अवस्थामें है और निज आत्माका सहज स्वभाव रागद्वेष मोहसे रहित है, और वह ही धर्म है। उसीको कुन्दकुन्द भगवानने धर्म बतलाया और धर्ममय उसी सहजस्वभावी आत्मामें परम शान्ति होती है। धर्मसे शान्ति होती है, यह भी कहनेमें अवर्णवाद होती है। धर्म ही शान्ति है, धर्म ही स्वयं शांति है। धर्मभाव और शान्तिभाव अलग-अलग चीज नहीं हैं।

व्यवहार धर्म—यहाँ यह वर्णन चल रहा है कि निज सहज शुद्ध आत्माका जो अभेद ज्ञान है वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। यह आत्माकी निर्मलताका कारण है। यही निश्चय धर्म है, इसके अलावा और और क्रियाओं और और बातोंमें ऐसा ज्ञानी जीव जब शुभ राग भावका उदय कर लेता है तो यह चेष्टायें होती हैं इसलिये यह व्यवहार धर्म है। प्रश्न—व्यवहारसे धर्म ऐसा क्यों कहा? क्या व्यवहारधर्ममें कुछ सम्बन्ध नहीं है? तो पशुकी हिंसाको व्यवहारधर्म क्यों नहीं कह दिया? भगवानकी पूजा ही को व्यवहार धर्म क्यों कहा? यदि व्यवहारधर्म झूठा धर्म है तो वह तो कहीं भी हिंसा झूठ आदिमें भी तो चिपट सकता है। उत्तर—इनसे उसका कुछ औपचारिक सम्बन्ध है। वह कितना है और कितना नहीं है—यह भी वर्णन प्रारम्भसे ही चल रहा है। भगवानकी पूजा आदिमें व्यवहार धर्म नाम क्यों पड़ा? देखो जिसके शुरूसे हृदयमें धर्म है नहीं, वह पूजा कर रहा है, लोकपूजा करता है, फिर कुछ शुभ परिणाम होते रहे, कुछ बढ़ियासी बात हुई और कुछ शुभोपयोगका अवसर मिला और वह पूजा कर रहा है। अभी सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान उसमें नहीं। आत्मामें त्रैकालिक सामान्यतत्त्वमें अभेद रूप रहनेकी स्थिति वाला धर्म अभी उनमें नहीं आया था। खैर ऐसा करते हुए उसमें कोई ऐसा भी आ सकता है कि इनका लक्ष्य छूट कर सहज शुद्ध आत्माकी बुद्धिमें आ जाय, इसलिए इसे व्यवहारधर्म कहा है। निश्चयसे धर्मका स्वरूप नहीं बताते। परंतु कुछ लाभ हो रहा है। जो यह सहज शुद्ध आत्मा

के अभेद ज्ञानकी कल्पना चलने लगे, इसलिए वह व्यवहारधर्म है। अब यहाँके ज्ञाता स्वरूप दृष्टिसे यह देखते हैं कि धर्म तो केवल इतना है। दूसरे, ऐसे अभेदज्ञानीके जब राग आये तब राग आनेपर कबड्डी तो नहीं खेलने लगेगा। ज्ञानीको राग आवेगा तो ऐसी क्रियाओंको आश्रय-मात्र करके उठकर आया कि व्यवहारधर्मके परिणामोंको लेकर आयेगा, इसका सम्बंध बताने के लिए ही इसका नाम व्यवहारधर्म है।

धर्मके तीन पदोंमें लक्षण—यह क्रियारूप परिणाम स्वयं धर्मका स्वरूप नहीं है। धर्म तो सहज शुद्ध आत्माके अभेदज्ञान व उसकी स्थिरताको कहते हैं। इसलिए यह क्रिया-काण्ड धर्मका स्वरूप नहीं है, व्यवहारधर्म है। परन्तु यह व्यवहारधर्म ही वह धर्म है, ऐसी श्रद्धा भी रखता नहीं है। इसलिए यह धर्म सहज स्वभावका नाम है या जो उसका स्वरूप है, उसको धर्मका लौकिक स्वरूप कह सकते। इसलिए निश्चय और व्यवहार साथ भी चलते हैं। यदि निश्चयको छोड़ दो तो तत्त्व छूट जाय, और व्यवहारको छोड़ दो तो तीर्थ छूट जाय।

व्यवहारधर्मकी दो किस्म बतलाई। व्यवहारधर्मकी तीसरी किस्म भी लो। द्रव्यकी जो भी पर्यायकी तरंग होती है, वह तरंग व्यवहारधर्म है अर्थात् तीसरी बात वह है कि जो सामान्य तत्त्व है, वह तो निश्चय है, क्योंकि ध्रुव एक स्वरूप है, और जो विशेष तत्त्व परि-णामनरूप है, वह व्यवहार है। उक्त कथनमें अपने-अपने स्थानमें सब समर्थ हैं। इन तीन प्रकारके व्यवहार धर्मोंमें से सबसे नीचे नम्बरका व्यवहारधर्म यह है, जिसके विषयमें शंका हुई है। उससे ऊंचे दर्जेका व्यवहारधर्म रागके उदयसे सब पदार्थोंकी क्रिया जाननेका व्यवहार धर्म है, और ज्ञानीके जो आत्मामें है, वह वर्तमानकी जो तरंग है वह भी व्यवहारधर्म है, परन्तु वह सबसे ऊंचा कथनरूप व्यवहारधर्म है।

ज्ञानकी अबन्धकता—केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण वह सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान है। छद्मस्थ ज्ञानीके भी और ऐसे पूर्ण ज्ञानी केवलज्ञानीके भी ज्ञप्ति क्रिया मौजूद है, फिर भी उसके क्रियाके फलस्वरूप जो बन्ध है, उसका निषेध करते हैं कि ज्ञानीके ज्ञानसे क्रम का बन्ध नहीं होता। पहले कह दिया कि अज्ञानी ही ऐसे हैं जो कि उदयमें आएं, उनमें जो रागादि भाव करते हैं, वे तो बन्धका अनुभव करते हैं, परन्तु कर्मके उदयमें जो होता है, वह होता है, उनमें जो रागादि भाव नहीं करते, वे कर्मका बन्ध नहीं करते। सशरीर केवल-ज्ञानी जीवके कर्मका उदय भी होता है। समवशरण, विहार, दिव्यध्वनि, खड़े होना, बैठना सब कुछ कर्मके उदयसे होता है, परन्तु उनमें रागादि भाव नहीं होनेके कारण वे कर्मबन्धको नहीं करते। जाननेमें आये हुए पुद्गल कर्मके अंश हैं, ऐसा होनेपर भी जो आत्माका संचेतन करते हैं, तो वे ज्ञेयार्थपरिणमन क्रियासे युक्त मोहादि भावसे युक्त क्रिया होती है, तो उस क्रियासे फलभूत जो क्रिया है, उससे बन्धका अनुभव करते, ज्ञानक्रियासे अनुभव नहीं करते।

ज्ञानमें परके ग्रहण त्यागका अभाव—पहले प्रकरणमें एक गाथा आई, जिसका अर्थ है कि ज्ञानी और ज्ञान न परपदार्थको ग्रहण करता और न परपदार्थको छोड़ता, वह तो पर-पदार्थका मात्र ज्ञाता ही है। किसीने रुपयेका त्याग कर दिया तो वे रुपये उसमें लगे हुए ही कब थे ? उसमें उन रुपयोंमें मात्र विकल्प कर रखा था। अब उनमेंका विकल्प जो था, उसका त्याग कर देता, वह तो उसका था ही कब ? कोई आदमी कहे मैं कि मेरे रुपयोंको इसलिए त्यागता हूं कि इनका सदुपयोग हो। ऐसा कहने वाले आदमीने तो विकल्पका त्याग करनेके बजाय एक विकार अपनेमें और लगा लिया कि यह सदुपयोगमें जाना चाहिए, और पता क्या उस त्यागके स्तोत्रमें क्या-क्या विकल्प हुए हों ? उस विकारके कारण जो बात बनी, उससे लोग यह कहते हैं कि इनसे १० हजार रु०का त्याग किया। पदार्थ हममें है ही नहीं तो उसको छोड़ा क्या ? इस प्रकार अर्थोंमें परिणमन-क्रियां जिस ज्ञानीकी आत्मामें नहीं है, वह अर्थको न ग्रहण करता और न अर्थोंमें उत्पन्न होता। वहाँ तो एक केवल ज्ञप्ति क्रिया ही होती, और वह उस क्रियाका बन्धका अनुभव नहीं करता।

रागसे आन्तरिक उपद्रव—एक बारह वर्षके लिए अपनी स्त्री और बच्चेको छोड़कर परदेश गया। बारह वर्ष बाद स्त्रीने पत्र डाला कि जल्दी आओ। वह बोला कि मैं कोई खास काममें फंसा हुआ हूं, मौका मिलते ही आऊंगा। उसका पुत्र जब वह गया था तो बिल्कुल छोटा था। वह अब बड़ा हो गया, और स्त्रीने अपने पुत्रको कहा कि जा और अपने पिताको फलां जगहसे जाकर ले आ। रास्तेमें किसी धर्मशालामें वह पुत्र ठहरा, और उसी धर्मशालामें रात बितानेके लिए पिता भी उस लड़केके बराबर वाले कमरेमें ही ठहरा। आधी रातको लड़केके पेटमें बड़े जोरका दर्द उठा। सर्दीकी रात थी। उस पेटके दर्दसे वह लड़का चिल्ला-चिल्लाकर रोया। बापके पास पेटके दर्दकी अचूक दवा भी थी, परन्तु उसने सोचा कि यह आधी रातको हमको कौन तंग करता है, वह चौकीदारके पास गया और उससे बोला कि हमने तुमको दस रुपये इनामके इस बातके दिये हैं कि हमें रातको आराम मिले, परंतु न जाने यह कौन लड़का है, जो हमको तंग करता है, इसे यहाँसे निकालो। यदि नहीं निकालते हो तो मैं तुम्हारे मंत्री जीसे शिकायत कर दूंगा कि इसने मेरेसे १०) रु० रिश्वतके लिए हैं। इतने ही में उस लड़केके पेटमें दर्द बढ़ गया और वह मर गया। सुबह उठकर बाप अपने घरके लिए रवाना हुआ। घर पहुंचकर उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि लड़का कहाँ है तो स्त्रीने कहा कि वह तो तुम्हें ढूंढ़नेके लिए गया है। बाप फिर लड़केको ढूंढ़ने गया। वह उसी धर्मशालामें पहुंचा और चौकीदारसे पूछा कि यहाँ इस नामका कोई लड़का कभी ठहरा था क्या ? रजिस्टर देखा गया और बताया गया कि जिस दिन आप ठहरे थे, उसी दिन उसके बराबर वाले कमरेमें ही इस नामका लड़का ठहरा हुआ था जो उस दिन पेटमें दर्द होनेके कारण मर गया। ज्यों ही बापने

यह सुना तो वह बेहोश हो गया। देखो वह लड़का मरा तो उसके सामने हो था, उसने उसे निकालनेके लिए भी उस समय कहा था, परन्तु उस समय तो वह बेहोश नहीं हुआ, परन्तु अब बेहोश हो गया। कारण यह था कि उस वक्त उसे यह पता नहीं था कि यह मेरा ही लड़का है, और उसके आत्मामें तद्विषयक मोहका भाव नहीं था, परन्तु अब जब पता लगा कि वह जो मरा था, वह तो मेरी आँखोंके सामने ही मेरा ही लड़का मरा था, इसलिए अब मोह पैदा होनेके कारण वह बेहोश हो गया, इसे कहते हैं कि ज्ञेयार्थपरिणमन कर लिया। उस समय क्यों नहीं बेहोश हो गया, क्योंकि वहाँपर प्रेम नहीं दौड़ रहा था, क्योंकि उसे राग नहीं था, उसे पता नहीं था, और जिस समय यह मालूम हुआ कि उसका ही लड़का था, वहाँ बेहोश हो गया। हम ही अपने अन्तरमें ऐसा विकल्प उठाते कि मेरा है, जब ही बन्ध होता है। जब मरनेका ज्ञान था तब तो राग नहीं था, और उस समय राग न होनेके कारण दुःख नहीं था, परन्तु अब मरनेका दृश्य सामने नहीं है, फिर भी उसकी दुःख हो रहा है, क्योंकि वहाँ राग है। इसलिए उपदेश यह दिया जाता है कि भाई राग मत करो।

ज्ञानमूर्तिकी ज्ञानवर्तना—जिसने कर्मको नष्ट कर दिया, मोहको नष्ट कर दिया, घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया, वह एक साथ सारे विश्वको जानते हुए, वर्तमान और भविष्य और भूतको जानता है, सर्व कुछ एक साथ जानता होता, मोहके अभावमें जिस समय यह आत्मा इस प्रकारका जानने वाला हुआ है वह परपदार्थरूप परिणमन नहीं करता। इस इसलिए वह तीन लोकको जानता होता। वह ज्ञानमूर्ति कैसी है? वह तीन लोक जिसका कि बड़ा विस्तार है और जिस विस्तारके कारण ज्ञप्तिक्रियामें भी ऐसा विस्तार आया है कि सारे ३ लोकके आकारोंको जिसने पी लिया है, निश्चयसे यह आत्मा अपने ही प्रदेशमें रहकर जो असंख्यात प्रदेशोंमें जो ज्ञान है उसकी क्रियाको जानता है। तीन लोकके तीन कालके सारे द्रव्य गुण पर्याय जिसने पी लिये हैं, ऐसा वह ज्ञान तीन लोकको, पृथक् पृथक् देखता हुआ वह भी ज्ञानमूर्ति परपदार्थरूप नहीं परिणमता।

ज्ञानमूर्तिका जयवाद—इस प्रकार आज ज्ञानका, अथवा केवलज्ञानका वर्णन समाप्त हुआ। कलसे आनन्दका प्रकरण प्रारम्भ होगा। यह स्वाभाविक ज्ञानका वर्णन है, इससे हमें यह उपदेश मिलता है कि हे आत्मन्! तू स्वभावसे ऐसी परिस्थिति वाला है। देखो इस स्वाभाविक ज्ञानमें न तो अपूर्णताका नाम है, न आकुलताका रंच काम है, परम आनंदका सहज धाम है, इसकी प्राप्तिका पहिला यत्न मनकी थाम है, इसकी लीनताके लिये ही योगियोंके लिये ही योगियोंके आठों याम हैं, यही अभिरामोंमें अभिराम हैं, यहाँ ही सत्य विश्राम, है यहाँ ही वास्तविक आराम है। अस्वाभाविक अपूर्ण ज्ञानपर इतराना मूढोंका ही

काम है। हे सुखार्थिन्! अब सर्व विकल्प विसार कर एक सर्वज्ञानपर्यायोंके स्रोतरूप ध्रुव निज स्वभावकी ओर ही रहो, यही सर्वकल्याणका पिता है। निज स्वभावदृष्टिसे निजस्वभाव को कारणरूपसे उपादान करके स्वयं प्रवेश करने वाले निर्मल पर्यायोंके प्रवाह चल पड़ेंगे, जो पूर्ण सुखोंकरि व्याप्त हैं। हे ज्ञानमूर्ति! जयवंत होओ।

॥ प्रवचनसार प्रचवन द्वितीय भाग समाप्त ॥

—०—

परमात्म–आरती

ॐ जय जय अविकारी।

जय जय अविकारी ॐ जय जय अविकारी।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ ॐ ॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥१॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव संतति टारी।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपत भारी ॥२॥ ॐ

परसम्बंध बंध दुःख कारण, करत अहित भारी।
परम ब्रह्मका दर्शन, चहुं गति दुःखहारी ॥३॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भंडारी ॥४॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शान्तिधारी।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥५॥ ॐ